Samaj Foundation Chenna

R
079
945

ain, Gurukul Kangri Col

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिप्रेक्ष

जैनेन्द्र कुमार

R
०८१
१५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R
0-21/945

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

120415

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
0-21/125

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

120415

वर्ग संख्या..... आगत संख्या.....

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिप्रेक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R081/156
120415

परिप्रेक्ष

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
120415

जैनेन्द्र कुमार

पूर्वोदय प्रकाशन
7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना
इसके किसी भी अंश को फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रानिक
अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण
एवं पुनर्प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में,
पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं
किया जा सकता।

०८९
१५६

□ मूल्य : 200.00 □ प्रथम संस्करण : 2001 □ © प्रदीप कुमार □ पूर्वोदय प्रकाशन,
7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002 □ मुद्रक : त्रिवेणी ऑफसैट, दिल्ली-32

PARIPREKSH (Collection of Essays) *By* Jainendra Kumar
ISBN No. 81-7037-204

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् 30 से 64 तक फैले इन 34 वर्षों में लिखे 44 लेखों का यह संग्रह प्रस्तुत है। 'कुछ कैफियत' जैनेन्द्रजी का सन् 64 का लिखा लेख है। उपयुक्त समझकर वहीं पुस्तक के आमुख के रूप में दिया जा रहा है।

—प्रकाशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी कैफियत

मुझे ठीक पता नहीं। लगता यह है कि मैं भगवान् के दर्शन पाना चाहता हूँ। मानता एक उन्हीं को हूँ, पंर साक्षात् में उन्हीं के दर्शन नहीं हो पाते। देखने को सामने सब चीजें हो आती हैं। किन्तु उस समय और संसार की लीला में से बस भगवान् ही नहीं दीखता है। भीतर मेरे ज़िद है कि एक वही है। लेकिन है के रूप में जितना जो कुछ दीखता है वह सब अपने-अपने में प्रमुख बन आता है। उसके नानात्व में वह एक खो जाता है कि जिसके नाते ही सब है।

ऐसे परेशानी में दिन बीत रहे हैं। जीना अकारथ हुआ जा रहा है। कारण, उसका एक ही सारार्थ है और वह यह कि स्वयं में न रह जाया जाये, कुल में मिल जाया जाये।

शायद यही है कि जिसके लिए जीना मैं सार्थक मान सकता हूँ। मेरा लिखना अंत में इसी प्रयोजन से जा मिलता होगा। अन्यथा अपने-आप में उसका दूसरा प्रयोजन मुझे नहीं मालूम होता है।

यथार्थ से रूप में दूर-पास जो घटित हो रहा है वह मन पर आकर लगता है। उससे इन्कार नहीं हो सकता। पर स्वीकार कर उतने ही में बंद रहना भी सम्भव नहीं हो पाता। अर्थात् होने के रूप में जीने से ही बस नहीं है, उस जीने को जीने की भी जरूरत रह जाती है। होने और जीने में शायद यही फर्क है। होना उतना ही रहता है, जीने में अनिवार्य बढ़ना फैलना समाया है। जीने में कल्पना शामिल है जो आगे जाती है। स्मृति भी गर्भित है जो पीछे जाती है। इस तरह जीने में प्रयत्न भी करना होता है। चेतना का यही पुरुषार्थ है। समय उस चेतना में समा जाता है। इस क्षण रहते हुए अतीत और अनागत को भी वर्तमान में ले आने की शक्यता जब चेतना में होती है तब मानो उसको जीना कहा जाता है। चिन्मय जीवन समय के अधीन नहीं होता। अधिक-से-अधिक समय का संगी वह होता है, अथवा तो मुक्त एवं विभु होता है।

काल सबको समाता खाता चला जा रहा है। फिर भी परम्परा आज जीवित है। इस प्रकार सुदूर अतीत वर्तमान से मिल जाता है। साहित्य द्वारा उसी प्रकार सुदूर भविष्य को भी कल्पना के जोर से खींचकर हम आज में बाँध लेते हैं। इस पद्धति से बीतते और बिताते हुए काल को मानो स्थिरीभूत करने की क्षमता हममें आ जाती है। हम सोचते हैं और इस सोचने के जरिये मानो अपने ही बीतते हुए जीवन से अलग होकर मात्र साक्षी बन जाते हैं। तब काल हमारे सामने से बहता हुआ चला जाता है, हम पर उसका बस नहीं चलता। जीने वाला प्राणी अपनी आयु की समाप्ति पर समाप्त हो जाता हो, पर उस द्वारा सोचा हुआ विचार और देखा गया दर्शन ज्यों-का-त्यों कायम बना रह जाता है। वह मानो समय को चुनौती देता हुआ अमर बनता है।

तो यही चक्कर है, नित्य और अनित्य का चक्कर। हमारे जीवन में अवश्य ही कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्य है। किन्तु जिसमें उस नित्यता के बीज को सुरक्षित बनाकर रखा गया है वह अनित्य और क्षरणशील है। उसीको लेकर शायद यह संसार है जो मूर्त और प्रत्यक्ष है। इसमें वह जो नित्य है, अमूर्त और परोक्ष बना रहता है। उसे कैसे पाया-देखा जाये, यह साधना और समस्या का ही विषय बन रहता है।

मैं जब तक हूँ मेरे लिए इतर भी है। अर्थात् 'मैं' द्वैत में ही हो सकता है। दूसरा उपाय नहीं है। होना मात्र खण्डित है। कुछ शेष से अलग किया जा सकता है, इसी अर्थ में वह हो सकता है। यह अलगपन अन्त में माना हुआ ही तो है। इस तरह सब होना असत् हो जाता है, भव बाधा बन जाता है। मानो काल यही सिद्ध करता है। जिसको देखते हैं कि है, देखते-देखते वही अगले क्षण हमारे लिए अनहुआ हो जाता है। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश है। फिर वह क्या है जिसमें यह सब उत्पत्ति-विनाश की लीला चलती रहती है, इसलिए जिसकी अपना आदि है, न अंत है, न जिसकी उत्पत्ति है, न विनाश है?

वह केवल और अखण्ड सत्य पाया कैसे जाये? जाना कैसे जाये?

इसलिए लगता है कि जानने में केवल अज्ञान आता है और पाने में केवल नाशवान्। इसलिए जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है, अनिश्चतता और व्यर्थता ही उसका सार रह जाता है; और दुःख, विरह, वियोग व्यथा ही एक उपलब्धि बन आती है।

मैं देख रहा हूँ कि मेरा 'मैं' ही सबसे बड़ी बाधा है। उसी शर्त पर मुझे जीना होता है। पर वही सबसे बड़ी व्यर्थता है। इस तरह अपने प्रति ही लौटकर आने वाला जीवन भार सरीखा हो जाता है। मैं अपने को पाऊँ, करने वालों ने यह कोशिश बेहद की है। हाथ उनके क्या आया है, मालूम नहीं हो सका है। 'मैं' का बिन्दु इस अखण्ड सत्ता के सागर में से मानो पृथक् छिटकी हुई बूँद के मानिन्द है। उसमें सत्यता है ही नहीं। इसलिए मैं को पाने की कोशिश अंत में कहीं नहीं जायेगी, पछाड़ खाकर अपने पर ही लौटकर सिसकती रह जायेगी। यही 'मैं' की सबसे बड़ी अकृतार्थता है कि वह अपने को माने रहता है और अपने से छूट नहीं पाता।

सच पूछिए तो यह विवशता 'मैं' के लिए अनिवार्य नहीं है। बल्कि अनिवार्य उससे उलटी अवस्था है, अर्थात् मुक्ति की अवस्था। यहाँ जगत् में कोई या कुछ भी नहीं है जो सम्बद्धता से रहित हो। आकर्षण और परस्पराकर्षण पर समस्त सृष्टि टिकी है। कोई उस भाव और प्रभाव से वंचित नहीं है। अर्थात् प्रत्येक के चहुँ ओर मुक्ति का आह्वान खुला फैला है। बन्धन में जनमा हो, लेकिन हर कोई मुक्ति में जी सकता है। उसके 'मैं' को सब ओर से निमन्त्रण है। निमन्त्रण को उसे सुनना और स्वीकार भर है। उस आह्वान पर विसर्जित और समर्पित होता रहे तो फिर होना कहाँ उसके लिए बन्धन रह जाता है? तब होना प्रश्न नहीं रहता, मानो उत्तर और समाधान बनता चला जाता है। अहम् अगर उत्तरोत्तर अखिल के आकर्षण में अपने को छोड़ता चला जाये तो क्या वह स्वयं में अंश से पूर्ण नहीं बनता चला जाता? और इस तरह व्यर्थता मानो सार्थक हो जाती है और व्यथा ही आनंद बन जाता है। कौन है जिसने आकर्षण अनुभव नहीं किया है? किन्तु समझदारी हमें और तरह समझाने लगती है। आकर्षण में वह संशय पैदा करती है और इसलिए प्रतिरोध में पुरुषार्थ का भाव पड़ जाता है। मैं 'मैं' हूँ और रहूँगा, मानो यह हठ समझदारी हममें पैदा कर देती है। ज्ञानवान् और विद्वान् बनने के नाते हम समष्टि से अपने को तोड़ लेते हैं, शायद इसलिए कि अपने को अपने से भली-भाँति जोड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकें। इससे जोड़-तोड़ का जीवन शुरू हो जाता है और नाना विधि-निषेधों से हम आकीर्णा बन जाते हैं।

व्यक्ति और वस्तु के बीच, उसी तरह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, परस्पर की आवश्यकता का तन्तु पुरा हुआ है। उसमें से सहयोग और सहजीवन फलित होता है। यह तन्तु साधारणातया झीना होता है। हम उसकी सहसा उपेक्षा भी कर जा सकते हैं। लेकिन व्यक्ति परस्पर विषमलिंगी हों तो एक-दूसरे की आवश्यकता का सूत्र उतना निर्बल या निर्भर नहीं रह जाता है। नर-नारी के बीच पारस्परिक आकर्षण एवं आवश्यकता का सूत्र अमोघ जैसा लग आता है। इसको 'काम' कहा जाता है। यह काम सृष्टि में सर्वव्याप्त है। पदार्थ क्षेत्र में इसको हम दूसरा नाम दे देते हैं, जीवन्त अथवा चेतन क्षेत्रमें ही उसे काम की संज्ञा देते हैं। पदार्थ के क्षेत्र में इस आकर्षण-विकर्षण के तत्त्व को ज्यों-का-त्यों हम स्वीकार करते हैं और उसके अनुसंधान-अध्ययन में से नाना विज्ञानों का आविष्कार करते हैं। आज का वैज्ञानिक चमत्कार उसी की देन है। लेकिन चैतन्य जगत् में 'काम' का नाम देकर मानो उस महत्त्व के स्वीकार अंगीकार से हम बचते और उसकी रोक-थाम में लग जाते हैं। हमारे धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि प्रयत्न इस तरह अनिवार्य और अमोघ के टक्कर में आ जाते हैं और जीवन की क्षति और क्षय का कारण बनते हैं।

मेरी प्रतीति है कि जो भागवत् शक्ति संसार को धारण कर रही है, इस धारणा में जो उसे निरंतर उत्कर्ष और विकास की ओर बढ़ाती जा रही है, वह यही परस्पराकर्षण और परस्पर-आलबंन की शक्ति ही है। उसीको प्रेम कहते हैं। काम उसमें अंतभूर्त है। इस भागवत-शक्ति के प्रति वर्जन इत्यादि का सम्बन्ध अलंकृत ही हो सकता है और बूँद सागर को इंकार करने लग जायें तो जो फल होगा वही फल उस अहंकार जन्य वर्जनशीलता का होता है।

उपदेश दिया जाता है कि न चाहो। पर चाहा बिना जिया कैसे जा सकता है? इस तरह चाह को मारने में हम चले जाते हैं। पूरे होने की तरफ तनिक भी नहीं बढ़ पाते। चाह के साथ तो हम जनमे ही हैं और वह चाह साथ इसलिए है कि हमें अपनेपन से बाहर लाये, शेष की ओर बढ़ाये और साथ संयुक्त करे। उस चाह के निरोध में से जीवन के विस्तार और विकास की प्रक्रिया वहीं कुंठित हो जाती है। सहयोग और सहजीवन से जो क्षेत्र पुष्पित फलित होने के लिए है वह अलग-अलग खड़े हुए अहंकारों के ठूँठों से वीरान और भयानक हो जाता है। ये अहंकार वैयक्तिक से आगे बढ़कर जब सामुदायिक बन जाते हैं तब तो त्राहि-त्राहि ही मच उठती है।

व्यवस्थापक मानस कहेगा कि क्या चाहों को खुला छोड़ दिया जाय? मर्यादाओं को नष्ट कर दिया जाय। संयम की अर्गला को उठा लिया जायँ? नीति-नियमन का अंकुश कहीं रहने ही न दिया जाय? ऐसे ही क्या मानव-जीवन परिपूर्णता की ओर उठेगा? वह कहेगा कि नहीं, ऐसे मानव पशुता में गिरेगा। ऐसे दिव्यता वहाँ क्या आयेगी, घृण्यता आ रहेगी। आप जिस शक्ति को मुक्त करना चाहते हो उसमें से तो केवल प्रकृत और आदिम और असंस्कृत ही खुल-खेलने को रह जायेगा, संस्कारिता का नाश हो जायेगा। इसलिए इच्छा के निरोध को तप मानना होगा और उस तप के तेज से ही जीवन प्रकृष्ट बनेगा। इच्छामात्र के प्रति संशय से देखना होगा और निरभिलाषी निष्काम बनकर चलना होगा।

उन समाजहितैषी व्यवस्थापक की बात गलत नहीं है। लेकिन जो सारे जगत्-जीवन पर भगवान् की बात लिखी हुई दिखाई देती है, क्या उनकी बात उससे भी अधिक सही है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति-नियमों से, मर्यादा-रेखाओं से, निषेधों से, अंकुश से और दंड से हम निरुद्ध किसका क्या करना चाहते हैं? जिसको रोकना चाहते हैं वह असत् बनने में ही कैसे आया? कहीं ऐसा तो नहीं कि असत् के नाम पर सत् को रोकने की चेष्टा में से ही उस असत् भाव की सृष्टि हो आ रही हो? हमारे रोक-थाम के साग्रह प्रयत्नों के कारण ही अनिष्ट न उपज रहा हो?

भगवान् की सृष्टि अगम है। ऐसा नहीं कि वहाँ विष अनुपस्थित है। लेकिन विष के साथ अमृत भी मिल जाता है। कुछ मिलाकर हम उस पर विश्वास रखें। अर्थात् इच्छा मात्र में भोग है, तो साथ ही यज्ञ और योग भी है। इसलिए जब इच्छा को मूल से रोका जाता है तो योग और यज्ञ की संभावनाएँ भी समाज में से सूखने लग जाती हैं। तब है सो समाप्त तो नहीं होता, लेकिन संस्कार बनने की जगह घुटकर वह विकार अवश्य बन सकता है। विकास की प्रक्रिया में मनुष्य के बनते ही असंभव हो गया कि वह लौटकर पशु बन सके। उसमें अंतरंग विवेक पैदा हो गया। उस विवेक के यंत्र से विच्छिन कोई व्यक्ति हो सकता नहीं है। प्रत्येक इच्छा को उस यंत्र में से छनकर आना होता है। किन्तु जब हम मनुष्य की प्रकृति का ही अविश्वास करते हैं, तो मानो उसमें अंतर्भूत देवत्व का भी अविश्वास कर जाते हैं। परिणाम होता है कि इच्छा रूँध और तप कर वासना बन जाती है और उसमें से गूढ़ यज्ञ-तत्त्व का वहाँ ह्रास और लोप होने लगता है। तब भावना की प्रफुल्लता नष्ट हो जाती है और वहाँ वासना की वीभत्सता बसने लग जाती है। जो यज्ञ रूप हो सकता था वह निरा भोग रूप पकड़ लेता है और जिसमें दिव्य फलित हो सकता था वहाँ ही दैत्य दीखने लग जाता है।

हमारे प्रयासों में नम्रता और स्वीकारता जब नहीं रहती, हठता और नियंत्रकता आ जाती है, तो मानो भगवत-चेतना के विरोध में हमारी अहम् चेतना खड़ी हो जाती है। प्रकृत तब अहंकृत और विकृत हो जाता है। और जीवन को संस्कृत बनाने की संभावना से हीन हो जाता है।

मैंने जो लिखा है उसमें इसीलिए यथार्थ की ऊपरी यथार्थता के साथ न्याय नहीं हो पाया है। अर्थात् उसके प्रति मैं अपनी ओर से नतमस्तक नहीं हो सका हूँ। मैं नहीं मान पाता कि कोई केवल दुष्ट है, या केवल साधु है। सब स्वयं हैं और समाज-व्यवस्था के नाते अथवा ऊपरी भेष के हिसाब से जो हमने खाने बना दिये हैं उसमें कोई भी बंद या खत्म हो रहने के लिए नहीं है। हम अपनी समझ पर ही डाट लगाते हैं जब किसी को लेबिल देकर अपने से दूर हटा देते हैं। प्रत्येक चरित अपने में चुनौती है और किसी-न-किसी रूप में सत्य के अमुक पहलू का उद्घाटन भी है। यदि कुछ अनिष्ट उसमें दीखता है तो शायद इसी कारण कि इष्ट को वहाँ कदाचित् युक्त अवसर नहीं मिल पाया है। अन्यथा मेरा आग्रह है कि भागवत् सत्य प्रत्येक के चरित्र में से हठात् अपनी पूर्ति और अभिव्यक्ति खोज रहा है। यदि हममें से हरेक भटकता दीखता है तो इसीका कारण कि उसमें 'मैं' का दम है और समष्टि के विधान में उसका योग नहीं सध पाया है। योग की चेष्टा अनिवार्य है और हममें से कोई इससे मुक्त नहीं है। यदि इस चेष्टा के स्रोत की तरफ हमारी निगाह हो तो मुझे प्रतीत होता है कि लेखन में आलोचना और निंदा का तत्त्व कम होगा, संवेदन तीव्र हो सकेगा और परिणाम स्थायी और अंततः श्रेयस्कर होगा।

अप्रैल, 64

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

राष्ट्रीयता / 13
21 / राम की युद्ध-नीति
केन्द्र और क्रांति / 25
30 / समाज दर्शन
नेतृत्व, समय और प्रलय / 34
39 / साहित्य, धर्म और साम्प्रदायिकता
राष्ट्रभाषा का प्रश्न और भावनात्मक एकता / 43
50 / राष्ट्रभाषा कैसे बने
भारतीय साहित्य / 54
59 / युग समस्याएँ व साहित्यिक
साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व / 65
68 / हिन्दी और राष्ट्र
साहित्य में नैतिकता / 74
78 / सत्य-मूल्य की प्रतिष्ठा
हिन्दी साहित्य सम्मेलन में / 84
88 / मैं कौन ?
भाग्य और पुरुषार्थ / 91
94 / नैतिक राजनीति
सच्ची सलाह / 97
100 / प्रान्त निर्माण
राज्य-सत्ता और नीति-सत्ता / 104
111 / निर्माण और सृष्टि
जन-कल्याण / 116
119 / राजा और प्रजा
चीनी आक्रमण और हम / 122
128 / स्वतन्त्रता और एकता
भारतीय राजनीति किधर / 131
137 / भारतीयता को खतरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत का मौलिक मार्ग / 141
144 / स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता-1
स्वत्व, सम्पत्ति और सत्ता-2 / 148
152 / विसर्जन की शक्ति /
अहिंसा का पुनरुज्जीवन / 156
160 / अहिंसा और सामाजिक समस्या
खादी और उसके फलितार्थ / 162
165 / अपरिग्रह और स्वत्व-विसर्जन
राजनीति का प्रश्न, राष्ट्र निर्माण की समस्या / 167
171 / शान्ति का निर्माण और भारत
एक वक्तव्य / 175
178 / सुनी बानी
कांग्रेस, तब, अब और आगे / 180
186 / संस्कृति का प्रश्न
भारत के सन्देशाधिकारी नेहरू / 190
195 / गांधी, नेहरू और हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीयता

कई वर्ष की बात है कि एक पुस्तक देखी थी, 'राष्ट्र धर्म'। प्रचार के साथ विचार के लिए भी वह लिखी गई मालूम होती थी। कुल मिलाकर उसमें राष्ट्र को अपने इष्टदेव की तरह मानने की सीख थी और सब धर्मों का धर्म बताया था—राष्ट्रीयता।

उसके बाद एक विवाह देखा। वहाँ वेदी की जगह भारत का नक्शा बना था। वेद-मंत्रों की जगह राष्ट्रगीत ने ली थी। अग्नि देवता के बजाय भारतमाता की साक्षी पवित्र समझी गई थी। और दूसरे कुछ इस तरह के सुधार थे। उस विवाह को बताया गया था—राष्ट्रीय।

और अभी थोड़े दिन पहले बालिकाओं की एक शिक्षण-संस्था देखी। वह संस्था सिर्फ गिनती बढ़ाने वाली नहीं थी। उसका ध्येय था और वहाँ जिन्दगी नजर आती थी। उसकी ओर से उनकी शिक्षा के आदर्श की व्याख्या में एक पुस्तिका भी निकली है। उसमें लिखा कि उनके दो बुनियादी सिद्धान्त हैं, उनमें एक है—राष्ट्रीयता।

यों तो अपनी कांग्रेस राष्ट्रीय है। नाम ही है 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस'। पर कांग्रेस के साथ के राष्ट्रीय शब्द से मन में कुछ सवाल नहीं उठता। मानो वह शब्द सही है और अपनी जगह है। पर ऊपर के उदाहरणों में काम में आने वाली राष्ट्रीयता पर मन में सवाल उठता है। जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता पूजी जाती है; विवाह में मध्यस्थ होती है, कन्या-शिक्षा में बुनियादी सिद्धान्त का काम देती है, उस राष्ट्रीयता पर मन कुछ ठहरता है।

फिर सामने विलायतों में लड़ाई चली है। लड़ने लायक जोश वहाँ जिस बिना पर पैदा होता और किया जाता है, उसको भी शायद राष्ट्रीयता कह सकते हैं। जर्मन लोग जर्मनी के नाम पर और इंग्लैंड के लोग इंगलिस्तान के नाम पर, अपनी रक्षा के डर में या अपनी बढ़ती की आकांक्षा में, एक- दूसरे की जान के प्यासे दीख रहे हैं। उनका ज़ाहिरा धर्म क्या है ?—राष्ट्रीयता।

इससे राष्ट्रीयता शब्द पर कुछ अटकना बेजा नहीं है। चाहिए कि देखें उस शब्द की उपादेयता पर कुछ हदें हैं या नहीं। हदें हैं, तो वह क्या हैं ? या कि वह शब्द ऐसा आखिरी है कि उसके आगे ख्याल को जाना ही नहीं चाहिए ?

हाल की ही तो बात है कि अपने हिन्दुस्तान में कांग्रेस और गांधी दो अलग रास्ते जाते दिखलाई दिये। अब वैसा नहीं है। सन् 19 से शायद कभी वह बात नहीं थी। पर कुछ देर के लिए वह अन्तर राह चलने के लिए भी साफ हो गया। हिन्दुस्तान के मामूली आदमी के लिए तो यह बात ऐसी अनहोनी हुई कि वह उस पर भौंचक्क रह गया और ठीक तरह कुछ समझ नहीं सका। लेकिन सूझने के लिए बात साफ हो गई। कारण, कांग्रेस सिर से पाँव तक राष्ट्रीय थी। गांधी पर वह पाबन्दी नहीं थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधी, इधर बीस वर्ष से अधिक से, हिन्दुस्तान की समूची राष्ट्रनीति को गति और दिशा दे रहे है। अर्थात् राष्ट्र उनके कारण कुछ सच्चे ही अर्थों में राष्ट्रीय हुआ है। फिर भी गांधी हर अवसर पर कह देते हैं कि राष्ट्रीय कहाँ, मैं तो धार्मिक हूँ। धर्म की निगाह से जब बातों को देखता और उन पर फैसला करता हूँ।

इसलिए खुद राष्ट्र को और उसकी राजनीति को चलाने और अपने निजी और समाजी जीवन को सुधारने की दृष्टि से हमें मुड़कर राष्ट्रीयता का लेखा ले लेने की जरूरत है। देखना चाहिए कि कितनी उससे हमें मदद मिलती है और कहाँ पर रोक-थाम चाहिए; हमें कहाँ पहुँचना है और राष्ट्रीयता बे-लगाम हमको कहाँ ले जा सकती है; यानी आदमी राष्ट्रीयता को ले तो किन मर्यादाओं के साथ, ये सारी बातें सोचने की हैं।

कहा जाता है कि मानवता एक है। आदि दिन से यह कहा जाता है। विरोध इसका नहीं सुना गया। सब मनुष्य भाई-भाई है और मानव-जाति एक परिवार है—सब जातियों के साहित्य और धर्म में यह पुकार मिल जायेगी।

इसलिए वह बात झूठ तो नहीं है। पर सचमुच क्या हमारे काम देखते हुए भी वह सच है?

धरती पर निगाह डालते हैं, तो वह कटी-बँटी है। राष्ट्र बँटे हैं, प्रान्त बँटे हैं। फिर अनेक जातियाँ, अनेक वर्ण, अनेक धर्म-सम्प्रदाय और गिरोह हैं। उनमें आपस में अनबन है और खून-खराबी होती है। अर्थात् धरती के व्यवहार में मनुष्य जाति एक नहीं है।

फिर भी मानवता तो एक है। और स्पष्ट है कि वह बाहर से नहीं तो भीतर में, यानी ईश्वर (आदर्श) में, एक है।

और धरती ही सच नहीं, बल्कि आसमान भी सच है। शायद आसमान ज्यादा सच है। क्योंकि आदमी का बिगाड़ वहाँ नहीं है और ईश्वर की अछूती कुदरत वहाँ है।

इसलिए धरती पर की स्वार्थ की अनेकता से परमार्थ की एकता ज्यादा सच है। क्योंकि वही सच्चा सच है।

इसलिए एकदम उस सच्ची सचाई से अपना काम कहाँ चलता है? वह काम धरती का जो है। तो भी यह निश्चित है और निश्चित रहे कि मानवता का कुछ लक्ष्य है तो वह उस पारमार्थिक एकता को पाना है। उससे हटकर कोई गति प्रगति नहीं और कोई कर्म इष्ट नहीं है।

आदर्श व्यवहार से भिन्न है। इसीलिए व्यवहार के बारे में उलझन और पेंच हो, तब आदर्श की याद कर लेना इष्ट है, क्योंकि माप वही है। व्यवहार को परखने की कसौटी खुद व्यवहार ही कैसे हो सकता है? और आदर्श से यदि हमें कुछ काम है तो वह यही काम है कि व्यवहार में दिशा-भूल होने पर आदर्श हमें राह बताये।

मानव जाति का इतिहास वहाँ से चलता है, जहां हर एक अकेला और हर एक अपने में कुल भी था। समाज नहीं था, व्यक्ति ही था। अपनी खुदी उसके लिए सब थी, हर दूसरा उसे दुश्मन था। आपस में नातों-रिश्तों की कल्पना न थी और भोग और भूख का ही उनमें सम्बन्ध था। प्यार जगा, मिल लिए। भूख लगी, खा डाला। अर्थात् व्यक्ति अपने में इकाई था और हर दूसरे से अलग था। परिवार भी न बना था, बनने को था।

वहाँ से हम चले। परिवार बना। जनपद बने, नगर बना। आपसीपन पैदा हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिकता उपजी। जातियाँ बन चलीं। राज उदय में आये। इस तरह आदमी ने दूर-पास नाता जोड़ना शुरू किया। उसका अपनापन फैला। उसी तरह वर्तमान को लाँघ कर अतीत और भविष्य से भी उसने अपना रिश्ता देखा। काल में भी उसने अपने को फैलाया और संस्कृति ने जड़ पकड़ी। चलते-चलते मनुष्य-जाति आज इस भूमिका पर है कि उसका व्यापक व्यवहार राष्ट्र को इकाई मानकर सम्भव बनता है। आज की जीवित राजनीति का घटक (unit) राष्ट्र-राज्य (Nation-state) है।

मैं इसको विकास मानता हूँ, ह्रास नहीं। आदिम मनुष्य का कायाबल आज के मनुष्य में नहीं है, वह डील-डौल नहीं है, वह चपलता नहीं है। यह उचित ही है। शेर अकेला है और जंगल में रहता है। इससे उस ढंग की सिफ़त भी उसमें है। पर आदमी अगर शेर नहीं है तो इस पर अफ़सोस करने की जगह नहीं है।

आज के दिन राष्ट्र की भाषा में हम सोचते हैं। जनता का मन राष्ट्र को अपना कहकर अपनाने में आज समर्थ है। यह छोटी बात नहीं है।

जैन तीर्थङ्कर महावीर ने अहिंसा धर्म पर ज़ोर दिया। पर वह धर्म व्यक्ति के दायरे में देखा गया और पाला गया। आज अहिंसा को राष्ट्र की परिभाषा में सोचा जाता है। सोचा नहीं, अमल में लाने का आग्रह रखा जाता है। यानी राष्ट्र और राष्ट्रीयता की धारणा मनुष्य-जाति के विकास का लक्षण है।

पर आदर्श पा कब लिया गया है, और विकास कब खत्म हुआ है? इसलिए राष्ट्र हमारे राजनीति-व्यवहार की धरती की हवाई बनने से अधिक उसके उद्देश्य की परिधि भी बनता है, तो वह मनुष्य जाति के विकास में खतरा है। हम आज राष्ट्रीयता पर हों पर वहाँ रुक नहीं सकते हैं। आगे भी चलना है। यदि राष्ट्रीयता आगे ले जाने में उपयोगी नहीं होती है तो वह बाधा है। ऐसी अवस्था में वह जकड़ है, जिसको तोड़े बिना गति सम्भव नहीं। वैसी राष्ट्रीयता प्रतिक्रिया का अस्त्र है।

मनुष्यता बढ़ती आई है और बढ़ती चलेगी। सर्वैक्य तक उसे उठते ही चलना है। इस यात्रा में हर क़दम की सार्थकता ही यह है कि वह अपने क़दम को प्रेरणा दे। जिस ज़मीन पर अब हैं, अगर चलना है, तो वह ज़मीन छूटेगी। एक क़दम तभी सच है जब कि आगे दूसरा भी हो। जिसके आगे दूसरा नहीं, वह क़दम मौत का हो जाता है। इस तरह कोई क़दम और कोई मंजिल अपने-आप में सच नहीं। राष्ट्रीयता भी अपने आप में सच मान ली जायगी, तो वह झूठ पड़ जायगी। क्योंकि तब वह मानवता को बढ़ाने में नहीं, रोकने में काम आने लगेगी। तब वह अगति का साधन होगी। किंतु मानवता को तो सब के ऐक्य तक उठे बिना रुके रहना नहीं है इससे उसकी राह में अटक बनने वाली राष्ट्रीयता को गिरना होगा।

इतिहास यही है। वीर आये, उन्होंने जीवन की विजय साधी। तब वह काल के मुँह पर खेले। पर काम हुआ कि वह काल के गाल में सो रहे। इतिहास उसको समा कर आगे बढ़ गया। राष्ट्रीयता भी हमारे विकास की विजय है। पर पराजय बने, इससे पहले ही उसे मानवता में समा जाना चाहिए। अन्यथा मानवता का विरोध सिर लेकर राष्ट्रीयता कलंकिनी होगी।

यानी राष्ट्रीयता अपनी जगह सामयिक रूप से सही है। पर जो सामयिक नहीं ऐसे विचार और भावना पर भी वह यदि आरोप की भाँति लाई जाती है तब वह सही नहीं रह जाती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि अपने क्षेत्र और काल की मर्यादा का उल्लंघन करती है। अहंकार शुभ नहीं और उग्र-राष्ट्रीयता उसी का लक्षण है।

पर अहंकार हवा में थोड़े उड़ जाता है। साधना से उसे धीमे-धीमे हलका और व्यापक बनाना होता है। यही उससे छुटकारे की पद्धति है। राष्ट्र को लेकर हम अपने स्वार्थ और अहंकार के विसर्जन की प्रेरणा पायें, तब तक वह इष्ट हैं। पर उसका मतलब व्यक्तिगत अहंकार की भाँति हममें राष्ट्रीय अहंकार का भर जाना हो तो उसको इष्ट नहीं कहा जा सकता और जब-जब हम राष्ट्रीयता के उपयोग को सामयिक से अधिक और अलग देखते हैं, तो कुछ उसी प्रकार के अहंभाव के विकार में फँसे हो सकते हैं। यों तो कोई वस्तु सिरजनहार की याद बनकर पूज्य है पर उपासक की उपासना उसमें अटक रहे, तो वह पूजा की नहीं, विडम्बना की वस्तु हो जायगी। इसी तरह राष्ट्रीयता यदि सब की एकता का नमूना बनकर उसी आदर्श की भावना जगाने में मदद देती है तो ठीक; पर अगर कहीं वह दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवादियों की तरफ बैर या विरोध को शह देती है, तो कहना होगा कि वह अपने हद से बाहर पाँव रखती है और यह उसकी उद्दण्डता है।

हमने देखा कि ऐक्य-विस्तार में हम बढ़ते ही आये हैं। बढ़कर राष्ट्रीयता तक आ पहुँचे हैं। वहाँ से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अभी क़दम रखना है। जब तक हमारा हित कुल दुनिया के साथ मिला हुआ हमें नहीं लग आता, तब तक हमारी मुक्ति कहाँ? और तब तक बढ़ते ही चलना है।

लेकिन बढ़ना सपनों से नहीं, क़दमों से है। सपने के पर लगाकर तो आँख मूँद छन में हम आसमान छू लेंगे। लेकिन धरती से आसमान की ओर उड़ने के लिए हवाई जहाज़ बनाने में मानवता को ईसवी की बीसवीं सदी तक धीरज रखना और मेहनत करनी पड़ी।

इसी भाँति कविता पर बैठकर राष्ट्रीयता से आगे बढ़ना बस न होगा। कविता में कल्पना तो उड़ती, पर पैर थिर रहते हैं। तभी कवि को समाज अपनी बागडोर नहीं, प्रशंसा ही देता है। पर कवि मनुष्यता के आदर्श की चौकसी रखता है। रात अँधेरी है और दुनिया नींद में या नशे में है, तब भी कवि मनुष्यता की निधि, यानी प्रेम के आदर्श पर पहरा दिये सजग बैठा है।

कवि का काम ज़रूरी है। पर उससे उतरे काम भी हैं, जो कम ज़रूरी नहीं हैं। कवि से कुछ उतरा एक व्यक्ति हुआ—मार्क्स। जर्मनी और फ्रांस की अलहदगी और उनका परस्पर विरोध उसके मन में नहीं घर कर सका। राष्ट्रीयता को वह नहीं समझ पाया, जो एक कल्पित रेखा के उधर के आदमी को पराया बनाती है। इस विधान की कृत्रिमता पर वह आँख नहीं मूंद सका। उसे आस-पास के लोगों में फाँक नहीं नज़र आई, कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं समझ पाया। इससे राष्ट्र के नाम पर की अलहदगी से वह अपने विचार में समझौता नहीं कर सका।

पर मार्क्स उतना लेखक या कवि नहीं था। यानी अन्तिम अभेद की निष्ठा उसे प्राप्त न थी। इससे वह सत्य का नहीं, समाज का दार्शनिक बना। उस समाज में उसे विषमता दीखी। उसका मस्तिष्क विषमता के साथ जूझने में लग गया। वह ऊपर की सब उलझनों के भीतर पहुँच-कर विग्रह की असल गाँठ को पकड़ना चाहता था। यानी उस मौलिक विरोध को जो दूसरे सब विरोधों को थामता और उपजाता है। कोशिश के बाद उसे एक चीज़ नज़र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आई—धन, यानी पूँजी। उसने वहीं अपना सब विश्लेषण गाड़ दिया और तर्क की राह चलते-चलते उसने समाज के सारे विरोधों को एक अन्तिम मूल विरोध के रूप में जा ढूँढा। वह था—पूँजी और श्रम का विरोध।

इस अपनी खोज पर पहुँचकर उसने पाया कि मनुष्यता खंडित है। भूगोल से (Vertically) नहीं, बल्कि श्रेणियों में (Horizontally) वह बँटी हुई है। असल विरोध इन श्रेणियों का आपसी विरोध है। उस विरोध को नष्ट करना होगा और उसके लिए जो ऊपर की श्रेणी अपने स्वार्थ-साधन में उस विरोध को कायम रखती है, उसी को नष्ट कर देना होगा। पर कैसे? वह ऐसे कि पहले उस विरोध को ही तीव्र करना होगा। वर्ग-विग्रह की भावना को चेताना होगा। उस चैतन्य से नीचे की श्रेणी को, जहाँ सच्ची जनता और मानवता का निवास है, बल मिलेगा। इतना बल मिलेगा कि ऊपर से उसको दबाने वाली तह उसे असह्य हो जायेगी। तब वह तह बिखर रहेगी, नष्ट-भ्रष्ट कर दी जायेगी और इस तरह समाज श्रेणियों से छुटकारा पाकर परिवार के मानिन्द एक हो जायेगी। तब व्यक्ति समाज का और समाज के लिए होगा और परस्पर का हित-विरोध और स्वार्थ संघर्ष नहीं रहेगा। मार्क्स की इस तर्क-पद्धति ने समूचे विकास को विग्रह मूलक परिभाषा में देखा और दिखाया।

राष्ट्रीयता को ज्यों का त्यों न अपनाने वाले लोग तो यों सब देश और कालों में हुए, पर वे धार्मिक जन थे, या साहित्यिक। राजकीय व्यवहार के धरातल पर लोग उसको स्वीकार करके ही चलते थे। राजनीति-विचारक शासन-तंत्रों के दार्शनिक विचार में चाहे कुछ भी कहें, राष्ट्र के दायरे और विभाजन को जाने-अनजाने वे मानते ही थे। मार्क्स ने उसी धरातल पर रहकर पहले-पहल राष्ट्र-विधान के अस्वीकार में अपनी आवाज़ ऊँची की।

मार्क्स से पहले भी कुछ सद्-विचारक राष्ट्र-सत्ता (सरकार) से बिना संघर्ष में आये समाजवादी आदर्श के गठन और प्रयोग में लगे थे; पर उस आदर्श को अमली शक्ल देने की जितनी उनकी कोशिश थी, उतनी उसको शास्त्रीय वैज्ञानिक और व्यापक रूप देने की नहीं थी। वे लोग सामाजिकता को यथासम्भव अपने व्यवहार में उतारने की चेष्टा में रहे। उसे एक के बाद एक जीवनशास्त्र का रूप देने में नहीं लगे। मार्क्स ने यही किया। स्वयं मार्क्स सामाजिक नहीं बने, कर्म-कुशल और मिठबोल नहीं बने, संस्था नहीं बने; नेता नहीं बने। एकांक, एकाग्र और स्वयं असामाजिक रहकर भी, समाजवादी शास्त्र और स्वप्न का ढाँचा पूरा करने में वह लगे रहे।

वह समय मशीन का यानी सामूहिक उद्योग का था। अपने अलग-अलग श्रम से काम चलने की संभावना लोगों के मनो से नष्ट हो चुकी थी। कलों के बल पर भीमोद्योग चल रहे थे और आबादी नगरों में केन्द्रित होती जाती थी। उस घटनात्मक यथार्थ के आगे *व्यक्तिगत स्वावलम्बन में विश्वास रखने वाला आदर्श टिक नहीं सकता था।* यानी केन्द्रित उद्योगों के कारण समाजवाद नहीं, तो एक प्रकार के समूहवाद की ज़रूरत तो स्थिति में भरी ही थी। मार्क्स ने उसे सान दे दी। जैसे भाव को भाषा दे दी। मार्क्स के ज़बर्दस्त और तीखे तार्किक प्रतिपादन ने, उस विषय के चारों ओर, विवाद और विवेचन का वातावरण पैदा कर दिया। इस विमर्ष से वस्तु को धार मिली।

यह समाजवाद राष्ट्रीयता को पहली सशक्त चुनौती था। पर राष्ट्रीयता का भेद यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृत्रिम हो, लेकिन उसके भीतर राष्ट्र की एकता का तथ्य भी समाया है। वह थोड़े बहुत अंश में एकता के प्राकृतिक विकास के अनुरूप है। मानो भौगोलिक विभाजन प्रकृति की ओर से ही क्षम्य है। जैसे वह परिस्थितिगत लाचारी है; एक मंज़िल एक रियाअत है।

इसकी तुलना में मार्क्स का श्रेणीगत विभाजन उतना अनिवार्य और साफ़ नहीं है। उसको मानो हमारे समाज के अन्दर फैली हुई वर्ग-दुर्भावना से ही बल मिलता है।

पर वह जो हो, मार्क्स के इस वर्ग-विभाजन की नई झाँकी में से लोगों ने हठात् मानवता की एकता के आदर्श को भी ताज़ा और समीप बनाकर देखा। रूस देश की हालत उस विचारधारा के प्रचार के बिलकुल अनुरूप पड़ी। वहाँ जनता पर शासन का जूआ बहुत भारी था। मनोभावना की ज़मीन वहाँ तैयार थी। उस देश में मार्क्स के समाजवादी को बल पकड़ने और अपने को आज़माने का अवसर मिला।

जहाँ तक वर्ग-चेतना की धार को तेज़ करके शक्ति उपजाने और सत्ता के तख्त को पलट देने और उस पर हावी हो जाने का सम्बन्ध था, मार्क्स का नक्शा ठीक उतरता चला गया। वहाँ उसके बे-ठीक होने का प्रश्न भी नहीं था क्योंकि मानवता की एकता का सपना सनातन था और त्रस्त जनता की दबी भावना उभरने को तैयार ही थी। समाजवाद ने पुराने शासकों की जगह नये आने वाले शासकों को पार्टी में संगठित होने के लिए नाम का और आंदोलन-प्रचार का सुभीता दे दिया।

परिणाम हुआ कि क्रांति हो गयी। यानी शासक बदल गये। पर जिस राष्ट्रीयता नाम के साँचे में मनुष्य-जाति की राजनीति और राजकाज ढलकर चलाए जाते थे और जिस साँचे से उद्धार पाने की आशा समाजवाद के रोमांटिक साहित्य से लोगों में पनप चली थी, उस साँचे का क्या हुआ?

रूस की क्रान्ति रूस के इतिहास के लिए एक बड़ी घटना है। उस दायरे में वह एक बड़ा सबक है और गहरा इशारा है। पर उस दायरे के बाहर मनुष्य-जाति के इतिहास में क्या वह किसी नये मानसिक मूल्य (Category of consciousness) का दान है? मेरे विचार में नहीं, क्रांति से समाजवाद बीते इतिहास और शास्त्रीय दिलचस्पी का विषय रह गया, जीवन और वर्तमान राजनीति से वह निःशेष हो गया।

यूरोप के और देशों के बराबर रूस को लाने का काम क्रांति ने किया, यूरोप को बदलने या बढ़ाने का नहीं। क्या राष्ट्रीयता नाम के जिस साँचे (Category of Political consciousness) के द्वारा राजनीति का व्यवहार चलता था उसमें कुछ अन्तर आया? सुधार हुआ, विस्तार हुआ? शायद नहीं।

मार्क्स के समाजवाद पर राष्ट्रीयता आयद नहीं हो सकती, लेनिन का समाजवाद सीमित रूसी राष्ट्रीयता से समझौता निबाह सका; और स्टालिन का समाजवाद रूस की वैदेशिक नीति में समाजवाद रहा, यह उसके दुश्मन भी नहीं कह सकेंगे। हाँ, ट्राटस्की के समाजवाद ने भौगोलिक परिधियों को नहीं स्वीकार करना चाहा। परिणाम हुआ कि जीवित राजनीति में ट्राटस्की नगण्य रहा, जैसे कि मार्क्स नगण्य था। लेनिन गणनीय रहा, क्योंकि राष्ट्रीयता को उसने निभाव दिया। और स्टालिन एक समूचे देश की शक्ति के साथ सशक्त है, क्योंकि भाषा चाहे उसे समाजवाद की रखनी पड़ी हो (और इतने प्रचार के बाद दूसरी भाषा सहसा रूस को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लग भी नहीं सकती थी), पर भाव में वह यूरोप के अन्य देशों के अधिनायकों की तरह समाजवाद के आदर्श के दबाव से सर्वथा मुक्त है।

समाजवाद रूस में भी यदि व्यवहारिक राजनीति के काम का है, तो राष्ट्रीय दायरे में और राष्ट्रीय विशेषण के साथ ही काम का है। अर्थात् सोशलिज्म जब नेशनल है, तभी अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर उसकी गिनती है अन्यथा तो वह निजी वस्तु भले रहे, मानव-जाति के राजनैतिक व्यापार में चलन की वस्तु वह नहीं है।

तभी तो अत्याधुनिक राजनैतिक धर्म का नाम 'नेशनल सोशलिज्म' है। जाने-अनजाने रूस में भी वही है और इंग्लैंड में भी वही है।

राष्ट्रीयता (Nationalism) का मान पुराना पड़ रहा था। उसमें से साम्राज्य बने और साम्राज्यशाही मनोवृत्ति को जन्म मिला। साफ हो चला था कि यह मनोवृत्ति मानव-मूल्यों के विकास में बाधा है। सोशलिज्म ने आकर मानवता के मर्म के गहरे में जो स्वप्न सदा रहता आया है, यानी विश्वबन्धुत्व, उसे भड़काया। उधर यथार्थ में उसने राष्ट्रवाद के साथ समझौता कर लिया। इस तरह उसने राष्ट्रवाद को नई जान दे दी। सोशलिस्टिक बनकर मानो नेशनलिज्म हमें ऐक्य की ओर ले जा सकता है, ऐसे भुलावे का सामान कर दिया। हिटलर क्यों न आज मान ले कि वह मनुष्यता का विकास-साधन कर रहा है, क्योंकि वह जर्मन राष्ट्र को राष्ट्रीय चेतना के आधार पर दृढ़, बलवान और अविजेय बनाकर दिखला सका है? यदि राष्ट्रीयता लक्षण हो तो हिटलर को विश्व की प्रगति में आज सबसे अगला कदम गिनना होगा।

पर नेशनल सोशलिज्म नाम के संकर पदार्थ में दो अनमेल तत्त्वों का मेल है। इससे वह बारूद है जो फट पड़ने के लिए है। यूरोप के राष्ट्र उस बारूद को अपनी काया में भर बैठे हैं और विस्फोट समक्ष है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता अपने-आप सही मानी जाकर जब किसी शब्द के सहारे आदर्शात्मक भावावेश के मेल से तीव्र और पुष्ट की जाती है, तो इससे राष्ट्र की शक्ति बढ़ती दीखती ही सही, पर उसका ख़तरा भी बढ़ता है। यानी उससे मद और आतंक बढ़ता है। आतंक बढ़ने से उसमें, और आस-पास के देशों में, सेना और शस्त्रास्त्र की बढ़वारी होती है। राष्ट्र का धन बढ़ता मालूम होता है, पर उसके लिए मंडियाँ खोजनी पड़ती हैं। उन मंडियों की रक्षा के लिए नाकेबन्दी बैठानी पड़ती है। इसके लिए, और हुकूमत की शाही शान रखने के लिए, धन को बढ़ाते जाने की ज़रूरत और हवस होती है। उनके लिए उस राष्ट्रीय सत्ता को दूर-पास शोषण की नलियाँ जोड़नी पड़ती हैं। उन नलियों द्वारा धन, यानी उन देशवासियों का रक्त खींचा जाता है। वही फिर मद और विलास के रूप में अपने शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। उस विलास-रक्षा के लिए फिर ज़रूरी होता है कि चौखूट चौकसी पूरी हो। टैंक हों, जहाज हों और क्या न हो! इस तरह एक राक्षसी चक्कर चल पड़ता है।

जहाँ तक साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से हमारा उद्धार करे वहाँ तक राष्ट्रीयता हितकारी है। जहाँ वह स्वयं एक अहंकार का रूप होती है। वहाँ वह विष की भाँति त्याज्य है। राष्ट्र ठीक, प्रान्त ठीक। ये तो भी बड़ी बातें हैं। मैं कहता हूँ कि अपना कुटुम्ब, अपना निजत्व, सभी ठीक हैं। पर कुटुम्ब के अस्तित्व के लिए ज़रूरी है कि उसके द्वार पर स्वागत और हृदय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अतिथि के लिए प्रेम हो। वह घर जो अपने से बाहर सहानुभूति का दान नहीं करता, सूख जाता है। वह तब नगर के लिए रोग का कारण बनता है। यही बात बड़ी संस्थाओं और समुदायों के बारे में भी है। साम्प्रदायिकता दो सम्प्रदायों की स्पर्धा और उनके तनाव पर मज़बूत होती है, इसीसे वह शुभ नहीं है। राष्ट्रीयता, ऐसे ही जो दो राष्ट्रों के वैमनस्य से पुष्ट होती और उसको पुष्ट करती है, वह कैसे श्रेयस्कर समझी जा सकती है?

अर्थात् सामयिक भाव से जो भी कर्त्तव्य, जो भी धर्म उपादेय हो, सब पर एक परम-धर्म की मर्यादा लागू होती है। वह धर्म सामयिक नहीं, शाश्वत है। उसका अनुपात वस्तु और स्थिति के साथ भिन्न हो सकता है। पर स्वयं में वह परम धर्म है और अनिवार्य है। उसका नाम है अहिंसा। उसका मतलब है निर्वैर और उसकी आत्मा है प्रेम।

अहिंसा से यदि राष्ट्रीयता जौ भर हटे तो वह उसी अंश में सदोष है।

सदोष तो यों मानव भी है। निर्दोष बस ईश्वर है, जो आदर्श का दूसरा नाम है। निर्दोषता की स्थिति आदर्श से बाहर और कहीं नहीं है। लेकिन सदोषता को हम मानते चलें, देखते चलें, निर्दोषता की ओर बढ़ने का यही मार्ग है।

राष्ट्रीयता उपयोगी है, इसी में है कि उसमें अनुपयोगी होने की क्षमता है। इससे उसकी मर्यादा जान लेनी चाहिए और मर्यादा के उल्लंघन से सदा उस राष्ट्रीयता को बचाना चाहिए।

राष्ट्र-सेवा की भावना यदि लोभ-वृत्तिक (Romantic) नहीं, तो वह लोक-सेवा के रूप में ही अपनी कृतार्थता खोजेगी। लोक-सेवा पड़ोसी-सेवा से आरम्भ होती है। इस प्रकार की सच्ची राष्ट्रीयता राजनैतिक नहीं होती, 'राज' को अपने से दूर करके वह केवल नैतिक होती है।

नैतिक भाव से की गई जन-सेवा अपने व्यापक प्रभाव के कारण संघर्ष उपजा उठे और अनायास राष्ट्रीय अथवा राजनैतिक दीख चले, वह बात अलग है, पर अपनी ओर से वैसा विशेषण उसे देकर चलना अनावश्यक है।

अर्थात् दूसरे लोग राष्ट्रीय कहें तो कह लें, स्वयं संज्ञा वह देकर किसी नीति अथवा वस्तु को अपनाने की तबियत सही नहीं है। जो अपनाने योग्य है, वह नैतिक कारणों से। उस दृष्टि से जो इष्ट है, वही अभीष्ट हो सकता है। राजनीतिक धरातल पर उस इष्ट वस्तु की इष्टता बतलाने में सहज की वह (राजनीतिक) भाषा भी सुलभ हो सकती है। अपनी ओर से नैतिक को छोड़कर राजनैतिक भाषा पर आना अनावश्यक होना चाहिए।

नीति से अलग होकर राजनीति भ्रम है और मानवता से च्युत होकर राष्ट्रीयता भी बन्धन ही है।

मई, '35.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
0-21/1945

राम की युद्ध-नीति

इस महादेश की संस्कृति के दो ध्रुव हैं: राम और कृष्ण। रामायण और महाभारत उन्हीं के चरित्र कहिए। इन दो ग्रंथों के स्तम्भों पर चालीस कोटि मानवों की शताब्दियों का भाग्य टिका है।

माना जाता है कि यह संस्कृति विरागमय है। जीवन-दृष्टि उसकी निवृत्तिमूलक है। ब्रह्म, सत्य और जगत् उसे मिथ्या है। महापुरुष उसे वह है जो संसार से विमुख एकान्त में आत्मा की जय साधता है। संसार उसे प्रपंच और मुक्ति ध्येय है। हर कीमत पर वह शान्ति चाहता है। अहिंसा उसे परमधर्म है। एक शब्द में, वह संस्कृति आदिभौतिक के विरोध में आध्यात्मिक है।

और यह गलत भी नहीं है। भारत की विशेषता उसका इहलोक पर परलोक को प्रमुखता देना ही है।

पर उसी संस्कृति ने राम और कृष्ण को भगवान माना है और ये दोनों ही दो महायुद्धों के नायक हैं।

120415

इस ऊपरी विरोध के भीतर जाकर उसके अर्थ को देखना होगा।

यह सच है कि भारत ने बड़े योद्धा को प्रतिष्ठा नहीं दी। चक्रवर्ती को भुला दिया और सन्त की वाणी को उसने याद रखा। महाविकट युद्ध एक दुःस्वप्न की विभीषिका से अधिक उसके लिए कुछ नहीं रहा। वह होकर बीत गया और भारत के जीवन पर कोई विकृति नहीं छोड़ गया। पर यह उससे भी अधिक सच है कि उसके मर्यादापुरुष राम हुए और कृष्ण हुए, जो वन के महात्मा नहीं, राज्यों के निर्माता थे और जो शान्ति में और समाधान में नहीं वरन् युद्ध में जिये। कारण, भौतिक के घमसान में उन्होंने अध्यात्म के समत्व की और जगत्कर्म की विपुलता में ब्रह्मत्व की साधना सिद्ध की।

राम राजा थे; पर भगवान् हैं। यानी राजा के रूप में वह व्यतीत हुए, भगवत-रूप में ही वह शाश्वत होकर वर्तमान है।

देखना चाहिए कि क्या उनके युद्ध में भी भागवत-भाव देखा जा सकता है।

वह युद्ध भौतिक था, लेकिन वह धर्मयुद्ध होकर ही भगवान् राम का बना। अपने राज-कर्म और व्यक्ति-कर्म में वह समष्टि चेतना से परिचालित थे—हिन्दू विश्वास ऐसा ही है। उसके निकट श्रीराम के कर्म पर समय की और स्थिति की इयत्ता नहीं है। मानो उनका युद्ध रावण नामक किसी व्यक्ति से न था, वह तो पूँजीभूत असत् के प्रतीक रावण से था। भारत का समाज शताब्दियों के भीतर से इसी आस्था में रामचरित के चहुँ ओर इतना कुछ जुटाता रहा है कि अमुक समय और देश में हुए इतिहासी राम काल-देश की सीमा से मुक्त होकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिकाल-त्रिलोक से पुरुषोत्तम राम हो गये हैं। उनका चरित्र एतिहासिक बोध का नहीं, जिज्ञासु निकट आत्म-शोध का ही साधन बन उठा है। मानो कभी कहीं हुए राजा, वह इतने नहीं जितने कि घट-घटवासी राम हैं।

यह कैसे हुआ?

सामान्यतः आत्म-क्षेत्र और जगत्-क्षेत्र दो हैं। आत्म-जेता यम-नियम और दम-संयम के अस्त्रों से लड़ते हैं। वे धन-मान और बन्धु-बान्धव छोड़ अकेले बनते हैं। जगत-योद्धा तीर, तलवार और दल-बल से लड़ते हैं और सत्ता-प्रभुत्ता का विस्तार चाहते हैं। एक अहिंसा साधते, दूसरे स्पर्धा ठानते हैं।

दोनों की दो राहें हैं और उलटी हैं।

अब, नहीं कहा जा सकता कि लंका में लहू नहीं बहा। वहाँ शासक-कुल में विभीषण के सिवा कौन दूसरा बच पाया? ऐसे युद्ध के प्रेरक होकर राम फिर आर्य-संस्कृति के मान्य कैसे हुए?

यहाँ यह कहना कि राम-चरित्र का युद्ध यथार्थ नहीं, सिर्फ़ रूपक है, बात से बचना होगा। रूपक तो वहाँ है ही। व्यक्ति राम में प्रभु राम की प्रतिष्ठा के लिए रूपक तो आना ही था और भगवान् राम से लड़ने वाले रावण के लिए दस सिर और बीस भुजाओं वाला अति-मानव भी बन उठना अनिवार्य था। जिससे भगवत-युद्ध अनीति के प्रतीक राक्षस से ही हो, अन्य किसी से नहीं।

पर इस सब लोकमान्यता और काव्यातिशय के, 'माइथालाजी' के पार होकर विवेचक को राम की युद्ध-नीति की परख में जाना होगा। जानना होगा कि विजेता होकर भी सिकन्दर और 'सीज़र' को जिस मान से नापा जाता है, उससे राम को हम क्यों नहीं नाप पाते? क्यों वह नाप वहाँ ओछा पड़ जाता है? राजा होकर, लड़कर, जीतकर, अश्वमेध रचाकर, ऐश्वर्य से मण्डित होकर भी राम धर्म के तीर्थ और अध्यात्म के आदर्श कैसे बने हुए हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में उनकी युद्ध-नीति को परखना आवश्यक है। उस युद्ध की पृष्ठभूमि यह है, अयोध्या के निर्वासित राजकुमार राम, अकिंचन, देह पर छाल पहने, पत्नी और भाई के साथ, वन-पर्वत भटकते, कंद-फूल खाते, सुदूर दक्षिण पहुँचते हैं। अयोध्या से यह जगह हजारों कोस के अन्तर पर है। सत्ता का या उसकी महिमा का अंश भी यहाँ उनके साथ नहीं हैं। वनजीवी हैं और पशुओं से स्नेह पाकर रहते हैं।

ऐसे समय रावण उनकी सीता को ले जाता है। रावण लंका का राजा है। वह अतुल बलशाली है। वह नराधिप है, राम नर मात्र। वह सत्ता-सन्नद्ध है, राम एकाकी हैं। वह दुर्ग की रक्षा में है, राम वनचारी हैं।

इन दो शक्तियों में युद्ध होता है। कारण बनता है सीता का अपहरण। सीता राम की भार्या हैं इसलिए नहीं, बल्कि लंकाधीश बल के मद में उन्हें बन्दी बनाये हुए है, इसलिए राम को लड़ना पड़ता है।

इस पृष्ठभूमि पर से उस युद्ध के बारे में हम ये परिणाम निकाल सकते हैं—

1. युद्ध का राजनैतिक हेतु न था।
2. राजनीति की ओर से राम सत्ता-शून्य थे। इससे आत्म-धर्म के नाते राम युद्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतरे।

3. साधनहीन होकर सत्ताधीश से युद्ध ठानने में उन्होंने उपकरण को हीन और संकल्प को सब-कुछ माना।

4. वेतन भोगी सेना उनके पास न थी।

5. नैतिक शक्ति उनकी शक्ति थी। अपने पक्षवालों को पुरस्कार, पद या प्रतिदान देने के बल पर सैन्य-संग्रह उन्होंने नहीं किया।

6. युद्ध का नेतृत्व उन पर लौकिक प्रभुता नहीं, नैतिक निष्ठा और उच्चता के कारण आया और समूचा युद्ध उनकी ओर से उसी भूमिका पर रहकर चला।

युद्ध में राम की विजय का सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश कारण ऊपर की इस भूमिका में आ जाता है। उससे प्रकट है कि उनकी युद्ध-नीति का सबसे प्रधान अंश इस निश्चय में था कि युद्ध का हेतु केवल और शुद्ध, नैतिक ही है। वह तनिक भी लालसा, सत्ता और सम्पत्ति का युद्ध नहीं है।

आधार में, इस धर्म-नीति की भूमिका का निश्चय होने के अनन्तर आगे भी उसकी रक्षा हो—राम की युद्ध-नीति की दूसरी चिन्ता यह मालूम होती है। यानी युद्ध का हेतु धार्मिक हो। इतना ही नहीं, उसकी प्रक्रिया और प्रतिक्रिया भी अनुरूप हो। यह भी उनकी युद्ध-नीति के विचार में गर्भित था। साध्य की शुद्धता परखने के बाद साधनों को अनुकूल शुद्ध रखने की ओर वह युद्ध-नीति सावधान थी।

युद्ध लड़ने की इच्छा पर राम में सदा उससे बचने की इच्छा की प्रधानता रही। यानी युद्ध उनकी ओर से शांति-चेष्टा का ही अंग था। युद्ध के बीच भी उनकी नीति संधि का मार्ग खोजती रही थी। यानी युद्ध-नीति भीतर से शान्ति-नीति से भिन्न न हो पाये, इसका ध्यान राम को था। अंगद उनकी ओर से रावण के पास संधि के लिए कुल इतनी शर्त ले गये थे कि सीता वापस लौटा दी जाये। लंकाधिपति के स्वत्व पर, प्रतिष्ठा पर, यहाँ तक कि मत-मान्यता पर, किसी प्रकार के आरोप की बात उनकी युद्ध-नीति में नहीं आती थी।

युद्ध में विजय निकट दीखी तो भी आरम्भिक माँग को और उसके मूल हेतु को बढ़ाया नहीं गया। यानी आवेश और आकांक्षा का उस युद्ध-नीति से संबंध न था और विजय में अवसर देखने की वृत्ति न थी। विजय होने पर लंका के राज्य से अधिपतित्व का या और किसी तरह कि प्रभुता का संबंध राम ने नहीं स्थापित किया। रावण के कुटुम्बी-जन विभीषण लंका के राजा हुए। विजेता ने कोई अपना स्वार्थ विजित देश में नहीं पैदा किया। किसी सन्धि के अनुसार लंका को अवध के प्रति झुकने की आवश्यकता कभी नहीं हुई।

सैन्य-संचालन आदि के बारे में राम की युद्ध-नीति आत्यन्तिक उदासीनता की थी। यह उदासीनता प्रखर योद्धा राम की जय में कम महत्त्व की वस्तु न थी। वह काम तो सुग्रीव और लक्ष्मण का था। वह पक्ष मानो असल युद्ध-नीति से उनके निकट असंगत था। निश्चय उस संबंध में गुप्तभेद या छल-प्रयोग के वह विरुद्ध थे। युद्ध सीधा और ईमानदार और जान हथेली पर लेकर हो, उस पर उनका आग्रह था। रण में वह स्वयं सैनिक थे, पीछे से आज्ञा देने वाले सेनानी ही नहीं।

यह भी प्रामाणित है कि शत्रु के प्रति वह सहज सहानुभूति से काम लेते थे। यथाशक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंसा से वे बचते थे। एक की जान पर वह इतने भावुक हो आ सकते थे कि समूचा युद्ध उन्हें व्यर्थ लग आये। यह व्यथा ही रण में उनके बल का मूल थी।

इस प्रकार युद्ध की प्रेरणा और हेतु में शुद्ध अराजनैतिक और धर्म-नैतिक भावना का निश्चय, संहार की सैन्य-कला के संबंध में आत्यन्तिक उदासीनता, शत्रु के प्रति मानवीय सहानुभूति और शांति के मार्ग की सततशोध—ये उनकी युद्ध-नीति के मुख्य अंग कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि वह युद्ध-विजेता और धर्मावतार भी हैं। उनके उदाहरण में धार्मिक और राजनैतिक दोनों पक्ष के नेताओं के लिए प्रकाश है।

अक्टूबर, '37.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केन्द्र और क्रांति

उस दिन की बात है कि केन्द्र के प्रधान व्यक्ति ने कहा, "सफलता की यह सीमा इस कारण कि बल हमारे पास विशेष न था। थोड़े लोग थे और धन भी सीमित था।"

जिस केन्द्र का जिक्र है वह सामान्य कोटि की संस्था न थी। आध्यात्मिक उसकी भूमिका थी, प्राणीमात्र में एकता अनुभव कर आना उसका इष्ट। राह में सेवा-व्रत भी है साधन के रूप में और उसका आशय है समाज का रूपान्तर क्रांति, मूल्य-परिवर्तन। इस तरह वह आध्यात्मिक स्तर के सामाजिक क्रांतिकारियों का केन्द्र था।

स्पष्ट है कि आत्मा है, वहाँ देह है। व्यक्ति है, वहाँ वस्तु है। इस तरह हर संस्था को धन की आवश्यकता है। उपयोग में वस्तु ही आती है। वास को मकान, पोषण को अन्न, रक्षण को वस्त्र, इसके अतिरिक्त दूसरी आवश्कताएँ भी हैं। यानी धन के बिना चल सकता नहीं। यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि तर्क के लिए कहीं अवकाश नहीं। आदमी और उसका परिवार इसीलिए अधिकांश कमाई के चक्कर में रहता है। इसी को अर्थचक्र और संसार-चक्र कहते हैं। सबको अर्थ चाहिए इसी अर्थ की चाह को स्वार्थ कहा जाता है। इन स्वार्थों में फिर नोंच-खरोंच चलती है और समाज की समस्याएँ बनती हैं। सफल अमीर बन जाता है, विफल गरीब रह जाता है। धीरे-धीरे वर्ग पकते और उनके हितों में अन्तर और विग्रह पड़ जाता है। राजा-रंक, हजूर-मजूर, ऊँच-नीच आदि भेद बन पड़ते हैं। समाज में उन भेदों से तनातनी और बेचैनी रहती है और किसी को सुख का अनुभव नहीं होता। एक के सुख पर दूसरे के दुःख की नजर रहती है। और इस तरह दोनों अपनी जगह अनुपयुक्त हो जाते हैं। सुख में अपने प्रति संशय हो पड़ता है। दुःख में तृष्णा अटकी रहती है।

यह सबका इसीलिए न कि वस्तु की आवश्यकता है। आवश्यकता सवार है, मनुष्य सवारी है। ऐसा है तभी न बल व्यक्ति को वस्तु में जान पड़ता है। वस्तु में आते ही मानो बल आंकिक बन जाता है। जितनी अधिक वस्तु उतना अधिक सामर्थ्य। उस रास्ते से एक हजार रुपये वाले आदमी से लाख रखने वाला पूरा सौ गुना बलशाली हो जाता है। यह दृष्टि व्यक्ति को, परिवारों को, दलों और कबीलों को, राष्ट्रों और राष्ट्र-समूहों को उस राह चलाएँ जा रही हैं।

जिधर वे चल रहे हैं। विश्व का संकट उसी कारण बना हुआ है। शान्ति चाहते भी जो दुनिया को हर बीस-पच्चीस साल बाद युद्ध में उतरना पड़ता है, सो इसीलिए न कि आखिर दो बलशालियों में निबटारा कैसे हो? इस बल की विशेषता ही यह है कि वह मुकाबले में अन्य बल को नहीं सह सकता। अन्त में उपाय युद्ध ही रह जाता है।

जो लोग बहुत कुछ करना-धरना चाहते हैं, वह स्वार्थी व्यापार का काम हो या परमार्थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपकार का पहले अपने पास बड़ी पूँजी इसीलिए चाहते हैं। राजनीतिक दल स्वार्थ के लिए तो बनते नहीं हैं, समाज और देश के उद्धार के लिए बनते हैं। अच्छे सफल, विचक्षण लोग अपना निजी काम-काज छोड़कर त्याग और बलिदानपूर्वक देश-सेवा और देश-संगठन में लगते हैं तो क्या किसी संकीर्ण भावना से वे ऐसा करते हैं? नहीं, गरिमामय विचार उनके होते हैं, और वैसी ही उदात्त भावना। राज्य-सत्ता का वे सुधार चाहते हैं। चाहते हैं कि अच्छे लोग सत्ता पर पहुँचे और अच्छी नीति से राष्ट्रकार्य का संचालन करें। इसीलिए उनकी कोशिश होती है कि उस सत्ता को दल के हाथों में ले ताकि फिर उस बल से जनता का हित किया जा सके। सत्ता को सत्ता के पास अधिकार केन्द्रिय होता है, संपत्ति केन्द्रित होती है। वह बल अपनी ओर करना इसीलिये उनके लिये सबसे पहली ज़रूरत हो जाती है। मैदान में ऐसे कई गिरोह आते हैं और सभी में त्यागी, बलिदानी, वाग्मी और विचारवान पुरुष होते हैं। वह सभी एक-दूसरे के साथ होड़ में पड़ते हैं कि सत्ता को अपने हाथों लिया जाए और जनता का भला किया जाए। इन नेताओं की तरफ जनता आशा और आदर से देखती है। तो आदर इसीलिए कि उनसे आशा है कि केन्द्रित और एकत्रित सत्ता-बल पर पहुँचकर ये लोग कुछ उसका अंशरूप सामर्थ्य उन्हें भी दे सकेंगे। जनता इसलिए उन्हें सिर झुकाती है। दुनिया में जो सबसे बड़ा और सबसे ऊँचा राजनीति का व्यापार चल रहा है। सो इसी समझ के आधार पर चल रहा है कि अधिकार में, द्रव्य में बल है। सिक्का राज का चलता है इसलिए राज बल का केन्द्र है। यों मन बहलाव के लिए छुट-पुट उपकार का काम किया जा सकता है। लेकिन असल काम राज्य पर कब्ज़ा करने के द्वारा ही हो सकता है।

प्रत्यक्ष बुद्धि इस दिशा के सिवा और किसी ओर जा नहीं सकती। ये सब लोग मूर्ख नहीं हैं जो इधर चले जा रहे हैं। निन्यानवे से अधिक प्रतिशत संख्या उन्हीं की है। दुनिया उधर जा रही है, मानवता उधर जा रही है। उस सबको गलत कहना धृष्टता और दुस्साहस ही है। इसीसे अधिकतर देखा जाता है कि साहस वह अधिकांश सफल नहीं होता। कुछ लोग छिटक कर दूसरी तरफ चल पड़ते हैं, संग्रह के बजाए अपरिग्रह की ओर जाते हैं। अधिकार लेने के बजाए उन्हें छोड़ते हैं। लेकिन इन कतिपय जनों से दुनिया की दिशा नहीं बदलती।

अतः जो आश्रम और दूसरे साधना के स्थल तैयार करते हैं, उन्हें मान लेना चाहिए कि वे जानबूझकर उलटा और साहस का काम करते हैं। परिवार के रूप में न रहकर आश्रम के रूप में हमने रहना शुरू किया है, अपने बीच भोग का नहीं, साधना का संबंध रखना हमने स्थिर किया, तो जैसे एक भारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली है। वह यह कि हम वह नहीं जो दूसरे समझदार लोग मानते हैं। क्या करें, हमारा दर्शन और है। हो सकता है दिशा हमारी उलटी हो, पर हम उसी को सही देखते हैं। हमारा निमंत्रण है कि जो आवश्यकताएँ कम करना चाहें वे हमारे साथ आ जाएँ। यथावश्यक से अधिक हममें से किसी को लेना नहीं है और यथाशक्ति देते रहना है। हम मानते हैं कि इसी में हमारा बल है। ज़ाहिरा निर्बलता हो सकती है, पर हमें तो उसी मनोदशा में बल का अनुभव प्राप्त होता है। वस्तु की चिंता सवारी गाँठकर क्या सभी को भरमा नहीं रही है? हमने अपने लिए उस चक्र को व्यर्थ समझा है। वस्तु में बल हो तो वस्तु-चिन्ता के फलस्वरूप शाँति और सुख मिलना चाहिए। वैसा मिलता तो कहीं दीखता नहीं। इतिहास में भी किसी ने अभी तक ऐसा अपना अनुभव जताया नहीं है। जो हो, हमने तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना है कि बल सद्भाव में है। इस तरह अपने पास ही बल है, कहीं दूर और अलग वह नहीं हैं। आदमी जो दीन बन गया है, तो इसी मोह में घिरकर कि बल बाहर सिक्के में है। ऐसा मानकर हाथ-पर-हाथ धरे वह देखता रह जाता है। हाथों को काम में नहीं लगा पाता। मोह व्यक्तिगत होता तो वह जीत भी रहता। समाज ही सारा-का-सारा उससे आच्छन्न है। इससे बेबसी फैल रही हैं, और दूसरी ओर दर्प उठ आया है। हम सब यहाँ दूसरी श्रद्धा से बैठ गये हैं और अपरिग्रह और अकिंचनता में से बल प्रकट कर दिखाना चाहते हैं। तब शायद हो सकता है कि मोह टूटना शुरू हो और सामान्य जीवन का मूल्य द्रव्य-मूल्य न रहकर मानव-मूल्य बने।

साधना के लिए मंदिर और केंद्र आदि बनाकर वहाँ रहने वाले जैसे यह बोझ अनायास अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। बहाव से उलटे यह ऊपर की ओर तैरने जैसा है। शुभ हो कि वे इस प्रयोग तक आये ही नहीं। पर अगर जान बूझकर आते और उसमें उतरते हैं तो फिर बहाव से तो उनके लिये लड़ना ही रह जाता है। उसका सुभीता उनके लिए नहीं रह जाता, बहाव में बहने में ज़ोर कुछ पड़ता ही नहीं बल्कि गति अनायास होती है। इसको सामान्यतया प्रगति भी माना जाता है। कोई कारण नहीं कि दावा किया जाए कि वह प्रगति नहीं है। लेकिन जिन्होंने आरम्भ में ही समझ-बूझकर मुँह उससे उलटी ओर किया, उन्हें उससे लाभ लेने का अवसर नहीं रह जाता। उस दिशा का साफल्य और वेग उन्हें अनिष्ट बनाता है। मानो साधक लोग यह कठिनाई अपने लिए पैदा करके ही साधनाश्रम आदि की स्थापना में लगते हैं।

उन आश्रमादि की तो चर्चा ही क्या कि जो ऊपर से आश्रम और अंदर से दूकान है। ऐसी मनोरंजक घटनाएँ विद्यमान हैं, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं। बल्कि उस कारण और भी आवश्यक हो जाता है कि साधना और सामुदायिक साधना की ओर बढ़ने वाले और उसके लिए स्थल और संस्था विशेष का निर्माण करने वाले चेतावनी ले लें। व्यवस्था के युग में असंभव नहीं है कि साधना को भी दूसरे जनव्यवसाय के रूप में लें। हमने खोला आश्रम है, लोग समझें दूकान खुली है। ऐसा समझने में दोष उनका न होगा, युग की हवा ऐसी है। यह ग़लतफहमी आश्रमवासियों को परीक्षा में डालती है, यह शायद उसका लाभ ही कहा जा सकता है। यदि किसी कारण आश्रम या साधना आदि पवित्र शब्दों का मान ही लोगों के मन से गिरा तो यह बड़ी दुर्घटना होगी। लेकिन यह मान पुनर्स्थापित भी हो सकता है और वह तब होगा जब साधना की परीक्षा में कसे जाने को निमंत्रण दें।

परीक्षा सब श्रद्धा की है। आज का युग संस्थावाद का कहा जाता है। समाजवाद का विचार आया है न, उससे व्यक्ति की निजता का भाव मंदा पड़ गया है। समूह और समुदाय की गिनती अधिक होने लगी है। व्यक्तिगत संपत्ति पाप, समाजगत, संस्थागत पुण्य। आप संस्था के नाम से लाभ कर सकते हैं और वह उद्यम है, परमार्थ है अन्यथा वह स्वार्थ है। यानी नैतिक नियम जो व्यक्ति के लिए मान्य है, संस्था के लिए वे अनावश्यक हो जाते हैं। अपरिग्रह, अहिंसा व्यक्तिगत जीवन में हो तो हमें संतोष रहता है। जिस संस्था या समूह या दल के हम सदस्य हों, उसके पास का बड़े से बड़ा फंड और उसका खण्डन-मण्डनात्मक व्यवहार अनुचित नहीं माना जाता। ठीक इसी जगह श्रद्धा की परीक्षा होती है। श्रद्धावान जिसको मानेगा पूरे तौर पर मानेगा। सब दिशाओं और सब अपेक्षाओं में मानेगा।

गांधी जी ने इस अनिवार्यता को पहिचाना। फण्ड से वह बचे नहीं, केंद्रित फण्ड भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके अधीन रहे। लाखों-लाख, करोड़ों-करोड़ द्रव्य का विनियोग उनसे हुआ। लेकिन श्रद्धा जो उनमें ज्वलंत रही, सो उसके चरितार्थ और फलितार्थ के संबंध में फिर औझल नहीं हो सकी। इसलिए उनके कारण शक्ति और बल की धारणा गणनात्मक की जगह गुणात्मक होती चली गई। परिमाणमूलक बल की धारणा होने से वस्तु का महत्त्व बढ़ता और उसकी प्रचुरता में मोह और आदर बढ़ता है। तब गणना की अपेक्षा में गुण का महत्त्व कम होता जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तु से व्यक्ति गौण और हीन बनता है।

आज का संकट क्या है। उसे सभ्यता का ही संकट कहना चाहिए। वह संकट यही तो है कि आदमी का मूल्य घटते-घटते शून्य हो गया है। शून्य से भी कम ऋण रूप में हो गया है। जबकि यन्त्र का मूल्य बढ़ता जा रहा है। यंत्र पाकर आदमी अपने को धनवान गिनता है और धन की ओर बढ़ने के लिए यंत्र को इकट्ठा करता है, जबकि उसी के लिए आदमी भारी पड़ जाता है। नौकर और मजदूर के रूप में वह उन्हें कितनी संख्या में भरती कर लेगा क्योंकि तब वह आदमी से अंक बन जाता है। सुख-दुःख अनुभव करने वाले उस जीवित इन्सान के रूप में, जो समभागी बनना चाहता है, भारी मालूम होने लगता है। आपसी संबंधों का सूत्र विषम और जर्जर हो गया है। सामुदायिक इकाइयाँ बड़ी-बड़ी खड़ी हो आई है, लेकिन जैसे उनको संयुक्त और संगठित रखने वाले तत्त्व अन्त में स्वार्थ और स्पर्द्धा ही है। राष्ट्र अपनी उन्नति अधिक एक्सपोर्ट में देखता है, यानी दूसरे देशों में मण्डी फैलाये रखने में अपनी समृद्धि देखता है। इस संकट के सम्मुख कौन है जो साधनों की सपन्नता और बहुलता नहीं चाहता।

अपरिग्रह उसी वृत्ति का नाम है। सदुपयोग के नाते ही उसे वस्तु की आवश्यकता है। अर्थात् वस्तु का संग्रह उसे नहीं चाहिए। अधिक वस्तु अर्थात् अधिक प्रभुता—यह जो सामान्य बोध और अनुभव है, अपरिग्रह का नियम उससे उलटा चलता है। बल का बोध उसका राशि और परिमाण में नहीं है। वह आंतरिक है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि धन और जन परस्पर बिछुड़ नहीं सकते। शरीर के बिना आत्मा नहीं है और अन्न के बिना जीवन नहीं है। व्यक्ति वस्तुहीन होकर रहा है, न रहेगा। इसलिए वह अध्यात्मवाद और भौतिकवाद जो इस संगति और संबद्धता को नहीं देखना चाहता, एक निरा आग्रहवाद रह जाता है। लेकिन श्रद्धाओं में अवश्य भिन्नता हो सकती है। गांधी और स्टालिन की श्रद्धाओं को एक मानना धोखा खाना होगा।

समाजवाद एक प्रकार का वस्तुवाद है। साम्यवाद तो वह ही है। उसका प्रयोग होता रहा है और हो रहा है। उसकी आशा लगभग समाप्त प्रायः है। उसमें स्वर्ग दीखना बन्द हो गया है। कुछ छोटे पिछड़े देशों की बात छोड़ दीजिये। लेकिन जहाँ विचार का अवसर है वहाँ समाधान उन वादों में नहीं दीख पाता। कारण, वे वाद बहुत हद तक क्रियान्वित हो चुके और अपनी संभावनाओं की सीमाओं को दर्शा चुके हैं। उनकी संभावना की सीमा इसमें है कि वे मूलतः वस्तुवाद के ही रूप हैं। उसमें मूलगत मूल्य की क्रांति प्राप्त नहीं होती। केंद्रित राशि और केंद्रित अधिकार का मोह बना चला जाता है।

ये मोह दो नहीं हैं। राशि का महत्त्व मिलते ही अधिकार के प्रश्न को महत्त्व मिल जाता है और अधिकार ही ऐसी चीज़ है जिसको हरेक अपने लिये चाहता है, दूसरे के लिए नहीं, बिल्कुल नहीं चाहता। सब चाहते हैं मुझ में अधिकार रहे, कोई नहीं चाहता मुझ पर अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे। इस अधिकार की चेतना और चाहना ने सारी व्यवस्था को झंझोड़ डाला है। इस व्याधि से छुटकारा तब तक मिलना संगत और सम्भव नहीं बन सकता है जब तक बल का बोध वस्तु और उसके परिमाण में रहेगा। क्योंकि वह तब अपनी निर्बलता और न्यूनता के बोध पर, व्यक्ति अपने भीतर उतरने और वहाँ से विश्वास और सेवा की शक्ति लाने के बजाय, बाहर साधन की छीन-झपट और अर्जन-गर्जन में लगने दौड़ेगा और तब विग्रह के सिवाय दूसरा और क्या हाथ आने वाला है ?

इसलिए केन्द्र के उन प्रधान व्यक्ति की बात पर मैं अब तक अटका हूँ और सोचता रह जाता हूँ कि वहाँ से इष्ट क्रांति का प्रादुर्भाव हो सकेगा ?

नवम्बर' 60.

अणुव्रत अध्यात्म साधना केन्द्र, दिल्ली की संगोष्ठी के अवसर पर अध्यक्षीय भाषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज दर्शन

इतिहास में समय-समय पर क्रांतियाँ हुआ करती हैं। उसमें सब उलट-पलट जाता है। बड़ा-बड़ा नहीं रहता और छोटे अपने को छोटा नहीं मानते । यह इसलिए होता है कि लोगों का दर्शन बदल जाता है।

हम एक व्यवस्था के अधीन रहते हैं। शनैः-शनैः उसके मूल्य स्थिर हो जाया करते हैं। समाज में तदनुसार श्रेणियाँ पड़ जाती हैं और वे हमें उचित मालूम होती हैं। वस्तुओं का, व्यक्तियों का, वर्गों का अमुक मूल्य बँध जाता है। उसमें द्विधा नहीं होती और ऐसे व्यवहार सुगमता से चलता है।

लेकिन फिर कोई होता है जिसके मन में स्थापित मूल्य जम नहीं पाता। उसको दीखता ही कुछ अलग है। उस दर्शन के मूल्य भिन्न होते हैं। उस कारण वह व्यक्ति स्वयं कुछ वर्तमान व्यवस्था से अनमिल होता है। इस एकाकीपन से उसको और दृढ़ता मिलती है। व्यक्तित्व को धार प्राप्त होती है। वह साग्रह अपने दर्शन को रखता और देता है। व्यवहार उसका अपने अनुसार होता है। ऐसा व्यक्ति दुःख उठाता और अंत में कुछ और नये मूल्यों की झाँकी दे जाता है। धीरे-धीरे वह दर्शन घर करता है। तब पहले के बने मूल्य डिगने लगते हैं। लोगों को लग जाता है कि व्यवस्था स्थिर न थी, न है। जो बड़ा था वह सिर्फ मानने से बड़ा था। ऐसे मान्यताएँ ढहतीं और परिणाम में दीखने वाली क्रांतियाँ हुआ करती हैं।

मानव का वह दर्शन उत्तरोत्तर भेद-अभेद की ओर उठता है। प्रतिभा की सदा यह गति है। उससे सहसा किसी उच्चतर समन्वय की प्राप्ति होती है। तब उससे नीचे के तल के विभेदों के प्रति उसमें अमान्यता हो उठती है। उसके द्वारा लग आता है कि परंपरा एक है, प्रगति उससे भिन्न है।

मानव हठात् सम्यक् और समग्रदर्शन पाए बिना चैन नहीं पा सकता। अपूर्ण से पूर्ण, एकाँग से समग्र की ओर उठते और उठाते जाना काल का धर्म है। काल की इस गति को तरह-तरह से चित्रित किया गया है। अनुभव में आता है कि वह समगति नहीं है। जैसे कभी वह दौड़ता और कभी आराम करने लगता हो। काल के भाग्य में आराम नहीं बताते हैं, लेकिन कुछ युग सचमुच शान्त बीते हैं। जैसे दिन का हंगामा न हो, और सुख सपनों की रात हो। ऐसे समय काव्य और कला का खूब उत्कर्ष हुआ है। मूल्यों के बारे में तब दुविधा नहीं रही है। कवि को सम्राट् के आगे सिर झुकाने और उसकी स्तुति गाने में कठिनाई अनुभव नहीं हुई है। ऐसे कविता उसकी जीती गई है, सो भी बात नहीं है। केवल इतना है कि समाज में लोगों की विविध स्थितियाँ जम गई हैं और व्यवहार की परिपाटियाँ चिकनी बनी रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन ऐसी शान्त स्थिर सुविधा में रुककर काल ठहरा कैसे रह सकता है। उस पर विकास का दायित्व है। इसलिए विचार के और स्वप्न के लोग जन्म लेते हैं। वे सुविधा की सुविधा नहीं लेते। यों अपने लिए वे असुविधा रचते हैं। वे मानते ही नहीं कि व्यवस्था सही या सब कुछ है। व्यवस्था का वर्तमान उन्हें नहीं सुनता, नहीं गिनता, और अपनी ओर से उन्हें छुट्टी दिये रहता है। पर वे अपनी कहते हैं, अपने को गिनते हैं, और छुट्टी नहीं लेते, न किसी को देना चाहते हैं।

कुछ सदी पहले विज्ञान आया। विद्रोही लोग उस विज्ञान को लाए थे। पर पीछे जाकर उसमें से काम और रुपया बनने लगा। जिनके लिए विज्ञान ज्ञान का विषय था। वे फिर भी उस धुन और उस हाल में रहे। लेकिन जिनके लिए वह विज्ञान ज्ञान से अधिक काम का हुआ, वे व्यवस्था के शीर्ष पर आते गये। मूल्य बदले और विज्ञान के आविष्कारों के आधार पर व्यवसाय चलाने वाला यह नया आदमी प्रधान बनता चला गया। पहले के बड़े आदमी से यह भिन्न था। उसमें क्षत्रिय गुण थे, वह वह स्वाधीन रहता था और आन-बान रखता था। यह व्यवसायी संगठन से चलता था और समझौते में कुशल था। यह औद्योगिक क्रांति हुई और तलवारी दिलेरी की जगह अर्थ-कौशल का महत्त्व बढ़ा।

लोग निकट हुए। शहर और बन्दरगाह पनपने लगे और मालूम हुआ कि चर्च से प्राप्त हुए परस्पर सम्बन्धों के नियमन की व्यवस्था कम पड़ रही है। समस्या की ग्रन्थि अधिक हठीली है और समाज की विषय जैसे एक स्वतंत्र शास्त्र का विषय है। सोशलिज्म शब्द के आसपास बहुत चिन्तन चलना शुरू हुआ।

इस मंथन में से एक दर्शन की चिनगारी प्राप्त हुई। वह यह कि धन स्वयंभू वस्तु नहीं है। वह श्रम का परिणाम है। श्रम मूल धन है। वह सामाजिक निष्पत्ति है। पूँजी स्वतंत्र मूल्य नहीं है। पूँजीपति शोषण के आधार पर बना जाता है।

इस दर्शन ने और माने हुए अधिकारी की अयथार्थता का निरूपण करने वाले इसके पूर्व चिंतन ने, मिलकर एक नई क्रांति का बीज बो दिया। अब तक मामूली और मेहनती आदमी अपने को मामूली और मेहनती ही गिनता था। अब उसमें प्रश्न हुआ कि वह वैसा ही क्यों है? जो नया दर्शन उसमें उतर चला था कि वैसा वह ऊपर वालों की अभिसंधि और षड्यंत्र के कारण है, उसने भावनाओं में बारूद भरी। व्यवस्था इससे ढीली हुई और तख्त पलटे। साम्यवाद फूटा और जमा। अब बराबर वह फैल रहा है।

लेकिन इधर एक नया और समग्रता का दर्शन सामने आ रहा है। गांधी के व्यक्तित्व से वह लोगों को मिला। वह यह कि समाज दो या अधिक वर्गों का समुच्चय नहीं है। वह अपने में एक इकाई है। वर्गों और श्रेणियों के संघर्षों की भाषा सतह को लेती है, मर्म की कहती नहीं। मर्म यह कि छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा, अच्छा-बुरा ये एकदम दो नहीं है। बल्कि एक दूसरे को थामते हैं। ऊँचा नीचे को दबाता है या नीचा ऊँचे को गिराना चाहता है तो दृष्टि-दोष के अधीन ऐसा होता है। कारण उसमें भय और द्वेष है। उससे स्थान का ऊँच-नीचपन बल्कि कायम होता है। उन स्थानों पर व्यक्तियों की जरूर अदला-बदली हो जाती है, पर उस आधार पर क्रांति टिकने वाली इसलिए नहीं हैं कि उससे व्यवस्था में मूल अन्तर नहीं पड़ता। फिर स्थानों और नामों का अन्तर असल मूल्यान्तीकरण नहीं है। गवर्नर का नाम कमिसार हो जाय, और कैंसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेसिडेंट कहा जाये तो इतने से जीवन में गुणात्मक अंतर नहीं आ जायेगा। कुर्सी पर बैठे आदमी के मनोभाव बदलेंगे तब जब समाज में ही मूल्य और मनोभाव बदले हुए होंगे। गलती यह है कि एक को हम दूसरे से अलग मानते हैं। ऐसे अच्छे को पुरस्कार और बुरे को दण्ड देते हैं। ऊपरी तौर पर तो यह किया जा सकता है। पर सही देखा जाए तो अच्छा वही होना चाहिए जो बुराई के लिए अपने को जिम्मेदार मानता है। धनिक वह जो निर्धन और निर्धनता के लिए अपने को जिम्मेदार मान सकता हो। इस तरह जिसके पास जो होगा, प्रतिक्षण अनुभव करेगा कि वह उसका किसी तरह नहीं है, अमानत भर है। आखिर क्रांति का दूसरा मतलब क्या है? पुराने की जगह जो नया आदमी अधिकार पर आता है उसे बता दिया जाता है कि अधिकार वह उसका नहीं है, सिर्फ़ जिम्मेदारी है। कानून के बल से तो सिर्फ़ अधिकार पहुँचता है, जिम्मेदारी अन्तः करण से आ सकती है। ऊपर के डर से जो ज़िम्मेदारी निभाई जाती है, वहाँ डर किसी तरह बचाया जा सके, तो ज़िम्मेदारी वहाँ से भाग जाती है। तब निर्वाचित आदमी पदारूढ़ होकर अफसरी और हेकड़ी जता सकता है।

यह दर्शन जो समाज को एक इकाई के रूप में लेता और दिखाता है कि साधु दुष्ट है अलग नहीं है, धनिक निर्धन से अलग नहीं है और शासक शासित से अलग नहीं है, धीरे-धीरे लोगों के मनों में उतरता जा रहा है। इसको अपनाने पर वर्ग-विग्रह की पद्धति वाला दर्शन अधूरा और ओछा दीखने लगता है। तब मालूम होता है कि शोषक वही नहीं है जो धनिक है, हम भी हैं जो धनिक की जगह होना चाहते हैं। इस दर्शन में से जो सत्य प्राप्त होता है, उसमें शोषण का बीज ही खत्म होता है। इसको अपनाकर अधिकार में ममता और धन में स्वत्व का भाव रह नहीं जाता! राजनीतिक क्रांति स्थानान्तर कर सकती है, भावान्तर तो गहरे दर्शन में से ही प्राप्त हो सकता है। अधिकार-दर्शन में से राजनीतिक परिणाम ही निष्पन्न होता है। उससे अधिक फल के लिए क्रांति अधिक तलस्पर्शी और दर्शन अधिक समन्वित होगा। तब आशा हो सकती है कि मौलिक क्रांति हो। वह यह कि ऊँचा वह जो अपने को नीचे से नीचा समझे। धन और अधिकार उस पर आये जिसे ये दोनों चीज़ें चुभती हों। तब व्यक्तियों में होड़ परस्पर भोग और पद के लिए न होगी, त्याग और मुक्ति के लिए होगी।

राजनीतिक क्रांति के पीछे हत्यारों का इतिहास मिलता है। शुरू में जो साथ चले, अन्त की ओर मालूम हुआ कि उन्हीं के लिए दूसरे को व्यर्थ और खत्म करना ज़रूरी है। व्यवस्था ढेरी के मानिन्द है। आखिर शीर्ष पर एक और केवल एक होगा। इसमें शुत्रता के लिए मित्रता ही भूमिका होगी। साथियों को ईर्ष्या और भय और द्वेष से बचाया नहीं जा सकता। अन्त में एक-एक कर अपने साथियों को खत्म करने के बाद ही शीर्ष स्थानीय एक-एक को थोड़ी निश्चिन्तता मिल पायेगी। क्रांति जो राजनीतिक है, उसमें इसके सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता। व्यवस्था जबतक दंड और श्रेणी के आधार पर है तो उस भूमिका पर क्रांति कितनी भी हो, उसमें से शांति फलित होने वाली नहीं है। क्योंकि कोई कारण ही वहाँ नहीं रहता है कि स्थान का अन्तर परस्पर रगड़ और जलन न उपजाए। अन्तर तो सदा रहने ही वाला है। जहाँ सब समान हों, वहाँ की स्वतंत्रता जंगल की-सी है। यानी कि जिसका जो चाहे शिकार करे। स्वतंत्रता की उस हिस्र-वृत्ति को रोकने का साधन बस वहाँ राज्य की कानून और दण्डशक्ति रहती है। यह दोनों शक्तियाँ अंत में संगठित हिंसा की ही तो हैं। अतः समग्र और स्थायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी, नैतिक क्रांति। वहाँ स्वेच्छा से नीचा बनकर आदमी अधिक स्वाधीनता का रस पायेगा और उसमें नव सृजन की स्फूर्ति बराबर होती रहेगी। वह नूतन दर्शन जगत् को शनैः शनैः प्राप्त हो रहा है। शंका नहीं है कि वह फल लायेगा। देर-सबेर इसमें हो सकती है। लेकिन फल उसका बाँसी नहीं होगा। खठास उसमें न पड़ेगी, न प्रतिक्रिया उपजेगी। वह भावी अवश्यम्भावी है। कारण विश्व स्थिति का संकट गम्भीर है और अगला क़दम मानवता का मज़बूत और सही ही होगा। विज्ञान इतना बढ़ गया है कि उससे हलका और कम कोई दर्शन अब लोगों के मनों को छू और पकड़ नहीं सकेगा। भोगते-भुगतते अब लोगों के मन इतने पक आए हैं।

जुलाई' 56,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेतृत्व, समय और प्रलय

हम समय में जीते हैं। समय का आदि नहीं और अन्त भी नहीं। लेकिन हम जीने वालों का तो आरम्भ है और अन्त भी है। एक खास रोज हमने जन्म पाया और जीने की शुरुआत हो गयी। इसी तरह एक दिन होगा, कि मौत आ जायेगी और हमारा खात्मा हो जायेगा। फिर भी समय चलेगा, वह लोगों को जिलाता-मारता और चीज़ो को नया-पुराना करता रहेगा। काल स्वयं अकाल रहता है, इसीलिए सब-कुछ काल-कवलित करता चला जाता है। आँखों आगे चारों ओर जो यह अहरह उत्पत्ति-विनाश की लीला चल रही है, कहा जाता है कि सब उस समय की करनी है!

लेकिन यह कहने का मुहावरा ही है। समय के पास अपनी कोई हस्ती नहीं, ताकत नहीं। काल तो ऐसे ही है जैसे आकाश है। वह स्वयं में शून्य है और कुछ करता-धरता नहीं है। मानों वह बस आयाम है कि जिसमें सब होता जाता है। दिशा की सूचना से अधिक कुछ इयत्ता नहीं है।

होते परिवर्तनों पर हमारी आँख जाती है। उससे इंकार नहीं हो सकता। इसी दिल्ली की सबसे बढ़ी-चढ़ी कॉलानी को लीजिए कि जहाँ के मकान एक-से-एक आलीशान हैं। गिनती के कुछ बरस पहले वह निरी सुनसान बीहड़ जगह थी। आज सभ्यता जगमग है कि कल तक जहाँ आदमी का निशान भी नज़र न आता था। और क्या पता कि पचास-सौ साल बाद फिर वहाँ वही उजाड़ बियाबान हो जाए! समय सब लीलता जाता है।

तो क्या समय के आयाम में होने वाला सब कुछ मिट जाने ही वाला है? क्या सब व्यर्थ है? अथवा कि कुछ उसमें अर्थ भी है?

इतिहास का अध्ययन करके लोग बताते हैं कि भूत सब निस्सार नहीं है। वह शब्द यों तो जाने क्या भाव देने लग गया है। मानों उसमें कुछ अपना न हो, इसलिए कोरा डर ही उसमें भरा रह गया हो। भूत के साथ जैसे प्रेत की ही संगति हो। और सचमुच लोग हैं जो भविष्य में आँख रखकर भूत को सिर्फ इन्कार किये रहना चाहते हैं। लेकिन इतिहास अतीत को मरने नहीं देता है। उल्टे उसे सार्थक और सारवान तक प्रकट कर दिखाता है। बीते अतीत के पीछे और वर्तमान की धरती के परतों के नीचे जाकर लोग विकास के सिद्धान्त को ऊपर खींच लाये हैं। उससे ज्ञान होता है कि आज हम आदमी हैं, लेकिन कभी था कि हम तो थे, लेकिन आदमी नहीं थे। हो सकता है कि जानवर के रूप में हों, जैसे बन्दर इत्यादि। या उसके भी पार जाकर कृमि-कीट के रूप में हों। अर्थात् पीछे की ओर गया हुआ अध्ययन सिद्ध करता है कि समय की गति व्यर्थ नहीं है, वह चेतना को आगे बढ़ा जाती है, समय ढाता चला जाता है, अवश्य,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन इस सब प्रक्रिया के द्वारा वह कुछ बनाता भी चला जा रहा है। निरन्तर विकासशील वह तत्त्व है : चैतन्य।

इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो समय अपनी तमाम यात्रा में जितनी मात्रा में चेतना को जगा जाता है उतना ही वह सार्थक होता है। इससे अतिरिक्त की शेष कर-धर या भाग-दौड़ से शायद उन्नति या विकास का संबंध नहीं है।

किंतु चेतना के उन्नयन को देखा और नापा कैसे जाय? इसीलिए नाना भ्रम और मतवाद चला करते हैं। जो एक-दूसरे को काटते और विग्रह रचते हैं। समय के इस प्रवाह में क्या निरर्थक होता जा रहा है और क्या वह सार्थक है जो परोक्ष में सम्पन्न हो रहा है, इसको जानने का कोई प्रत्यक्ष उपाय नहीं है। वर्तमान में इतना कर्म-प्रपंच चलता है कि उसके हेतुओं का पृथक्करण करना कठिन होता है। उस उलझन में से लोग सिद्धान्त-सूत्र निकालते हैं अवश्य, लेकिन अधिकांश वे मन के मन्तव्य होते हैं। उनका हमारे मत से संबंध होता है। सत् से संबंध लगभग नहीं होता। ज्ञान के नाम पर अक्सर ये ही अहंवाद और मतवाद चला करते हैं। उनको लेकर फिर सामूहिक आवेश बनते हैं और नाना प्रकार की राजनीति की रचना हुआ करती है।

यहाँ उस राजनीति में जाने की आवश्यकता नहीं है। जंगल में कब किसे पता है कि क्या होगा? चूहा कीड़ों को खाता है, बिल्ली चूहे को खा जाती है, कुत्ता बिल्ली को मार डालता है, भेड़िया कुत्ते को खत्म कर देता है। इस तरह ऐसा चक्र चलता है कि कौन किसका भक्ष्य होगा, इसका ठिकाना नहीं है। राजनीति में भी उसी शक्ति का नंगा खेल है। जो चढ़ बैठा उसकी बन आई, जो मुँह की खा रहा वह कहीं का न रह गया। इस हार-जीत के क्षेत्र में समय की सार्थकता को देख पाना मुश्किल ही है। सीधे तो शक्ति के हाथ न्याय दीखता है। तर्क की सीध में चलने वाले विज्ञानी ने गुर बनाया और उसको नाम दिया, 'सर्वाईवल ऑफ द फिटेस्ट'। किंतु लंबे अनुभव में से देखने में आया कि सब के सिर पर सम्राट् बनकर जो बैठा है, वह मरा तो ऐसा कि समय में सदा के लिए खो गया, इतिहास में जी नहीं पाया। इस तरह प्रस्तुत विग्रह और संघर्ष यद्यपि सबसे महत्त्व का व्यापार आज मालूम होता है, तो भी इतिहास का सार उससे किनारे या पार कहीं छूट जाता है। अथवा हो सकता है कि वह सारांश गूढ़ अन्तर-गर्भ में कहीं हो!

युद्धों की कहानियाँ हम पढ़ते हैं और वे हमें रस देती हैं। सच यह है कि जीने का क्षेत्र करने का क्षेत्र है, और कुरुक्षेत्र युद्ध-क्षेत्र है। यह दूसरी बात है कि धर्म-क्षेत्र भी उससे अन्यत्र कहीं दूसरा न हो। तभी देखते हैं कि भारत का सनातन धर्म यदि सहस्राब्दियों से चलकर आज दिन तक यहाँ टिका रह गया है तो उन दो पुराण-ग्रन्थों के आधार पर जो युद्ध-ग्रंथ ही हैं। धर्म ग्रंथ से भी आगे वे धर्म-कोश बन गये हैं। मानो वे अमुक सिद्धान्त नहीं कहते हैं, बल्कि समूची जीवन संस्कृति का विस्तरण कर जाते हैं। रामायण और महाभारत की उन गाथाओं के बीच मानो तमाम आर्य-संस्कृति को रच दिया गया है। उत्तर और दक्षिण इन दो ध्रुवों के मध्य जैसे पृथ्वी स्वयं में और आकाश में घूमती हुई स्थित है वैसे ही मानो राम और कृष्ण के ध्रुवादर्शों के मध्य सँभली हुई भारतीय संस्कृति अवस्थित और गतिमान है। सिद्धान्त अचल हो सकता है, किंतु पुराणों में जो धर्म आकलित हुआ है। उसमें गति का पूरा समावेश है। वह धर्म किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त की परिभाषा में नहीं समाता, प्रत्युत इतना सचेतन और ज्वलन्त रहता है कि परिभाषाओं के लिए अजस्त्र स्रोत और आदर्श का काम देता जाता है।

किंतु इन दूर की और ऊँची बातों से इधर हमें हाल ही की चर्चा करनी थी। आज स्थिति डाँवाडोल मालूम होती है। स्वराज्य के बाद भारतवर्ष ने पंद्रह वर्ष भोगे हैं और तब से एक ही दल की एक सरकार यहाँ बनी रही है। लेकिन बीच में यह अनुभव होने लगा कि सत्तारूढ़ दल को इधर जो राजत्व का काम करना पड़ रहा था और उधर प्रजा के काम का भी जो उसने दायित्व उठाया था, सो उन दोनों पक्षों में सन्तुलन बिगड़ चला था। राज को प्रजा के मन के निकट रखना जरूरी था। स्वराज्य को संविधान ने जनतन्त्रात्मक बनाया था। लेकिन ऐसा लगने लगा था कि राज्य से प्रजा अलग छूटी जा रही है। इस स्थिति में जो उपाय अपनाया गया उसका नाम 'कामराज योजना' हुआ। यानी कुछ प्रमुख मंत्री मंत्रित्व छोड़कर बाहर आ जाये। किंतु यह उपाय देश की ओर से आया हुआ है या अपनी तंत्र व्यवस्था को दृढ़ करने वाला दलीय उपाय?

इस सबसे जो प्रश्न उपस्थित होता है, वह है, नेतृत्व का प्रश्न। राज की नीति समाज की नीति से बहुत भिन्न हो सकती। अर्थात् राज-नेतृत्व को जाने-अनजाने समाज-नेतृत्व भी बनकर रहना होता है। जैसा राजा वैसी प्रजा! लेकिन लोग अब उस उक्ति के पलट रूप को अधिक ध्यान में लेने लगे हैं: जैसी प्रजा वैसा राजा। राज अगर उन्हें ठीक नहीं मालूम होता है तो वे अपने काम के लिए प्रजा की तरफ मुँह करना आवश्यक समझते हैं। 'कामराज योजना' का मतलब है कि राज करने वाला दल स्वयं अनुभव कर आया है कि ध्यान को राज-ता से ज्यादा जन-ता में रखना होगा।

हमारे इस भारत देश का दुर्भाग्य यह है कि यहाँ हाल में गांधी हो गये हैं। उन्हें हम राष्ट्र-पिता कहते हैं, साथ महात्मा भी कहते हैं। इस सद्भाग्य को दुर्भाग्य कहने कष्ट होता है। लेकिन इस घटना ने जन-साधारण में अपने राजकर्मियों से ऐसी अपेक्षाएँ भर दी हैं कि राज्य की उससे कठिनाई बहुत बढ़ जाती है।

मार्क्स ने एक नया दर्शन संसार को दिया। उसके आधार पर रूस देश में एक नया साम्यवादी राज्य आ गया। राजन्य वर्ग के लिए पहली कठिनाई तो उसने पैदा की। राजा पहले खास आदमी हुआ करता था। अन्दर से बहुत खास हो कि न हो, ऊपर से उसे बेहद खास बना-कर रखा जाता था। जन्म से वह विशिष्ट होता था और लालन-पालन से भी। बीच में कुछ क्रांतियाँ हुईं, और राजाओं के सिर कटे। लेकिन क्रांति बीतते ही समाज की स्थिति फिर पहले जैसी हो गई। मानो प्रजा में हाकिम को, अफसर को, राजा को फिर उसी ऐश्वर्य और आडम्बर के बीच देखने की आदत और आशा जग आई। प्रजा ऊपर आँख उठाकर राजवैभव की ओर देखती थी और उस विभुता में उसे सन्तोष होता था। सबसे बढ़-चढ़कर न हो तो वह राजा ही क्या? वैभव और ऐश्वर्य से उसे महिमा मण्डित होना ही चाहिए। और सचमुच इस वैभव का अन्तर बीच में डालकर राजा के प्रभाव को अनिवार्य और अमोघ बनाया जाता था। रोमान्स की भाँति यह प्रजाजन को प्रिय होता था, अब भी कहीं-कहीं प्रिय होता है। लेकिन मार्क्स ने इस धन-वैभव की सत्ता के बारे में कुछ ऐसी दृष्टि लोगों के मनों में उतार दी कि उसका आतंक और प्रभाव जाता रहा। पहले यदि उसके प्रति प्रशंसा का भाव होता था तो इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये दर्शन के सहारे निन्दा का भाव जागने लग गया। पहले वैसा शासक पोषक और रक्षक समझा जाता था। इस नवदर्शन के अधीन वह शोषक और भक्षक दीखने लग गया। परिणाम यह कि छत्र-दण्डधारी राजत्व का जो सर्वोच्च प्रतीक था वह जारी इस क्रांति में सदा के लिए मार डाला गया। इस साम्यवाद ने आम लोगों के मनों में यह भर दिया कि राजा उनमें से ही हो सकता है, विशिष्ट नहीं हो सकता।

नेतृत्व की कल्पना के परम्परागत रूप को पहला आघात साम्यवाद की ओर से यह लगा। विशिष्ट व कुलीन होना मानों दुर्गुण हो गया। नेता के लिए सम-सामान्य और सर्वसाधारण बनना आवश्यक होने लगा।

फिर भी साम्यवाद ने स्थापित राज्य का जो स्वरूप लिया, उससे धीरे-धीरे कठिनाई कम होने लगी। साम्यवाद का और क्रेमलिन के दुर्ग-प्रसाद का धीरे-धीरे मेल बैठने लगा। वहाँ भी नेता के लिए सुविधाओं की ओर से विशिष्ट बनना मानो सहज और ग्राह्य होने लगा।

फिर भी मार्क्स ने जो दृष्टि दी वह जन-सामान्य में गहरी घर कर चुकी थी। समय-समय पर जन-नेता के रूप में प्रगट होते रहने की आवश्यकता राज-नेता के लिए बनी रही। ख्रुश्चेव चाहे कहीं रहें, महल में चाहे रहें, लेकिन वे सबके लिए सुलभ और आत्मीय हैं, इसका प्रकाशन करते रहना उनके लिए ज़रूरी होता गया। इतने मात्र से साम्यवादी देशों में कठिनाई ऊपरी तौर पर हल हो जाती है, यदि कहीं नीचे असन्तोष हो तो वह ऊपर फटे बिना रह जा सकता है ?

किंतु भारत की हालत उससे दूसरी है। गांधी ने अंग्रेजी राज्य के रहते हुए भी भारत देश के मन पर इतने लम्बे काल तक एकछत्र राज्य किया। जिस तंत्र द्वारा उस महात्मा का राजकाज चलता था, उसका नाम कांग्रेस था। कांग्रेस का बड़ा कारोबार था। लम्बा-चौड़ा दफ्तर उसके लिए ज़रूरी होता था। लेकिन गांधी की राजधानी सेवाग्राम थी, जहाँ फूस की कुटिया थी। सबके बीच चटाई पर वह राज-राजेश्वर उठता-बैठता-सोता था।

यह चित्र देश के मन से उतरता नहीं है। इसके पीछे उसे अपनी तमाम परंपरा का बल भी मालूम होता है। राम वनवासी हो गये, कृष्ण ग्वाल-बाल के संगी-साथी बनकर रहे इत्यादि उदाहरण भारतवासी के चित्त में ऐसे बैठ गये हैं कि वह उन्हीं से अपने नेता और राजा को नापना चाहता है। साम्यवाद तो चाहे समझौता कर भी ले, लेकिन भारतीय मानस की वह माँग समझौता कर नहीं पाती है। आज का संकट ठीक इसी कारण विकट बन गया है और विकटतर बनता जाता है।

मामूली तौर पर राजा को प्रजा अपने बीच राजा बनाकर रखना चाहती है। उसी तर्क से आज का राज-नेता भारत के दूतावासों को खर्च के और रहन-सहन के मामले में किसी भी देश की बराबरी पर रखना चाहता है। गांधी ने कहा था कि यह भूल है। देश गरीब है तो उसके प्रतिनिधि को गरीब दीखने में शर्म किस बात की होनी चाहिए! लेकिन गांधी की यह बात जिसको रोब-दाब रखकर राज करना है उस राजनेता की समझ नहीं आई। परिणाम यह हुआ और हो रहा, कि देश गांधी की याद करता है, उसे अपना स्वराज्य अपनी ही आशाओं और अपेक्षाओं से उल्टा मालूम होने लगता है और इस विडम्बना को वह समझ नहीं पाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं मानता हूँ कि समय पीछे नहीं जा सकता। मार्क्स के दर्शन ने यह बात हमेशा के लिए सब के मनों पर नक्श कर दी है कि गरीबी अगर है तो उसके साथ चलने वाली अमीरी में शोषण का दोष अवश्य है। मार्क्स की इस बात के ऊपर गांधी ने आगे बढ़कर यह और दिखा दिया है कि सच्चा आदमी वही है, वही हो सकता है, जो कम चाहता और कम रखता है, जो विशिष्ट बनने से उल्टे सेवक बनने की कोशिश में रहता है। यह दोनों दर्शन किसी भी तरह मिटाये नहीं जा सकते, बल्कि दिन-दिन वे उजागर और अमोघ ही होते जाने वाले हैं। जो नेतृत्व इन नये मूल्यों को अपने से ओझल रखेगा, वह सदा खतरे में और डगमग ही रहने वाला है। वह कभी स्थिर नहीं हो सकेगा। अपनी रक्षा के लिए उसे सदा तिकड़म का सहारा लेना होगा। जब तक मन न जीता जाये तब तक जनसाधारण के अस्तित्व को विवश बनाकर अपनी हुकूमत चलाना यदि सम्भव हो भी तो वह कुछ दिनों के लिए ही हो सकता है। उस शासन में स्थायित्व नहीं आ सकता, नहीं आ सकता!

आज लगता है शासन-सत्ता को गांधी के मूल्य याद नहीं रह गये हैं। इस क्षति के रहते हुए हम आर्थिक और औद्योगिक, समाजवादी और जनतंत्रीय, स्वातंत्रवादीय अथवा साम्यवादीय चर्चा कितनी भी करें···उससे वह क्षति भर नहीं सकती। बातें उसे घाव पर मरहम का काम दे भी जायें, इलाज का काम किसी हालत में नहीं दे सकतीं।

एक ही उपाय है। संकट दूसरी तरह टलना असम्भव है। वह उपाय यह कि नेतृत्व समय से पिछड़े नहीं, आगे बढ़े। समय को उलट कर कोई चल सकता है, यह सम्भव नहीं है। समय को रोकने से प्रलय फूट निकले तो विस्मय की बात न होगी। गांधी की बातों को पुरातन और जीर्ण और ग्राम्य कहकर इस ऐतिहासिक यथार्थ को किसी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता कि इसी विज्ञानवादी बीसवीं सदी के राजकारण में गांधी ने चमत्कार दिखाया था और उसके शब्द आज भी प्रबुद्ध मानस को छूते और पकड़ते हैं। मानव के ज्ञान-विज्ञान में मार्क्स का वाद-दर्शन जिस गहराई तक उतरा है, उससे ज्यादा गहराई तक गांधी का कर्म-दर्शन उतर चुका है और उतरता जायेगा। समय के इस निर्देश पर आँख मूँदी नहीं जा सकती। उसको पहचानना ही होगा और नेतृत्व को अपने आचरण द्वारा इस सच्चाई की मिसाल बनना होगा कि समझे जाने वाले जीवन-मान की ऊँचाई से और खर्चे की बढ़ाई से आदमी बड़ा नहीं होता है, बड़ा नैतिक गुणों से और सेवा के स्वभाव से हुआ जाता है। इन बातों को भावुकता की कहकर टालने से प्रजा और राजा के बीच की बढ़ती हुई खाई को और बढ़ने से रोका नहीं जा सकेगा। यह हाल रहा तो धीरे-धीरे हाईकमान के एक-एक सदस्य को अपनी जगह पर अपराधी बनना पड़ जायेगा। हर आदमी अच्छी तरह रहना चाहता है और जो सबके लिए खुशहाली का बीड़ा उठाते हैं उनसे यह दावा रखना चाहता है कि वे पहले उसे खुशहाल बनायेंगे। हो, तो पीछे ही खुशहाली अपनायेंगे, नहीं तो नहीं अपनायेंगे। वह अगर यह देखेगा कि उसके स्वयं के हाल खस्ता हैं, जबकि नेताई की राह पर थोड़ी दूर चलकर अमुक महाशय जरा में मालामाल हो गये हैं, तो निश्चय रखिए कि भ्रष्टाचार को रोकने की कोई योजना कारगर होने वाली नहीं है।

अप्रैल, '64.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य, धर्म और साम्प्रदायिकता

आपने यहाँ अनेक भाषण सुने, मैंने भी सुने और ऐसा लगा कि आपने मुझे इस गोष्ठी का अध्यक्ष चुनकर गलती की। मुझे इस विषय के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता का अनुभव हो रहा है। यह बात मैंने आपके आयोजकों से पहले ही कही थी, पर वे माने ही नहीं। एक तो मैं हिन्दी का लेखक समझा जाता हूँ, इस नाते, और दूसरे जैनी हूँ इसलिए भी शायद मुझे यहाँ अध्यक्षता करने के लिए बुलाया गया है।

इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए बहुत से जैन बन्धुओं ने मुझसे अनेक बार कहा है, 'तुम लेखक हो, साहित्य लिखते हो। जैन साहित्य लिखते न।' उनकी बात सुनकर मैं सोच में पड़ जाता हूँ कि क्या जो कुछ मैं लिखता हूँ वह साहित्य जैन नहीं है। मेरी दृष्टि में तो वह अजैन साहित्य नहीं है। क्या जैन धर्म-ग्रंथों में वर्णित नामावलि तथा शब्दावलि के प्रयोग से साहित्य जैन बन जाता है? उस सूरत में ऐसा भी तो हो सकता है कि वह साहित्य जैन तो हो, साहित्य हो ही न। अतीत काल में ऐसा हुआ है। हमें बहुत लम्बे काल का साहित्य नहीं मिलता, पता नहीं कहाँ लुप्त हो गया। जो मिलता भी है उस पर धार्मिक छाप अधिक गहरी होने के कारण वह वाङ्मय हो सकता है, साहित्य नहीं रह गया।

मेरे विचार में श्रद्धा यदि सही है, वह धार्मिक है, कार्मिक नहीं—तो श्रद्धा से युक्त रचना अजैन कैसे हो सकती है। श्रद्धा है तो जैन धर्म भी साहित्य में स्वमेव आ जायेगा। अपना एक उदाहरण देता हूँ।

यू.पी. एस. सी. ने किसी उच्च पद पर नियुक्ति के लिए एक इन्टरव्यू रखा। जिसमें सभी उच्च-शिक्षा प्राप्त प्रत्याशी थे। सब एम.ए., पी-एच.डी.। एक प्रत्याशी से पूछा गया, "क्या पढ़ाते हो?" उसने कहा—"हिन्दी साहित्य!" फिर पूछा गया—"उसमें किसी रचना का नाम लीजिये।" उसने कहा—"जैनेन्द्र की कहानी—बाहुबली"। मुझे तब पता चला कि वह कहानी उत्तर प्रदेश में किसी पाठ्य-पुस्तक में संकलित है। अब वह कहानी विद्यार्थी पढ़ते हैं और अध्यापक पढ़ाते हैं! किसी को पता तक नहीं होगा कि यह जैन कथा है। वहाँ तो वह साहित्य के रस से पढ़ी-पढ़ाई जाती है। वह तो समान रूप से सबके लिए उपयोगी है। मेरे जैन होने का यह लाभ कहानी को हुआ। इस कहानी में यदि आध्यात्मिक सार को देखा जाये तो वह वही होगा जो मूल कथा में सन्निहित है। इस प्रकार जाने-अजाने जैनत्व की पूर्ति हो जाती है। विद्यार्थी और पाठक तो जैन-अजैन नहीं जानते। वैसे मैंने तो जैनों के बहुत शब्द साहित्य में चला दिये हैं जैसे 'सम्यक दर्शन', 'कैवल्य' आदि। वह साहित्य में इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि लोगों को इसका पता नहीं चलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ लोग फिर भी कहते हैं कि आप जैन साहित्य लिखिये। उनको इससे संतोष नहीं है। उनकी दृष्टि में तो वही साहित्य जैन है जिसमें जैन त्रैसठ शलाका पुरुषों की नामावलि हो, जैन शास्त्रीय पदावली हो। साहित्यकार को 'जैन' और 'साहित्य' दोनों शब्दों के वज़न का ख्याल रखना पड़ता है। जैन साहित्य रचते-रचते कहीं ऐसा न हो कि उसकी साहित्यिकता नष्ट हो जाय। साम्प्रदायिकता के नाम पर अनेक बार ऐसा हुआ है।

अब मैं बताता हूँ कि यह 'बाहुबली' कहानी कैसे लिखी गई। जब मैं आठ वर्ष का था, हस्तिनापुर में जैन गुरुकुल में पढ़ता था। वहाँ एक दिन आदि-पुराण में ऋषभ कुमार और बाहुबली की कथा आई। संवेदनशील तो मैं शुरू में था ही—कथा सुनते ही लगा रोने और बहुत देर तक रोता रहा। गुरुजी ने पूछा—'क्यों रोते हो?' तो मेरा बोल न निकला बल्कि और जोर-जोर से रोने लगा। अब मैं बड़ा हो गया हूँ, पर वह भाव हृदय में स्थिर हो गया है।

कुछ दिन पहले जब मैंने फ्रांस के नोबल पुरस्कार विजेयता श्री अनातोले फ्रांस का 'थाई' उपन्यास पढ़ा तो मुझे वही बाहुबली की कथा याद आ गई। मैं उसको लेकर एक उपन्यास की रचना करना चाहता था, पर वह इच्छा पूरी नहीं हुई, फिर भी एक कहानी अवश्य लिखी गई है।

अब ब्यौरे की बात जाने दीजिये पर इतना अवश्य है कि मैंने उस समय जो कहानी पढ़ी थी वह इससे भिन्न थी—कहानीकार जैनेन्द्र ने उस कहानी को थोड़ा बदल दिया है। अन्त में अंहकार टूटने की बात आती है, वहीं मैंने थोड़ा अन्तर कर दिया है। होता यह है कि बाहुबली कठोर तपस्या कर रहे हैं। उनकी महिमा सुनकर उनके चारों ओर प्रशंसकों का मेला लग जाता, पर उन्हें कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती। उधर 'भरत' चक्रवर्ती राजा होते हुए, सभी प्रकार के उपभोग करते हुए भी, कैवल्य की प्राप्ति हो गई है। यह देखकर कुछ लोग ऋषभ देव के पास पहुँचते हैं और उनसे इसका कारण पूछते हैं। वह बताते हैं कि अभिमान अभी टूटा नहीं है। इसीलिए कैवल्य ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है। धीरे-धीरे लोगों की भीड़ छंट जाती है। भक्तों का मेला हटते ही अभिमान टूटता है। ज्ञानी लोग बाहुबली को अपना लेते हैं और कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यदि पाठक कहानी के सार को समझ लेते हैं, तो कथाकार का प्रयास सफल हो गया।

आज की यह सभा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में हो रही है और हिन्दी मेरी अपनी भाषा है अतः अपनी बात नहीं कहता। उन लोगों की बात करता हूँ जो 'जयहिन्द' कहते हैं। हिन्द का जो कुछ है उसकी बात कहता हूँ। हम भारतवासियों को समझ लेना चाहिए कि हिन्दी की जय हिन्द की जय है, अंग्रेजी की जय हिन्द की पराजय है। हिन्दी की जय के बिना हिन्द की जय नहीं हो सकती। यह बात मैं एक विनम्र नागरिक की हैसियत से कहता हूँ। यदि भारत में प्रजातंत्र को रहना है तो जन-साधारण में बोली तथा समझी जाने वाली भाषा का सहारा लेना होगा। हिन्दी हिन्द की है, उसका सहारा लेना होगा। यदि हम इसका सहारा नहीं लेंगे तो भारत की जय नहीं होने वाली है।

आप देखेंगे कि हर एक धर्म का कोई-न-कोई केन्द्रीय व्यक्ति और केन्द्रीय ग्रन्थ है। पर हिन्दुओं के अनेक आचार्य, अनेक शास्त्र-ग्रन्थ और अनेक देवता हैं। अर्थात् हिन्दू शब्द किसी एक संज्ञा से बँधा नहीं है। फिर भी आज हिन्दू शब्द में कुछ साम्प्रदायिकता का बोध आ गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज भी हम भारतवासियों के पास एक शब्द हैं जो किसी एक स्थान, वर्ग, सम्प्रदाय तथा प्रदेश से बँधा नहीं, वह संकीर्ण नहीं है, वह है 'हिन्दी'। कुछ लोगों के ओछेपन को छोड़ दीजिये। हिन्दी की अवज्ञा का शोर मचाने वालों की बात छोड़ दीजिये। हिन्दी के इन्हीं दावेदारों के कारण हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप लगा है। थोड़ी सूक्ष्मता के साथ देखिये तो पता लगेगा कि हिन्दी शब्द हिन्द के साथ सीधा जुड़ा है। हिन्दी भाषा की जय नहीं होगी तो हिन्द की जय हो नहीं सकती। यदि वेशभूषा और टेबल मैनर्स की वजह से अंग्रेजी का महत्त्व है तो वह अहिंद की जय है, हिन्दी की नहीं।

मैं किसी प्रकार के मोह के कारण ऐसा नहीं कह रहा हूँ—हिन्द के एक प्रेमी के नाते कह रहा हूँ। हिन्दी हमारी राष्ट्रीय एकता की प्रतीक है। वह हमारी धर्मपरायण संस्कृति का प्रतिबिम्ब है और उसी संस्कृति के प्रति लगन होने के कारण मैं यह कह रहा हूँ। हमारी गतिविधि अंग्रेजी के अनुसार चलती रही, जिसमें वेल्फेयर, प्रोडक्शन आदि है तो हमारा विकास नहीं होगा। हमारा विस्तार नहीं होगा। यदि हमारे ज्ञान में आत्मोपलब्धि नहीं, सेल्फ रियेलाइजेशन नहीं, अपनी भाषा का वीजन (Vision) नहीं, दर्शन सम्यक् नहीं, आत्मपरक नहीं तो आज का यह अर्थ-दर्शन, समाज-दर्शन, राजनीति-दर्शन सब मिथ्या है। सच्चा ज्ञान सम्यक्-दर्शन पर आधारित होता है अन्यथा वह अज्ञान है। क्योंकि उसके संदर्भ में सम्यक् नहीं है। आज तो को-एफिसिएन्ट (Co-Efficient) पर सब-कुछ निर्भर करता है। पर देखना यह है कि कोई राशि किस खाते में लिखी गई है, जमा खाते में या ऋण खाते में।

अब 'देन' का प्रश्न लीजिये। देन दो प्रकार की होती है। एक तो ऐसी देन जिसके विषय में हम कहते हैं कि इस पर मिट्टी डालो। दूसरी वह जिस पर हम अनुसंधान कार्य करते है। एक आदमी मोहल्ले में रहता था, मर गया। बहुत कुछ कर गया। किन्तु उसके कृतित्व के विषय में कुछ कहते हैं कि साहब उस पर मिट्टी डालो, उसे भूलने में ही खैरियत है। इतिहास भी उसे भुला देता है। इतिहास में अनेक सम्राट् आये और चले गये। हम उनकी राजनीतिक देन खोजते हैं। मुसलमानों के यहाँ तो पुत्र बाप को अपने रास्ते से साफ करता आया है। लोग उन्हें भूल जाते हैं।

पिछले ढाई हज़ार वर्षों में क्या-क्या नहीं हुआ होगा, पर उस समय एक 'महावीर' हुए। आज हम अनुसंधान करते हैं कि उन्होंने हमारे लिये क्या-क्या छोड़ा। लोग कहते हैं कि उन्होंने यह छोड़ा, वह छोड़ा, यह त्यागा, वह त्यागा। उनके त्याग की महिमा गाई जाती है। पर जब छोड़ने की बात कही जाती है तो मुझे तकलीफ होती है। मैं पूछता हूँ कि अधिक महत्त्व किसका है जो छोड़ा उसका या जो पाया उसका? जैन शास्त्रों में त्याग की जितनी महिमा गाई गई है जैन लोग उतने ही अधिक संग्रह धर्मी हैं। ऐसा क्यों होता है? कारण, स्पष्ट है कि हमारा ध्यान जो छोड़ा उसकी ओर अधिक रहता है, प्राप्य की ओर कम। यदि आप महल छोड़कर कुटी में चले जाते हैं तो कुटी बड़ी है, महल नहीं। क्योंकि कुटी महान उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक है। अतः पाया बड़ा है, छोड़ा बड़ा नहीं।

महावीर ने कोई साहित्य रचना नहीं की। महावीर के तो मुँह से ही क्या, अणु-अणु से खद्यप ध्वनि विकीर्ण होती थी जिसे गणधरों ने वाणी दी। आचार्यों ने उसके आधार पर रचना की और हम आज उसके अनुसंधान की बात कर रहे हैं। यह दूसरे प्रकार की देन है। इसी से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य साहित्य बनता है। महावीर तो ज्ञान के सूर्य थे। यदि उस सूर्य की एक किरण का एक कण भी हम पा जाते हैं तो हम प्रेममय हो जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व इतना विशाल हो जाता है कि हम 'स्व' को भूलकर दूसरों के विषय में सोचने लगते हैं कि किसी प्रकार सबको मोक्ष मिल जाये। यहाँ पहुँचकर 'मैं' की भाषा समाप्त हो जाती है और व्यक्ति तीर्थंकर बन जाता है। इसके अलावा अरहंतत्व और क्या है? कोई किसी के दुःख में दुखी हुआ कि वह आनन्दमय हो गया है। दर्द हद से गुजरा तो दवा हो गया। वहीं प्रेम का कण प्रकट हुआ, उसकी अभिव्यक्ति हुई तो साहित्य बन गया। अपने को विसर्जित करके ही साहित्य की रचना की जा सकती, और उसी के कारण लोग साहित्यकार को याद करते हैं।

अन्त में मैं एक बात जैनों को कहता हूँ कि वे जैनेतर लोगों के गुण देखें। वास्तविक अहिंसा है। अपनी पूजा करने का भाव हिंसा है। दूसरों से टकराना हिंसा है। यदि आपमें यह भावना रही कि यह धर्म हमारा है तो फिर अन्य लोग कहेंगे कि ठीक है आप इसे मानें, उनका इससे क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार उन्हें कोई नहीं पूछेगा। 'स्व' का भाव भुलाया तो जैनों की देन को सब लोग अपनाएँगे। आपका जलूस निकले तो लोग अनुभव करें कि यह उनका भी है केवल आपका ही नहीं है। अपने धर्म को विश्व धर्म बनाने की जिम्मेदारी हमारी है? हमारे धर्म की ऊँचाई हमसें ऊँची नहीं जा सकती। धार्मिक के बिना कोई धर्म ऊँचा नहीं बन सकता। अहिंसा को छोड़कर आज दूसरा रास्ता भी क्या है? है तो वह विनाश का है। लोग बम बना तो रहे हैं; पर लोगों की समझ में यह रास्ता नहीं आ रहा। वह तो मरने का रास्ता है और अहिंसा तो जीने का रास्ता है, यह बताने की ज़रूरत नहीं। आज तो श्रद्धा और बुद्धि में संघर्ष है। कुछ लोग धर्म को अफीम बताते हैं पर मैं तो कहता हूँ कि साम्यवाद भी एक धर्म है, वह नये किस्म की अफीम है। उसमें भी दूसरे से टकराने की बात है, अपने को श्रेष्ठ बनाने का भाव है। यह तो अहिंसा का मार्ग नहीं है, भारतीय नहीं है। आज के दिन हम देखें कि हम क्या करें कि लोग हमारी देन को याद करें।

अगस्त, '58

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित गोष्ठी में हुए भाषण से—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभाषा का प्रश्न और भावनात्मक एकता

...'

मैं इतनी दूर देहली से दक्षिण के अभिनन्दन के लिए यहाँ आया हूँ। देहली को देश की आप दहलीज़ ही मानिये, सच मानिये कि वह अभ्यन्तर नहीं है। द्वार के आस-पास ड्राइंगरूम रहता है। दिखावा जो हो सब वहीं रखा जाता है। लेकिन वह तो घर का सामना भर है। घर का धर्म और रहस्य, उसका सुख दुःख, आशा-स्पृहा, आकांक्षा-अभिप्सा, घर के भीतर गहरे में रहती हैं, द्वार पर उघड़ी नहीं होतीं। जब यहाँ का निमन्त्रण मिला तो यही अनुभव किया था कि द्वार से हटकर मैं अब देश के अभ्यन्तर में जाने का अवसर पा रहा हूँ। इस कृतार्थता को इसलिये मैं छोड़ नहीं सका। सच मानिए, उत्तर यदि देश की लड़ाइयों के लिए मैदान बनकर रहा है तो दक्षिण मन्दिरों, चैतन्यों का प्रदेश है। जहाँ भारतीयता अभी उतनी छिन्न-भिन्न नहीं हुई है और जहाँ जीवन की सहज वृत्ति पर माल-असबाब उतना सवार नहीं हो पाया है।

मैं उत्तर के खंड से आया हूँ जहाँ भाषा हिन्दी है। वह वहाँ कि सहज भाषा है और सीखे बिना भी आ जाती है। यहाँ इस अवसर के साथ आपने उस संस्था की रजत जयन्ती का उत्सव मनाया है जिसने अपनी पच्चीस वर्ष के जीवन में सतत हिन्दी भाषा सीखने-सिखाने का प्रचार किया है। मुझ जैसे व्यक्ति पर देश की ओर से उसका यह इतना बड़ा ऋण है कि उससे कैसे उऋण हो सकूंगा यह मैं जानता नहीं हूँ। शायद उऋणता सम्भव नहीं है। सम्भव हो तो इसी प्रकार सम्भव हो सकती है कि आपकी तमिल भाषा को ही नहीं बल्कि अन्यान्य दक्षिण की भाषाओं को भी मैं इतना ही आत्मीय बना पाऊँ, जैसे आपने हिन्दी को बना लिया है। यहाँ आकर अपनी यह लज्जा पहले ही आपके समक्ष प्रकट कर देना मेरा कर्त्तव्य है कि मैं कोई भी आपकी दक्षिण की भाषा नहीं जानता हूँ। फिर किस अधिकार से मैं यहाँ बोलने आ गया हूँ? अधिकार केवल आपकी कृपा का है। वह अधिकार ऐसा है जिसको लेकर मैं गर्व नहीं मान सकता, नम्र ही बन सकता हूँ।

हम यहाँ देश की सभी भाषाओं के लोग इकट्ठे हो गये हैं। हिन्दी को लेकर ऐसा अवसर नहीं हुआ करता है। हिन्दी में इतनी सुविधा नहीं मानी जाती। समूचे देश की सभाएँ होती हैं तो अंग्रेज़ी भाषा से काम लिया जाता और उसी माध्यम को अधिक सुभीते का समझा जाता है। अंग्रेज़ी अंग्रेज़ों की भाषा है और अभी कुछ बरस पहले तक अंग्रेज़ों का यहाँ राज था। वह राज्य सारे देश पर छा गया था और इसलिए अंग्रेज़ी से यह लाभ हो जाता था कि लोग भाषा-प्रदेश की सीमाओं के पार अपने प्रभाव को फैला सकते थे। उस समय ऐसा बताया और समझा जाने लगा था कि राष्ट्रभाव इस भारत देश में अंग्रेज़ों से और अंग्रेज़ी से आया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यथा भारत बिखरा और बँटा हुआ था और उसमें एक-राष्ट्रता का भाव न था। अंग्रेज़ी भाषा जो अंग्रेज़ी राज्य के सहारे ही देश में अपने को एक अनुभव करने की यह मज़बूरी देखी तो गांधी जी को इसमें खटका मालूम हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि यह एकता नहीं होगी। यह तो विदेशी और फ़र्ज़ी एकता रह जायेगी। उन्हें यह आवश्यक मालूम हुआ कि भारत अपना विकास भारत रहकर करे। उनकी उन्नति आत्मवान् उन्नति हो और अपने अंतरंग को कीमत में देकर विधान या राज्य की एकता उसे खरीदनी न पड़े। इसीलिए शुरू में उन्होंने यहाँ सुदूर दक्षिण में हिन्दी प्रचार की नींव डाली और अपने पुत्र देवदास को इस काम के लिए अर्पण किया। हिन्दी उनकी मातृ भाषा न थी। भाषा गुजराती थी और अंग्रेज़ी में लिखना पड़ा। उसे छोड़कर अपने अन्तर मर्म की सब बात उन्होंने गुजराती में ही प्रगट की। लेकिन भारत प्रेम के नाते हिन्दी से उनका अनन्य प्रेम और उस पर अनन्य आग्रह रहा। कारण, भारत के सम्बन्ध में उनकी आकांक्षा इतनी ही नहीं थी कि वह राजनीतिक रूप से स्वाधीन देश होगा, बल्कि उसमें यह भी शामिल था कि स्वाधीनता का वह ऐसा उपयोग करेगा कि भारत की संस्कृति और उसकी विशेषता दुनिया के लिए प्रकाश बनेगी और संकट में से एक त्राण का मार्ग एक दिन विश्व के लिए खोल सकेगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज के इतिहास में अगर संस्कृति की कोई परम्परा आदिम प्राचीन से सम्प्रति वर्तमान तक अविच्छिन्न कही जा सकती है तो वह भारतीय संस्कृति ही है। यह आरोप कि भारत अंग्रेज़ से पहले राष्ट्र के रूप मैं एक न था। अगर सच भी हो तो स्वयं यह आवश्यक बनता है कि प्रचलित राष्ट्रभाव की हम जाँच-पड़ताल करें। कारण यदि राजनीतिक राष्ट्र के रूप में, भारत अपने इतिहास भर में कभी एक नहीं रहा तो भी केवल इस भारत के सम्बन्ध में ही सत्य है कि सहस्राब्दियों से वह एक अजस्र और अखंड रूप में टिका आ रहा है। यह एकता व्यवस्था या शासन की नहीं थी, भाव की, आदर्श की और अन्तरंगता की थी कि काल उसका कुछ बिगाड़ नहीं सका। इस सत्यता के प्रकाश में शायद हमें स्वयं राष्ट्र और राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में फिर से सोचने की आवश्यकता हो सकती है। यह विचार और पुनर्विचार इसलिए भी ज़रूरी है कि विश्व में आज का संकट इन्हीं राष्ट्रवादी धारणाओं पर दुर्ग बाँधकर खड़ा हुआ है।

हिन्दी भाषा-भाषी के नाते मैं विनत और मूक ही हो सकता हूँ, तब भारतीय निष्ठा की ओर से मैं आपको बधाई देता हूँ कि हिन्दी भाषा की भूमिका पर आपने सारे देश को आमन्त्रित और एकत्रित किया है। देश की वह एकता जो व्यवस्थात्मक से आगे भावात्मक होगी। स्वदेशी भाषा अथवा भाषाओं से बिछुड़ी हुई न हो सकेगी।

राष्ट्र में जितनी भाषाएँ हैं, सभी राष्ट्रभाषाएँ हैं। किन्तु यदि उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जिसमें राष्ट्र एक हो और केवल एक विदेशी अर्थात् अंग्रेज़ी भाषा ही उस एकता को धारण करने के लिए बच जाती है तो यह उस एकता के भविष्य के लिए शुभ-संवाद नहीं है। आपका यह प्रयत्न इसलिए और भी साधुवाद के योग्य है कि अंग्रेज़ी की यह निर्भरता आज काफी स्वयं-सिद्ध और फैशनेबल बनी हुई है।

भाषाओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए अजब मालूम होता है, जब भाषावाद का भी एक संकट बताया जाता है। भाषा एक बोलता है दूसरा समझता है, एक लिखता दूसरा बाँच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेता है। अर्थात् उसकी सृष्टि 'स्व' से नहीं 'परस्पर' से होती है। परस्परता का विस्तार और विकास अनिवार्य है। काल और इतिहास का इसके सिवा और दूसरा अर्थ ही क्या है कि वे परस्परता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष साधें। यह प्रक्रिया जब रुकती है तब अवरोध और संकट जान पड़ता है। अन्य कुछ तो शायद स्वत्व बन भी सकता है और उसको सुरक्षित और बन्द रखने की भी सोच सकते हैं। पर भाषा वह तत्त्व है जिसे किसी सीमा में पाबन्द नहीं किया जा सकता। उसका लेन-देन बाहर की ओर और अन्यान्य के साथ होता ही रहता है। इस प्रक्रिया में, भाषाओं में, समय के साथ इतना फेरबदल हो जाता है कि पहचानना मुश्किल है। संस्कृत तो प्रकृत भाषा नहीं है। अपनी संज्ञा से ही वह नियमों द्वारा सँवारी और साधी गई भाषा है। पर उस तक में इतना अन्तर आ गया है कि वेदों की भाषा में गति रखने वाले इने-गिने ही संस्कृत विद्वान् आज मिलेंगे। इस प्रदेश की तमिल प्राचीनतम भाषाओं में से है। उसकी परम्परा सजीव है और साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। लेकिन आधुनिक तमिल प्राचीन से निश्चय ही भिन्न हैं।

स्वत्व को सर्वत्व की ओर उन्मुख ही रहना है। इसी में से वह स्वत्व परस्परता के विस्तार के द्वारा विराट, और विराट से विराटतर होता जाता है। भाषाओं के विकास की कहानी में यह सत्य और भी प्रकाशित दीखेगा। भारतीय भाषाओं के बीच हिन्दी की विलक्षण स्थिति है। वह उस रूप में बोलीचाली नहीं जाती या बहुत सीमित प्रदेश में बोली जाती होगी। लगभग सब कहीं कुछ-न-कुछ उसका जनपदीय रूपान्तरों ने मिल-जुलकर उसे रूप दिया है। वह एक मिश्रित नागरिक भाषा है जिसको लोग हाट-बाट में व्यवहार में लाते हैं और घर-द्वार में पहुँचकर फिर अपनी मूल बोलियों से काम चलाने लग जाते हैं। हिन्दी का साहित्य उस अर्थ में सबसे कम प्राचीन और बदलती हुई परिस्थिति और राजनीति के सबसे अधिक अधीन रहा है। उसके स्वरूप निर्धारण में बाह्य धाराओं का बड़ा प्रभाव है। उसने मानों फैलती हुई परस्परता में से उदय पाया है। अभी हाल तक खड़ी बोली हिन्दी को उर्दू से अलग पहचानना मुश्किल था। उर्दू तो कहते ही लश्कर और छावनी को हैं। अर्थात् संघर्ष के द्वारा रूप और विकास पाते हुए जीवन की आवश्यकता में से उसका जन्म और पोषण हुआ है। इस तरह उसका रूप कम-से-कम सुनिश्चित है और अधिक-से-अधिक उसमें अवकाश हैं। राजनीतिक बल शायद उसमें विशेष है; और सांस्कृतिक गाम्भीर्य अपेक्षाकृत कम हो सकता है। व्यापकता का गहराई के साथ अनिवार्य सम्बन्ध भी नहीं है। हिन्दी का उदय और उत्थान; उसका विस्तार और रूप-निर्माण मानो विकासशील राष्ट्र जीवन के तर्क से ही हुआ और होता रहा है। फिर भी यह हिन्दी किसी बाहरी प्रसाधन में से ही नहीं उपजी और यह भारत देश मानो धर्म-प्राणता द्वारा सदा से एक बना चला आ रहा है। और नाना मत सम्प्रदाय उसमें समावेश पाते गये हैं। पुण्य भावना में साधु-सन्त और यात्री-गिरस्ती तीर्थधामों की प्रदक्षिणा करते हुए एक से दूसरे प्रदेशों में घूमते रहे हैं। भारतीय मानस और मानव की यह यात्रा इतिहास में कभी नहीं रुक पाई है। इसको अवश्य सदा ही किसी-न-किसी भाषा का सहारा रहा है। वह भाषा व्यवहारोपयोगी रूप में हमेशा बनी रही है और कभी नष्ट नहीं हुई। अंग्रेज़ के जाने पर अवश्य ऐसा मालूम हुआ कि उसे धरती में मुँह गाड़ना और फैशन के चलन से बाहर हो जाना पड़ा है जिसे आज हम हिन्दी कहते हैं। मूल आधार में वह सीधी उस प्रकृत या प्राकृत या अपभ्रंश की धारा से जुड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई है। इस भाँति जन-भाषा हिन्दी के मूल को इतिहास में गहराया हुआ भी देखा जा सकता है। किन्तु यह जन-भाषा हिन्दी कोई ऐसी निर्दिष्ट और नियंत्रित भाषा नहीं है कि अमुक वर्ग या प्रान्त उसके सम्बन्ध में स्वत्व-गर्व रख सके। वह खुली भाषा है, बनती और बहती हुई भाषा है। उसमें अपनी अस्मिता नहीं हो सकती। सभी भाषाओं का अनुदान उसमें पड़ सकता और उसके रूप-निर्माण में अपना भरपूर प्रभाव दे सकता है।

मुझे निश्चय है कि सब भारतीय भाषाओं का भविष्य एक और एक साथ है। एक की उन्नति में सबका उत्कर्ष है। ऐसा हो नहीं सकता कि एक का उद्योग दूसरे को प्राप्त न हो। यह अनिवार्यता वस्तुस्थिति में ही गर्भित है और असम्भव है कि सब भाषाओं की परस्परता अधिकाधिक घनिष्ट न होती जाये। बाधा तब पड़ती है जब हम एक-दूसरे के निकट आते हैं और अपनी-अपनी निजता और निजभाषा को छोड़कर आते हैं। यह सम्पर्क जो अंग्रेज़ी के द्वारा सिद्ध हो जाता है मानो काम-काज तक ही रहता है और आगे दोनों को अलग किनारों पर छोड़ जाता है। वह परस्पर के आदान-प्रदान द्वारा होने वाली हार्दिकता से सूखा रह जाता है और भावात्मक ऐक्य की स्थिति नहीं पैदा होने देता। भाषा के रूप में अंग्रेजी को तमिल या हिन्दी क्या दे सकती है? अंग्रेजी की प्रकृति ही न्यारी है। किन्तु भारतीय भाषाओं की बहुत दूर तक एक ही प्रकृति है। उन सबका अधिष्ठान भी एक ही संस्कृति में है। इस तरह यदि वे सीधे परस्पर सम्बन्ध में आयें तो एक-दूसरे में उतरे और रँगे बिना नहीं रह सकतीं। आवश्यकता है कि हम इस तथ्य को जल्दी-से-जल्दी पहचान लें कि सब भारतीय भाषाएँ एक साथ हैं और एक भवितव्य में बँधी हैं। अपने आपसी सम्पर्क के लिए जब वे पराया सहारा लेती हैं तो मानो अपने बीच अन्तर और अलहदगी को मज़बूत बनाती और सारे देश को कमज़ोर करती हैं।

भाषाओं को लेकर यदि कहीं स्वत्व का गर्व और अहंकार देखा जाता हो तो यह राजकारण की देन है। अस्तित्व-विग्रह के क्षेत्र में स्वत्व की चिन्ता हठात् हो आती है। स्पर्द्धा-प्रतिस्पर्द्धा की वासना वहाँ काम करती है। किन्तु हम जानते हैं कि स्वत्व और परत्व के बीच संघर्ष है तो वह सामयिक है। वह है तो इसीलिए है कि स्व और पर भाव में शनैः-शनैः परस्पर भाव पैदा हो। तात्कालिक आवेशों के नीचे तो स्वत्व और परत्व के बीच आग्रह और दुर्भाव बन ही आते हैं। लेकिन इतिहास साक्षी है कि आवेश तत्काल के साथ ही जीते और उसी के साथ मर भी जाते हैं। उनकी सिद्धि और परिणति बस इसमें है कि अनबन के नाते ही होते-होते उनमें परस्परता और आत्मीयता का निर्माण होता जाये। इस सभा में हम लोग अधिकांश साहित्यिक हैं। साहित्य की निष्ठा पारस्पर्य और साहचर्य में है। तत्काल तो अपना घड़ी भर का खेल दिखाकर व्यतीत बन जाता है। उस समय व्यक्ति के पास यदि निष्ठा न हो तो वैर ही प्रधान धर्म-कर्म बनता है और भविष्य के लिए अपनी बेल छोड़ जाता है। आवश्यकता है कि निष्ठावान साहित्यिक राजनीति के मतावेशों के अधीन तत्काल पर ही समाप्त न हों, बल्कि वर्तमान को भावी की दिशा में निर्माण देने की और मूल्यों की भाषा में सोचें। भविष्य की श्रद्धा लेकर वर्तमान के प्रति व्यवहार करने से ही हम विकास के अंगभूत हो सकेंगे, अन्यथा विघ्न और बाधा समझे जाएँगे। वह राजकारण जो तत्काल को ही प्रधानता देकर चलता है, शायद एक ही निराकरण में दूसरी समस्या उपजाता जाता है। सम्भव है कि राजकारण की वही मर्यादा हो और उसकी औषधि साहित्य के पास ही बन आती है। जो हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूरदर्शन की सुविधा साहित्य को है और यह बड़ी जिम्मेदारी है।

किन्तु साहित्य इस भाषा में है या उस भाषा में है। मेरी भाषा में या आपकी भाषा में है। इस तरह भारत के पास एक साहित्य नहीं रहता, अनेक साहित्य हो आते हैं। उतने ही साहित्य कि जितनी भाषाएँ। राज्य अवश्य एक है, सदन एक है, कानून एक है, संविधान एक है, केन्द्रीय सेवाएँ एक हैं। साहित्य यहाँ कम-से-कम चौदह तो हैं ही। यदि साहित्य चौदह हैं तो भारतीय मनोभाव चौदह विभागों में खंडित बनें तो क्या आश्चर्य है? कानून और प्रशासन के ज़ोर से देश को अगर एक बना दिखाया या रखा जाता है तो निश्चय जानिये कि वह एकता भ्रामक है। उसमें फूट और फटाव के बीज हैं। दलों और वर्गों के ही नहीं, बल्कि अलग-अलग व्यक्तित्वों और स्वत्वों के बीच में भी वहाँ खिंचाव और तनाव हुआ करता है। अनेक वहाँ इकट्ठे मालूम होते हैं, लेकिन एक-एक अपने-अपने नक्शे रखता है। ऐसे वहाँ हर एक अपने दाँव और दूसरे की घात में रहता और केवल अपने लिए अवसर देखता हुआ ऊपर से अमुक अनुशासन में चलता हुआ प्रतीत होता है।

साहित्य ठीक इसी जगह राजनीति से भिन्न है। वहाँ मूल इसी स्वत्व का समर्पण और हर परत्व का स्वीकार व सत्कार है। इसलिए यद्यपि भाषाएँ चौदह हैं, लेकिन साहित्य एक है। सच पूछिये तो भारत का ही साहित्य एक नहीं है, समूचे विश्व का साहित्य एक है। भाषाओं के भेद से साहित्य में भेद नहीं पड़ता। कारण, साहित्य का सत्य मनुष्य है और साहित्य में भाव की ही प्रधानता है। इस दृष्टि से देखेंगे तो जान पड़ेगा कि राष्ट्र और राष्ट्रवाद के आधार पर बने हुए उपनिवेशों और मतावेशों से उद्धार यदि मानव-जाति को कभी मिलने वाला हो तो वह साहित्य के मूल्यों के स्वीकार पर ही मिलेगा, अन्यथा अहंकारों में रगड़ और टक्कर होगी, उनमें परस्पर विसर्जन का भाव नहीं जागेगा।

आत्मा की ओर से भारतीय साहित्य एक ही है। इस कारण और भी आवश्यक हैं कि यथार्थ और वास्तव में भी उसके ऐक्य को प्रगट और पुष्ट किया जाय। राजकीय स्तर पर इस सम्बन्ध में काफी कुछ किया जा रहा है। विद्यमान शासकवर्ग कल्पनाशील है और इस ओर बहुत कुछ आगे भी करना चाहता है। किन्तु शासन और शासक की मर्यादाएँ हैं। शक्ति के आसन से आकर उसका कर्तृत्व मानव हृदय पर दबाव डाले बिना नहीं रहता। इसलिए एकता का काम स्वयं जन-मन और जनशक्ति के सबल से किया जाना चाहिए। उसका अभिक्रम ऊपर के बजाय मूल से आना चाहिए और विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों को स्वयं अपने हित में इस दायित्व की ओर ध्यान देना है।

यह दुःख की बात है कि भाषाओं में साहित्य के बारे में परस्पर घोर अपरिचय हैं। संस्थाओं द्वारा होने वाला काम इस विषय में हमेशा अधूरा रहता है। व्यावसायिक प्रतिभा को समक्ष आना चाहिए जो प्रणालियों का निर्माण करे और आदान-प्रदान के प्रवाह को परस्पर सहज कर दे। वर्तमान में सिनेमा और कला आदि के क्षेत्र सांस्कृतिक एकसूत्रता की दिशा में काम करते भी हैं तो वह अपर्याप्त रहता है। उनका स्तर गम्भीरता तक नहीं उठ पाता। शब्द का माध्यम वह है जो भाव के साथ विचार का भी वहन करता है। गम्भीर भावना के स्तर पर यदि भारत को एक ओर समर्थ बनकर विश्व के समक्ष आना हो तो वह साहित्यिक और नैतिक क्षमता के साधन और गठन से ही हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस क्षमता का गठन कैसे हो ? स्पष्ट है कि अहं भाव में हम बँटे हुए हैं। यदि एक होते हैं तो किसी परम भाव में ही हो सकते हैं। इसीलिए राजनीति में से एकता पाना अशक्य बना रहता है। अनेकता को काटने से तो एकता आती नहीं है और राजनीति का प्रयत्न कुछ इसी दिशा का हुआ करता है। वहाँ शक्ति की भूमिका है और बहुसंख्यक की प्रतिष्ठा के आधार पर यदि एकता होती है तो उसमें अल्पमत को दबना पड़ता है। इसीलिए यह एकता विकासशील नहीं हुआ करती, संरक्षणशील हो जाती है। साहित्यिक क्षमता के गठन के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक विविधता के प्रति आदर हो और नागरिक बल पर सबसे केवल परस्पर आदर अथवा सज्जनता की ही माँग हो, अमुक सदस्यता की नहीं। इस उदाराशयता के बिना गठन दल से संगठन बन जाता है और राजनीतिक समस्या पैदा करने लगता है।

हमारी भाषाएँ आपस में जितनी दूर हैं असल में वे उतनी दूर हैं नहीं। सब जगह संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द बहुतायत में मिलेंगे। क्रियापद आदि में कुछ भेद हो सकता है। लेकिन अधिक भेद और अंतराल लिपि-भेद के कारण होता है। संस्कृत के कारण देवनागरी लिपि सब के लिए पहले से ही परिचित है। वर्णमाला की आकृति भिन्न हो सकती हैं, आधार सब जगह लगभग अभिन्न है। सब भाषाएँ अपनी विशिष्ट लिपि के साथ यदि नागरी लिपि को भी अपनाने लग जायें तो आपस की खाई काफी कम हो सकती है।

देवनागरी लिपि यदि भारतीय बनती है तो आज के वेग के साथ ठहरने के लिए उसमें आवश्यक सुधार भी जल्दी किये जा सकते हैं। यदि वह लिपि हिन्दी की ही हो तो अमुक स्वत्व-भाव आवश्यक राष्ट्र-भाव की राह में बाधक बनकर आड़े आ सकता है।

विभिन्न भाषाओं में आपसी परिचय ही काफी नहीं है बल्कि उत्कर्ष की दिशा में सह-भाव भी आवश्यक है। इसके लिए एक मासिक पत्रिका की व्यवस्था होनी चाहिए जो भारत के उत्कृष्ट की प्रतिनिधि हो। मानो वाणी द्वारा भारत उस विधि इतर देशों के प्रति आत्मदान सम्पन्न करता हो।

एक केन्द्रीय पुरस्कार भी इसमें सहायक होगा। उसकी प्रतिष्ठा नोबेल पुरस्कार के समान होनी चाहिए और पूरी निष्पक्षता की सुरक्षा होनी चाहिए। उसमें भाषा का प्रश्न न हो और प्रतिवर्ष एक भारतीय कृति समक्ष आती रहे जिसके उपलक्ष से सब साहित्य स्फूर्ति और दिशा प्राप्त करें।

उत्कृष्ट कृतियों के चुनाव और उनके अनुवाद की व्यवस्था आवश्यक है जिसमें सरकार का हाथ न हो। अनुवादों के प्रकाशन और वितरण आदि की सरकारी सहायता की जा सकती।

अधिकाधिक ऐसे समागम होने चाहिए जहाँ विविध भाषाओं के साहित्यकार निकट परिचय में आयें।

सबसे मुख्य बात यह है कि साहित्य बाज़ार की विडंबनाओं से मुक्त हो। साहित्य भी यदि एक पेशा बन जाता है तो उसकी गति नीचे को खिसकती है; ऊपर नहीं उठ पाती। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है और उसका सम्बन्ध मानो समाज-व्यवस्था से ही हो आता है। आर्थिक सभ्यता साहित्य को अनुरंजन तक नीचे खींच लायेगी, दायित्वपूर्ति तक न उठने देगी। यदि अपने लिखे को खुले बाजार में बेचकर जीविका चलाने का मार्ग साहित्यकार के पास रह जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो कोई कारण नहीं है कि माँग और उत्पादन का सिद्धांत चल निकले और वे सब दोष इस क्षेत्र में भी आ जायें जो निरे व्यापार-व्यवसाय के माने जाते हैं। इस प्रश्न पर मैं इस समय यहाँ अधिक नहीं कहूँगा। लेकिन साहित्य के उत्कर्ष और उसके प्रभाव और दायित्व के प्रति जिनका ध्यान है उन्हें इस सम्बन्ध में विचारने की आवश्यकता है। कागज़ इतना बन और छप रहा है कि उसी के कारण शब्द की शक्ति क्षीण हुई जा रही है। उसी क्षीणता का अंत करना और क्षमता की प्रतिष्ठा करना है। आवश्यक है कि साहित्यकार समाज निर्माण के प्रश्नों के बारे में असावधान न रहे और उस क्रान्ति का अध्वर्यु बने जो इस अणुयुग में मूल्य क्रांति से कम नहीं हो सकती है।

अन्त में मैं आपका इतना समय लेने के लिए क्षमा चाहता हूँ और इस आशा के साथ वक्तव्य समाप्त करता हूँ कि भारतीय भाषा साहित्य पर-निर्भरता छोड़ेगा और भारतीय भाव में आत्म-प्रतिष्ठ होगा।

सितम्बर, '61.

अखिल भारतीय भाषा-सम्मेलन, तिरुचिरापल्ली, मद्रास, अध्यक्षीय भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभाषा कैसे बने !

....'

पिछले महीने का पत्र मैंने आपको टीकमगढ़ से लिखा था। वहाँ हिन्दी के काम करने वाले कई जमा हो गए थे। बनारसीदासजी तो थे ही। हम लोग मिलकर एक-एक दिन एक-एक विषय को ले लेते और चर्चा द्वारा एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते। इस स्वाध्याय-मण्डल में एक रोज राष्ट्रभाषा के बारे में भी विचार हुआ और हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

1. भाषा लोक-व्यवहार के सुभीते के लिए हैं। उससे अलग उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं। इसलिए लेखक की हैसियत से भाषा के बारे में इतना भी विचार काफी है कि वह सहज और हार्दिक हो।

भाषा का प्रश्न असल में जीवन के प्रश्न में घुला-मिला है। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि व्यक्ति की सहानुभूति सब ओर खुली हो और उसका जीवन उत्तरोत्तर व्यापक हो। वह आस-पास के जीवन से विलग न हो, बल्कि उससे मिला हुआ हो। तब भाषा अपने आप जैसी चाहिए वैसी होती चलेगी।

2.. हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा वह है जो उसके अधिक-से-अधिक भाग में समझी और बोली जाती है। उसे एक किनारे से हिन्दी तो दूसरे किनारे से उर्दू भी कहा जा सकता है। आसानी के लिए उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

3. राष्ट्रभाषा की लिपि। अभी तो, नागरी और फारसी दोनों मानी जा सकती हैं। जब एक लिपि का सवाल आवे, तो देश के सब लोग मिलकर उसका विचार और निर्णय करें।

4. प्रत्येक हिन्दी के लेखक को उर्दू और हर उर्दू वाले को हिन्दी जानना ज़रूरी है।

5. कोशिश करनी चाहिए कि हिंदी वाले अपनी सभा और समाजों में उर्दू के काम करने वालों को, और उर्दू वाले अपनी सभाओं और जलसों में, हिन्दी कार्यकर्ताओं को बुलावें। इसके लिए अगर एक ही प्लेटफॉर्म बनाने की योजना हो तो अच्छा है। इस सम्मिलित योजना की भूमिका सांस्कृतिक हो।

6. भाषा के बारे में किसी शब्द के प्रति बहिष्कार की वृत्ति न हो। ध्यान यही रखा जाये कि वह शब्द आम जनता में खपने लायक है।

7. राजनीति, विज्ञान या और शास्त्रीय विषयों के लिए जहाँ नये शब्दों की ज़रूरत पड़े वहाँ भरसक देशज शब्दों से काम चलाया जाये।

8. भाषा के बारे में यह चेतना बिल्कुल न रखी जाय कि उसमें संस्कृत और फारसी से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकले शब्दों का अनुपात कितना है।

9. असल में तो राष्ट्रभाषा के निर्माण से सब प्रांतीय भाषाओं और प्रादेशिक बोलियों को अपना-अपना दान देना है। इसलिए उस प्रश्न पर अखिल भारतीय दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए, न कि हिन्दी-उर्दू के मेल के ख्याल से।

इसमें कालम (3) में अभी तो कोष्टक में मैंने किया है। आज हिन्दी उर्दू दो हों, और दोनों में बदगुमानी हों, लेकिन क्यों न हम मान लें कि एक दिन आ सकता है, जब लगभग सब कोई दोनों लिपियाँ जानेंगे और इसलिए किसी भी एक की तरफदारी किये बिना उन पर विचार कर सकेंगे। तब समय होगा कि राष्ट्र-शक्ति के मितव्यय की दृष्टि से हम एक राष्ट्र-लिपि का निर्णय कर सकें। अभी तो कहकर हम भविष्य के सम्बन्ध में इसी राष्ट्रीय आत्मविश्वास का परिचय देते हैं। उसके नीचे छल नहीं सद्भावना है। फिर भी चूँकि हवा में शक भरा है इससे कोष्ठक के शब्द गिराये जा सकते हैं।

पहली धारा में यह रुख है, जिससे इस प्रश्न को लेना चाहिए अर्थात् भाषा के प्रश्न पर हिन्दुस्तानी नागरिक की, न कि इस या उस प्रान्तवासी या भाषा-भाषी की, हैसियत से विचार करना चाहिए। भाषा के सवाल से पहले ज़िन्दगी का सवाल है। यह जरूरी है कि आसपास के लोगों से हमारा हेलमेल बढ़े। ऐसे, हिन्दी में संस्कृत की तरफ और उर्दू में फारसी की तरफ बढ़ने की भावना कम हो जायेगी। बल्कि तब वे एक-दूसरे की तरफ खिंचेगी। राष्ट्रीयता अगर साम्प्रदायिकताओं में बँटकर कमजोर पड़ रही है, तो बहुत कुछ इसलिए कि हम पड़ोसी को पड़ोसी नहीं, बल्कि स्वधर्मी या विधर्मी, स्वपक्षी या विपक्षी के रूप में देखते हैं। पड़ोसी-धर्म पर ज़ोर देने से मैं मानता हूँ कि भाषा की समस्या की कठिनाई कम होती जायेगी।

हम अपने-अपने दायरे में घूमते हैं। हिन्दी वाला हिन्दी में, उर्दू वाला उर्दू में। तमाशा यह कि पड़ोस का साहित्यिक मेरे लिए एकदम अपरिचित रहता है और काशी-प्रयाग वाले मेरे अपने बन जाते हैं। यह सिर्फ इतने अन्तर से कि वह अपनी कहानी दूसरी लिपि में लिखता है। यह हालत आज हमको अस्वाभाविक लग आनी चाहिए। इससे, आगे सुझाव है कि उर्दू-हिन्दी वाले आपस में मिला करें और सांस्कृतिक मंच पर वह मिलना हो।

संस्कृति शब्द यहाँ निरर्थक नहीं है। बनारसीदास जी की राय थी कि वह न रहे। पर मैं उस शब्द को न गिरा सका। वजह यह कि मिलते तो हम अब भी राजनीतिक धरातल पर हैं, पर वह मिलना क्या काफी हुआ है? क्या वही ऊपर से मिलाकर किसी कदर अन्दर से फाड़ने का सबब नहीं हो गया है? क्योंकि राजनीति के मंच पर अधिकारों की चेतना है, इससे राजनीति विभेद डालती देखी जाती है, अभेद जगाती नहीं। उससे मेल होता भी है तो सौदे का, मन का नहीं। मन का मेल यह नहीं माँगता कि तुम हमारी पार्टी में या गिरोह में आओ। जहाँ हो वहीं रहो, पर एकत्रित रहो। किसी को उसकी जगह से, यानी उसके विश्वासों और विचारों से उखाड़ने की इच्छा नहीं, बल्कि सिर्फ आपसी समझ और मेल बढ़ाने की तबीयत है, उसको मैं सांस्कृतिक धरातल कहता हूँ। हिन्दी और उर्दू काम करने वालों को पास आने और मिलने-जुलने की ज़रूरत है तो उसी धरातल पर। उसी का फल कुछ निकलेगा।

इन धाराओं में दिशा और भी देखी जा सकती है। वह यह भी भाषा के प्रश्न के समाधान के लिए हिन्दी उर्दू की तरफ या उर्दू हिन्दी की तरफ न देखे। जब मसला इस ढंग पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा जाता है कि इस नये अंग्रेज़ी शब्द के लिए हम फारसी-अरबी के सहारे से देशी शब्द बनायें या संस्कृत के सहारे से तो सवाल मुश्किल हो जाता है। ऊपर सुझाया गया है कि ऐसे समय हम देहात की शरण लें। वहाँ शिष्ट भाषा की जैसी दरिद्रता नहीं है। प्रादेशिक बोलियों में बहुत शब्द भरे पड़े हैं, जो बड़ी सुघराई के साथ उठाकर अन्तरप्रान्तीय चलन में लाये जा सकते हैं। अपने ही घर के उस भंडार से आँख मोड़कर हिन्दी और उर्दू में अनबन तो बन सकती है, निपटारा नहीं हो सकता। असल में तो हिन्दी-उर्दू दोनों ही हिन्दुस्तान में जन्मी हैं। उर्दू में हीं कितने ही शब्द विदेशी, वह हमारे हिन्दुस्तान की धरती से टूट नहीं सकती। यह तो हिन्दुस्तान की सिफ़त है और रही है कि बाहर के लोग, प्रभाव, शब्द आये हैं और पच गये हैं। उर्दू ने हिन्दी को समृद्ध किया है। उर्दू से सदा हिन्दी-लेखक की कलम में खूबी ही पैदा हुई है। उससे उसकी भाषा का वैभव बढ़ा है। इसलिए जैसे हिन्दी वैसे उर्दू, दोनों ही अपने को भरने और बढ़ाने के लिए हिन्दुस्तान के देहात की शरण लें। इन दोनों भाषाओं के विज्ञों की कमेटियों में झगड़ा मिलेगा, देहात में बना-बनाया सुलझाव मिल सकेगा। इससे कहा गया है कि जहाँ तक हो, नये भाव के लिए देशज शब्दों से काम लिया जाये। धारा (9) के बारे में भी मतभेद था। बनारसीदासजी उसे आवश्यक देखते थे। लेकिन उसमें कहा गया है कि संस्कृत या फारसी से निकले हुए शब्दों की बराबर-बराबर बोल रखने से हिन्दुस्तानी न बनेगी। वह निगाह ही गलत है। यानी अगर राष्ट्रीय सुविधा के लिए आदर्श हिन्दुस्तानी का निर्माण होना है, तो उसके लिए ज़रा भी यह नहीं सोचना होगा कि संस्कृत के शब्द छिड़ककर शायद मानें कि वह हिन्दुस्तानी की माँग को पूरा कर रहे हैं। इसी तरह हिन्दू राष्ट्रवादी मौके-बे-मौके अपनी भाषा में फारसी लफ्ज़ डालकर अपने को सही दिशा में चलता हुआ मान सकते हैं। पर सच यह है कि यह काफी नहीं है। दोनों को शब्द के असली अर्थ में डैमोक्रेटाइज़ होना होगा, यानी जनता का आदमी बनना होगा, तब उनसे असल तौर पर हिन्दुस्तानी का भला हो सकता है। उर्दू और हिन्दी के मेल के इरादे से एक कृत्रिम, अनमिल, गाँठदार भाषा देने से 'हिन्दुस्तानी' की सेवा नहीं होती। भाषा तो हर हालत में सहज, हार्दिक और सुबोध होनी चाहिए। भाषा में सुबोधता आयेगी तो तभी जबकि व्यक्ति का जीवन जनता से मिल चलेगा। जब तक व्यापक लोक-जीवन के साथ हमारा मेल नहीं है, तब तक सच्चे अर्थों में सुलभ और सही हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण होने से हमसे मदद नहीं मिलेगी। अर्थात् हिन्दी उर्दू के संयोग से बनने वाली 'हिन्दुस्तानी' को अपने-आप में एक अतिरिक्त उद्देश्य बनाकर हम बोलें-लिखेंगे तो उससे मुश्किल उतनी हल नहीं होगी, जितनी कि तब होगी, जब बगैर किसी हिन्दी-उर्दू के ख्याल के, जनता के साथ अपने सुख-दुःख को मिला देने की कोशिश में, हम भाषा का व्यवहार करेंगे। कुछ यही आशय मानकर नवीं कलम को रद्द नहीं किया जा सका।

आखिरी धारा में भी यही बात स्पष्ट की गई। इस जगह पंडित सुन्दरलालजी के लेख का जिक्र असंगत न होगा। उन्होंने सवाल को इतिहास कि ओर से देखा है। सवाल अमल का है और इतिहास में बहस है। यों वह लेख पढ़ने लायक है। उसमें 'हिन्दी' नाम की ऐतिहासिक परम्परा को देखते हुए उसे 'अवधी', 'ब्रज', 'राजस्थानी' आदि भाषाओं से अलग अम्बाला से मुरादाबाद तक के प्रदेश में बोली जाने वाली 'खड़ी बोली' के अर्थ में लिया गया है। उसी पर से फिर राष्ट्रभाषा का विवेचन किया है। कहा है कि यह 'हिन्दी' (खड़ी बोली) अन्तरप्रांतीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवहार का माध्यम थी। लेकिन अब 'हिन्दी' की सत्ता यहाँ से हटकर दूर संस्कृत मिश्रित भाषा की अभिधा में चली गई है, जबकि 'उर्दू' नाम करीब-करीब वहीं कायम है। इस तरह आज अन्तरप्रान्तीय व्यवहार के लिए जब एक राष्ट्रभाषा का सवाल है तब हिन्दी के बजाय उर्दू कहने से ठीक-ठीक खड़ी बोली का भाव मिल सकता है।

पंडितजी की बात ठीक हो सकती है। पर आज राष्ट्रभाषा खड़ी बोली के आधार पर ही और उसी दायरें में बनेगी, यह स्थिति नहीं रह गई है। पर अंतिम धारा (10) इसीलिए कहती है कि राष्ट्रभाषा में निर्माण के न सिर्फ हिन्दी और उर्दू बल्कि और भी प्रांतीय भाषाओं और बोलियों से योग माँगा जायेगा। इसलिए हिन्दी-उर्दू की सुलह या अनबन पर राष्ट्रभाषा का सवाल टलने वाला नहीं है और इस पर उस दृष्टि से नहीं बल्कि अखिल भारतीय दृष्टिकोण से ही विचार किया जाना चाहिए।

इसके बाद मैं अपने मन की बात कह देना चाहता हूँ। आज देश के सामने है कि वह चुन ले कि वह अपने लिये क्या भविष्य और कैसी संस्कृति चाहता है? हम शहर चाहते हैं कि गाँव चाहते हैं। मिलें चाहते हैं कि खेती चाहते हैं? हम अपने बीच समता चाहते हैं कि ऊँच-नीचता भी चाहते हैं। मेरे मन में किंचित् सन्देह नहीं है कि भाषा के सवाल के समाधान की जड़ें अगर हैं तो यहाँ हैं। उसी बिन्दु के चारों ओर और सवाल लिपटे हुए हैं। अगर हम शहरी सभ्यता चाहते हैं और पश्चिम से आई हुई इसी किस्म की अदालतें और फौजें और सरकार चाहते हैं, तो लिपि के लिए हम 'रोमन' ले सकते हैं—सकते हैं, नहीं लेनी पड़ेगी—और अंग्रेज़ी की शिक्षा को सारे देश में अनिवार्य बनाने का आन्दोलन कर सकते हैं। पर अंग्रेज़ी से गुलामी आई है और राष्ट्रभाषा का अगर सवाल उठा है तो उसी गुलामी को तोड़ने के लिए। और यह भी सच है कि गुलामी हमारी दरिद्रता पर कायम है—और दरिद्रता शहरी लूट पर कायम है। इससे अगर सचमुच गुलामी से छूटना है तो देहात को आबाद करना होगा और जो सम्पत्ति वहाँ पैदा होती है, पर खिंचकर कहीं और चली जाती है, उसको वहीं पहुँचाना होगा। मैं कहना चाहता हूँ कि भाषा की असल समृद्धि भी वहीं से आयेगी। इसलिए क्या तो हिन्दी वाले और क्या उर्दू वाले, सबको कहना होगा कि तुम अपनी अलग अर्थ की या भाषा की सम्पन्नता को भूल जाओ, क्योंकि उसमें जूठन और उतरन भरी है। उर्दू कृत्रिम है और तुम्हारी हिन्दी कृत्रिम है। दोनों लौट चलो वहाँ जहाँ सब अकृत्रिम है। वहाँ से भाषा लो। वह एक ही साथ हिन्दी का काम दे जायेगी और उर्दू का भी काम दे जायेगी। क्योंकि वही असल 'हिन्दुस्तानी' होगी।

ऊपर से मन्तव्य की कीमत इस लिहाज से सविशेष है कि कई हिन्दी लेखकों का वह 'संयुक्त प्रतिनिधित्व' करता है। मैं चाहूँगा कि आप उसको गौर से देखें, आवश्यक हों तो संशोधन सुझायें और फिर अन्तिम रूप से जो मसविदा बने उसको हिन्दी-संसार के आगे प्लेटफॉर्म के तौर पर मज़बूती से जमाने में मदद करें। राजनीतिक, राष्ट्रवादी पुरुषों से सुनते रहने के लिए ही साहित्यिक जन नहीं हैं, उन्हें उस बारे में अपना आधार खुद पा लेना होगा। आप राष्ट्रीय युद्धों में जेल गये हैं, पर यहाँ तो हम साहित्य को लेकर साथ हैं। आशा हैं कि आप इस आवश्यकता पर ध्यान देंगे और स्वस्थ और जीवन-स्तर साहित्य-मंच का आविर्भाव हिन्दी में होने देंगे।

अगस्त, 47.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय साहित्य

भारतीय साहित्य एक है और रहा है। इस तथ्य को प्रमाणित करने में मैं आपका समय नहीं लूँगा। यह बात सिद्ध है और स्पष्ट है। लेकिन जो प्रश्न अध्ययन और मनन का विषय हो सकता है, वह यह कि महाद्वीप जितने विशाल इस देश में, जहाँ सदा हर प्रकार का नानात्व व्याप्त रहा, सहस्राब्दियों के अंतराल में से अगर कोई अंतर्भूत ऐक्य संभव बना चला आया, तो उसका रहस्य और कारण क्या है? हर तरह के आघात और प्रहार इस देश ने भोगे हैं। इतिहास इसके प्रति कोई विशेष सदय नहीं रहा है। नाना जातियाँ यहाँ आई हैं और तहस-नहस मचाती आई हैं। लेकिन उस सब विभेद और विरोध को आत्मसात् करती हुई यहाँ की भावभूमि एक बनी रही है, निश्चय ही यह आश्चर्य और अनुसंधान का विषय है। लगता है जैसे मानव-जाति के भाग्य-लेख से यह भारत भूमि परम-समन्वय के सूत्र-साधना की प्रयोग-स्थली ही रही है और इस देश का मानव संस्कृति के प्रति कदाचित् यही अवदान होने वाला है।

पर साथ ही दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि हज़ारों-हज़ार वर्ष के अपने इतिहास में भारतवर्ष बीच में गिनती के कुछ ही वर्षों के लिए राजनैतिक रूप से अविभक्त रहा होगा, नहीं तो वह सदा ही बँटा-बिखरा रहा है। उसकी भौगोलिक सीमाएँ फैलती-सिमटती रही हैं और अंतरंग में नाना राज्य भी बनते-बिगड़ते और उठते-गिरते रहे हैं। संक्षेप में भारत की एकता उसकी राजनीतिक अनेकता में से सम्पन्न होती आई है। यह एक अनोखी बात है और बेहद विचारणीय है।

राष्ट्र तो सब जगह एक हैं, लेकिन एक वे बैराष्ट्रवाद और राज्यवाद की भूमिका पर हैं। यानी राजनीतिक उथल-पुथल उस एकता को तोड़-मरोड़ देती है या वह राष्ट्रवादी एकता दूसरे राष्ट्रवाद के टक्कर में आकर स्वयं अस्त-व्यस्त हो जाती है।

भारत के साथ ऐसा कुछ घटित नहीं हुआ। राष्ट्रवाद का हुंकार कभी यहाँ ऐसा उत्तप्त नहीं हुआ कि वह दूसरों के लिए चुनौती बन जाये और राष्ट्र-विस्तार और साम्राज्य-विस्तार के लिए चल पड़े। बल्कि उल्टे यह देखने में आया कि अमित सामर्थ्य रखते हुए भी भारत का देश मानो खुला क्षेत्र था जहाँ दूसरे लोग लोभ और लालच में लूट-मार करते हुए भी घुसे चले आ सकते थे। पर परिणाम सदा ही यह हुआ कि बाहर से चढ़ाई चढ़कर आने वाले ये लोग कुछ दिनों बाद यहाँ की प्रकृति में रम रच रहे और यहाँ की संस्कृति को उच्छिन्न कर पाने की जगह उसे और सम्पन्न करने के ही काम आ गये। यह भारत की अपनी भावभूमि की विशेषता रही है और यदि यहाँ का साहित्य एक है तो इसीलिए कि उस भावभूमि से वह बिछुड़ा नहीं है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्युत वहीं से अनुप्राणित हुआ और उसी को अभिव्यक्ति देता रहा है।

भारत की राजनीतिक अनेकता और सांस्कृतिक एकता से अटूट इतिहास को आसपास रखकर देखने से कुछ परिणाम हाथ आते हैं।

1. भारतीय मनोभूमि प्रकृति से धर्मनीतिक है। परिस्थितियों की विवशता तक राजनीतिक उसे स्वीकार्य है। आगे महत्त्वाकांक्षा उसकी राजनीतिक नहीं है।
2. नीति-रीति के नियमन के लिए राज्य के कानून की अपेक्षा सामाजिक मान्यता पर यहाँ अधिक बल और अवलंब है।
3. संस्थाएँ, जिनके द्वारा लोकजीवन को व्यवस्थित और संतुलित रखा गया, सत्ता प्रधान न होकर भाव-प्रधान है।
4. देश की धारणा राज्य केन्द्रित नहीं है। उसके प्रति मातृ-भाव , तीर्थ-भाव जगाया गया है। चारों दिशाओं में भारत की सीमा पर तीर्थधाम हैं और उनकी यात्रा भौगोलिक ज्ञानार्जन से अधिक भक्ति-साधना की प्रक्रिया है।
5. श्रेष्ठता का भाव धर्मोन्मुख है, लोकोन्मुख नहीं है। संत-साधु वहाँ आदर और पूजा के केन्द्र हैं, राजा-विजेता उतने नहीं। कर्म की प्रखरता और प्रबलता से भिन्न भावी की पवित्रता और शुद्धता में भारतीय रुचि सविशेष है। यहाँ का नीतिदाता ऋषि रहा है।
6. लोक मानस के अवलंबन बनकर जो प्रतीक पुरुष प्रतिष्ठित हुए, वे लोकिक महिमा से अधिक आत्मिक गरिमा से मंडित थे। वे पुराण पुरुष उदार धर्म-भावना के उदाहरण थे।
7. तीर्थ-धाम तीर्थ-पुरुष, उनके दर्शन और चरित, इनसे भारतीय संस्कारों और मान-मूल्यों का निर्माण हुआ। फिर राजन्य वर्ग से उसी प्रकार के आचरण की अपेक्षा रखी गई।

इस तरह भारतीय मानस राजनीतिक उथल-पुथल के अधीन गिरता-उठता नहीं रहा, उसके आदर्श भी उस तरह झकोले नहीं खाते रहे। वे अडिग और स्थायी बने रहे। उसके मूल्य मानवीय रहे और प्रादेशिक और एकाकी नहीं बन पाये। सामयिक से अधिक वे नैतिक और शाश्वत रहे।

इन मूल्यों को सकर्मक नहीं कहा जा सकता। यह नहीं कि कर्म की यहाँ मंदता थी। राम और कृष्ण कोई बनवासी ऋषी नहीं थे और ये ही दोनों चरित्र भारतीय धर्म के दो ध्रुव हैं। लेकिन राम का वह रूप भारतीय मानस को पकड़ता है जहाँ वह कृतार्थ भाव से राज्य का अधिकार छोड़ जाते हैं। उसी तरह कृष्ण का बाल-रूप ही भारत के लिए परम-विमोहन बना हुआ है। दोनों जगह योद्धा प्रधान नहीं है, गौण है। और अर्जुन को गीता के उपदेश से रणोद्यत बनाकर भी कृष्ण स्वयं सारथी रहते और युद्ध से उत्तीर्ण बने रहते हैं।

कर्म की जबकि मंदता नहीं रही, तब भारतीय मनीषा का मूल्य अवश्य उससे उत्तीर्ण रहा है। बाहर यहाँ से कोई विजेता नहीं गया, अनेकानेक धर्म के संदेशवाहक अवश्य गये। बौद्ध-विचार बाहर जाकर जड़ जमा, फला, हिन्दुत्व के प्रभाव दूर-दूर तक पहुँचे तो यह किसी लौकिक जय-यात्रा का परिणाम नहीं था। तथापि यह प्राणों की सम्पन्नता ही थी जिसके कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये शान्ति-वाहक धर्म के दूत भारतीय विचार और संस्कृति के तत्त्व को दूर देशान्तर में ले गये। कर्म का प्रवेग अवश्य नहीं था, पर भीतर से उठता हुआ भाव का आवेग था जिससे भारतीयता का विस्तार हुआ था। साम्राज्य विस्तार से यह बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का तत्त्व है और यदि पहले का साधन शस्त्र है तो दूसरे का साधन शास्त्र है। राजनीति सेना की मुहताज हो, संस्कृति का संदेश साहित्य का मौन शब्द ले जाता और दूर-दूर तक बो आता है।

साहित्य के लिए प्रतिपक्ष नहीं है। इसलिए उससे सामंजस्य का ही विस्तार होता है। संस्कृति में ललकार होती ही नहीं। वह सदा पूर्ति देती और पूर्ति खोजती है। उसीको अपने श्वास-निश्वास में लेकर चलने वाला साहित्य किसी के लिए अनात्मीय नहीं रहता।

भारत में अलग-अलग जातियाँ रहीं, भाषाएँ, और रहन-सहन के अलग तौर-तरीके भी रहे हो सकते हैं। पर कथा-गाथाएँ और काव्य-पुराणों के द्वारा एक ही मानव-धर्म यहाँ व्याप्त बना रहा। आरोपित आदर्श उसको ढँक या उखाड़ नहीं सके। साहित्य उसी स्रोत से प्राण पाता रहा और प्रदेश विशेष की या व्यक्ति विशेष की विशेषताओं को लेकर वह कितना भी विविध और विचित्र बनकर प्रगट हो, मूलतः वह ध्रुवनिष्ठ रहा है। रूप, आकार और शैली की सब विविधताओं में खिलकर भी वह केन्द्रित भाव से च्युत नहीं हुआ और सब जगह उसी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा का उपकरण बना रहा।

इस देश में कोई एक केन्द्रीय राज्य न होने के कारण व्यवस्थित रूप से किसी एक भाषा की भी आवश्यकता नहीं रही। लोग आते-जाते थे, परस्पर आदान-प्रदान खूब था। चारों धामों की यात्रा मानो हरेक के लिए आवश्यक थी। इस तरह सदा ही कोई न कोई एक माध्यम रहा जिससे यह परस्परता उत्तरोत्तर पनपती और फल-फूलती रही। विद्वानों के लिए संस्कृति, जनसामान्य के लिए इस या उस रूप की प्राकृत। लेकिन यह भाषाएँ राजकीय माध्यम के रूप में व्यवस्थित नहीं थीं, केवल प्रचलित थीं। यही कारण है कि उन सार्वजनीन माध्यमों के रहते भी प्रादेशिक भाषाओं पर तनिक भी दबाव नहीं आया, वे अपनी जगह युगपत साहित्य से भरपूर होती चली गईं। राम और कृष्ण के काव्यचरित लगभग सभी भाषाओं में स्वतन्त्र भाव से रचे गये आपको मिलेंगे। अमुक किसी माध्यमिक भाषा पर राजकीय बल और आग्रह न था, इसलिए प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही कभी नहीं उठा, हार्दिक और निर्बाध दान-प्रतिदान चलता रहा। यही कारण है कि बिना किसी केन्द्रीय और राजकीय प्रयास के भी भारतीय साहित्य विभिन्न भाषाओं में परस्पर पूरक और सहयोगी रूप में विकास पाता गया। वैदिक काल से अब इधर उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक यह प्रक्रिया अजस्र चलती रही। इसमें एक प्राकृतिक नियम काम कर रहा था और किसी भी कृत्रिम प्रयास ने विशेष बाधा नहीं डाली थी।

अंग्रेज़ों के और साथ अंग्रेज़ी के आने से पहली बार इस प्रक्रिया में विघ्न उपस्थित हुआ। यह आक्रमण अलग तरह का था। अंग्रेज़ यहाँ राजा नहीं बने, सम्राट बने। भारत उन्हें उपनिवेश था। इस तरह यहाँ का रंग लेने के बजाय उन्होंने अपना आधिपत्य और अपना ढंग दिया। राष्ट्र की नई धारणा उनके कारण भारतवर्ष को प्राप्त हुई और वह एक राजकीय और प्रतिस्पर्धी (एक्सक्ल्यूज़िव) धारणा थी। एक छत्र के नीचे सारा देश आया और एक राजनीतिक व्यवस्था बनी। काफी दिन यहाँ अंग्रेज़ी लोग रहे और इस काल में जैसे वह प्रक्रिया जो सदियों से भारत में भीतर-ही-भीतर अपना काम करती रही थी मानो रुक गई। सर्वथा स्थगित तो वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुई थी, भारतीय प्रकृति आत्म संरक्षण में मोर्चा लेने को बार-बार उठी। इस संघर्ष की इति तब हुई जब गांधीजी के नेतृत्व में भारत ने स्वराज्य पाया। गांधी भारत की अन्तः प्रकृति के मूर्त प्रतीक ही थे। अनुभव हुआ कि उनके व्यक्तित्व में यह देश समन्वित रूप से एक और समग्र और ज्वलंत बन आया है।

गांधी युग में भारत की सभी भाषाओं का साहित्य एक प्राण और एक तान होकर उत्कर्ष की ओर उठा। वह उत्कर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है, लेकिन स्वराज आने के साथ गांधीजी को देश ने खो दिया। तब से जान पड़ रहा है कि जैसे वह महद्भाव ही बीच से उठ गया है। जो सबको एक-दूसरे के निकट आने और उत्सर्ग होने की प्रेरणा देता था। नैतिक से राजकीय चेतना मानो ऊपर आ गई है। और भाषाओं में स्व-रक्षा और स्व-मान की चिन्ता पैदा हो आई है। भाषाओं की विविधता जो अब तक ऐक्यभाव को सँभाल रही थी अनैक्य का कारण बन चली है। उन्हें लगने लगा है कि जैसे सबके प्रति जो एक सी विदेशिनी है ऐसी अंग्रेज़ी भाषा के सहारे उनमें आपस में समता बनी भी रह सकती है, उसके अभाव में कहीं एक को शेष सब पर छाने न लग जाये। सांस्कृतिक भाव की मंदता के द्वारा यह राज-कारणी अहमिका मनो पर सवार हो आई है और भाषा मिलाप की जगह फटाव के काम में लाई जाने लगी हैं।

अब स्वराज्य है और देश के पास अपनी केन्द्रीय व्यवस्था है। यह सुविधा तमाम इतिहास में बहुत ही कम भारत देश के पास हो पाई है। इसीलिए यह प्रश्न है कि क्या किया जाय जिससे भारत के प्राणों की और साहित्य की मूलगत एकता प्रगट और पुष्ट हो। खंडता का भाव देश में निर्मूल हो और महदुद्देश्य का आविर्भाव हो।

पिछले विश्लेषण में हमने देखा कि साहित्य और संस्कृति कुछ नाजुक चीज़ें हैं। बल के साथ उनका योग नहीं बैठता है। राज्य बहुत बलशाली संस्था है। बल के लाभ अलाभ दोनों ही हैं। किन्तु यह संभव होना चाहिए कि अलाभ बचाया जा सके और संस्कृति के पक्ष में बल का लाभमात्र ही उपलब्ध हो।

राज्य का धर्म-निरपेक्ष रहना ही उचित है। अमुक नामधारी संस्कृति के प्रति भी उसे निरपेक्ष रहना होता है। राज्य का काम अधिकांश भौतिक हैं। मानसिक और सांस्कृतिक को उसे कम ही छूना और छेड़ना चाहिए। भारतीयता कुछ उसी पद्धति से काम करती रही है। ज्ञानदान और नीतिदान ऋषियों का काम रहा है। राज्य शक्ति-भर धन आदि का अर्पण भले करते रहे हों, लेकिन ऋषि मानवनिष्ठ रहे हैं, राजनिष्ठा को उन्होंने अपना स्वधर्म नहीं बनाया है।

विश्व की प्रगति आज अजब जगह पर आ गई है। दुनिया छोटी पड़ रही है और कोई अपने को अलग और अकेला नहीं रख सकता है। ऐसी हालत में राज्य की कल्पना ने विशाल रूप धारण किया है। ईश्वर सर्वव्यापक होता था, अब सोचा जाता है कि राज्य सर्वव्यापक हो। इस धारणा के संगठन बड़े-से-बड़े बन रहे हैं, लेकिन वह अनिवार्य भाव से छावनियों में परिमत होते देखे जाते हैं। एक विचार उठा था कि राज्य तंत्र के रूप में समाज में विलीन हो जाय और स्वयं में अनावश्यक हो जाय। आदर्श रूप में उस विचार को छोड़ा तो अभी तक नहीं गया है, लेकिन बीच की अवधी में मानो राज्य को सर्व व्याप्त और सर्व कल्याणीय शक्ति के रूप में स्वीकार करना मान्य बन गया है। उस कारण विश्व की स्थिति मानों संकट की भी आ बनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। लगता है उस राह से अगर दुनिया की एकता को आना हो तो फिर युद्ध की वैतरिणी को पार करना ही होगा। लेकिन विज्ञान की उन्नति इतनी हो उठी है कि युद्ध शुरू हुआ तो उसका दूसरा किनारा मिलने वाला नहीं है, बीच में ही सब स्वाहा हो जायेगा।

इस हालत में संभव हो सकता है कि संगम भारतीय साहित्य की भावगत एकता को पहचानकर उसे पुष्ट और प्रबल बनाने के उद्यम द्वारा दुनिया के सामने वह राह भी दिखा आये जिससे संकट कटे, सहअस्तित्व बढ़कर सहभाव और सहयोग में परिणत हो और राष्ट्रों के बीच सुरक्षा और शस्त्रास्त्र की पंक्ति अनावश्यक हो जाय।

भारतीय साहित्य राज्य के लिए आशीर्वाद रूप भले रहा हो, उस पर निर्भर होकर नहीं रहा है। कारण, उसमें मानव की प्रतिष्ठा है, सत्य की अनवरत शोध और उसका निर्भीक निदर्शन है। लोक व्यवहार में वह धर्म के अधिष्ठान की पीठिका के समान है। संक्षेप में राजनीति के समक्ष वह लोकनीति का प्रतिस्थापन है।

यदि भारती संगम भारत की सब भाषाओं और साहित्यों में आदान-प्रदान की वे प्रणालियाँ खोल सके जिनसे परस्पर परिचय और प्रीति प्राप्त हो, साहित्यकारों को सम्मिलन और सहचिंतन के अवसर आयें, अनुवादों द्वारा वे निकट बनें—यह सब यदि शक्ति की राजनीति से मुक्त रहकर संगम कर सके तो संभव है कि वह एक नई सांस्कृतिक शक्ति को उदय में ले आयें जो समय पर राजनीतिक आदेशों और अभिनिवेशों पर अंकुश का काम दे।

साहित्य अकादमी जैसी संस्था के बाद और अतिरिक्त भी यदि भारती संगम की उपयोगिता है तो वह यही कि एक बड़े पैमाने पर जनमानस में वह सांस्कृतिक चेतना को दीप्त करे और लोक-नेताओं को आदर्श की ओर उठने की प्रेरणा देने के लिए उपयुक्त पृष्ठबल का निर्माण कर सके।

राज्य को और उसके बल को आधार में लेकर न चलने की प्रक्रिया ठेठ भारतीय है, दूसरी जगह शायद वह नहीं मिलेगी। आधुनिक काल में गांधीजी ने उसका सफल प्रयोग करके दिखलाया है। साहित्य का काम मानव की शुद्ध चित्-शक्ति से ही चल सकता है। सत्ता और संस्था का सहारा लेने पर मानो प्राणशक्ति मानव से विमुख पड़कर तंत्र-यंत्र वाली बन आती और संस्कृति सेवा के अयोग्य ही जाती है। यह पहचानकर संगम ने अपना काम किया तो बहुत-से खतरों से बचकर वह भारत के दान को दुनिया के सामने लाने का श्रेय पा सकेगा।

दिसम्बर,'60.

भारती संगम के उद्घाटन के अवसर पर अध्यक्षीय भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग-समस्याएँ व साहित्यिक

इसके लायक कोई अपराध तो मुझसे नहीं बन पड़ा है कि जिसका मुझे ऐसा दण्ड दिया जाये। खास तौर से इस अवसर पर तो मैं आप साहित्यकारों से मिलने मात्र आया था!

मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी जिन्दगी तो एक आवारा की-सी जिन्दगी रही है। अब भी मैं कोई दुनिया में जमा हुआ आदमी नहीं हूँ, उखड़ा-उखड़ा-सा हूँ। ऐसे के साथ सहानुभूति तो की जा सकती है, ईर्ष्या नहीं। अभिनन्दन तो जमे हुओं का, स्थापितों का कीजिये।

मैं मानता हूँ कि साहित्य तो सबका होता है। साहित्य जीवन है। साहित्य तथा साहित्यकार जीवन को चेतना-रस देता है, इसीलिए वह स्मरणीय भी बन जाता है।

मेरी श्रद्धा है कि साहित्य, जो जमे हुए हैं, स्थिर हो गये हैं, उन लोगों के विलास के लिए नहीं है। कारण जो जमे, ऊपर से लदे होते हैं, वे वस्तु से चिपक जाते हैं, चैतन्य को गतिहीन बना देते हैं। धरती पर गड़े हुए पैरों का ही दूसरा नाम स्थिरता या स्वार्थ की जड़ता है।

अकिंचन, उखड़े, आवारा का निज का कुछ नहीं रहता कि जिसमें वह चिपक कर रहे। वह सबके लिए अपने को खो देता है। अकिंचन भाव से रचना करता है और ऐसी दशा में वह बिना भेद-भाव के सबके लिए उपयोगी बन जाता है। इसीलिए जीवनदायक साहित्यकार तो आवारा—उखड़ा हुआ—सा होता है।

आज व्यवहार की बहुत-सी समस्यायें हैं। आदर्श व कल्पना व्यर्थ और अर्थहीन जान पड़ती है। हम आज व्यावहारिकता में बहुत अधिक फँस गये हैं। रोटी, कपड़ा, गृहस्थी व [illegible]—व्यवहार, या पद वृद्धि यही सब प्राथमिक आवश्कताएँ आज आवश्यक समस्याएँ बन गई हैं।

हवा सहज में मिलजाने के कारण उसकी कोई कीमत नहीं मानी जा रही है। जब और चीज़ें जुटानी हैं तब हवा को गिनती में लाने की क्या आवश्यकता है? परन्तु हम जानते हैं कि और सब प्राथमिक चीज़ों से हवा की आवश्यकता प्राण धारण के लिए कहीं अधिक है। उसके बिना साँस लेना असंभव हो जायेगा।

मेरी तो यह भी आस्था है कि जिसके पास कुछ भी दिखाई नहीं देता, जो अकिंचन है, आज की भाषा में जो शोषित या सर्वहारा है, कर्मचेष्टा में वह भविष्य का विधाता है। उसके पास अपना भविष्य है। शायद वह हमारे भविष्य का आदर्श पुरुष है।

सत्ता का बल आदर्श को दबा तो सकता है, उसकी वाणी को कुछ काल के लिए अवरुद्ध भी कर सकता है। किन्तु जो मानवता को इससे मुक्त करेगा वही महान् होगा। मानवता का उद्धारक बुद्ध का स्वरूप होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सत्ता के बल से बली जान पड़ता है, उसके पास अन्याय का बल है। परंतु उठाने वाला, उभारने वाला, सत्ता से दूर होगा। अकिंचनता उसकी विवशता न होगी, अकिंचनता तो ऐसे का संकल्प होगी, प्रतिज्ञा होगी।

स्वराज्य मिले भारत में सुख-चैन अधिक दुर्लभ हो गये हैं। जगत् भी समस्याओं से संकुचित अनुभव करता है। निरीह मानव स्वेच्छा से सेवावृत्ति बने, पर हमने निरीह मानव का मूल्य शून्य के रूप में आँका है। उसकी अकिंचनता, शक्तिहीनता मानी गई है। हम तो शक्ति को संगठित सत्ता और समूह में देख रहे हैं। मानव के प्रति हमारे भीतर गहरी अनास्था है और यही व्याधि के मूल में है।

हम अकिंचन, सेवाव्रती, श्रमी मानव को केवल अंक मात्र मानते हैं। और मानते हैं सशस्त्र सैनिक हमारी रक्षा करता है। प्रत्येक शब्द सैनिक को महत्त्व दे रहा है। सैनिक को वैज्ञानिक विधि से शिक्षाएँ दी जाती हैं कि वह भूल जाये कि वह भावुक है, वह दृढ़ रूप से यंत्र की भाँति से संहार करने की क्षमता उत्पन्न कर ले और भयानक भाव से संहार करने लगे। विश्वास करे कि अपने शस्त्रों से वह दुष्ट-आतताइयों को मार रहा है।

श्रम करने वाले को, शून्य मान लिया गया है और अश्रमिक सैनिक को भोग के सारे सामान उपलब्ध किए जाते हैं। शस्त्रों की शिक्षा पाकर वह हमारी रक्षा जो करता है। संहार का कार्य ही जो उसके जीवन का सब-कुछ बन बैठा है। इसलिए आज के समाज में सम्मान श्रमिक का नहीं, सैनिक का है।

इतिहास मनुष्यता को ऊँचा उठायेगा, तो वह सभ्यता, जिसने सैनिक को महत्त्व दिया है, बर्बर मानी जायेगी। संस्कृति व सभ्यता वहीं है जो ऐसे मानव को महत्त्व दे कि जो अहं को, अपनी इकाई को, महत्त्व न दे, अपने को खोकर-मिटाकर सबके हित में श्रम का अर्पण दें। यही मेरी श्रद्धा है और आपकी श्रद्धा भी यदि इस पर हो, तो मैं आपकी कृपा को स्वीकार करता हूँ।

मैं अकिंचनता व अभाव में पला-पुसा आदमी हूँ। कभी उस गरीबी को दुर्भाग्य भी मान लेता था। परंतु आज आसपास की स्थितियाँ देखकर अब वह भाव नहीं रह गया है। मैंने देखा अनेकों सम्पन्न जन्मे, वैभव में पले-खेले, परंतु सम्भवतः उनके विकास में उन्नत मानव बनने में, यह सुविधाएँ बाधाएँ ही अधिक बनी।.

मैं कुछ अधिक पढ़ना-लिखना नहीं कर पाया। भगवान ने यह कृपा की कि मुझे वर्तमान से इतना जड़ित नहीं रखा। सम्पन्नों का जीवन वर्तमान से अत्यन्त जड़ित हो जाता है। यह साधन-सम्पन्न वर्तमान इतने निरत हो जाते हैं कि भविष्य की उन्हें कोई अनुभूति ही नहीं रहती। वर्तमान की रक्षा में ही वे आबद्ध रहते हैं। उनके जीवन की परिभाषा सामयिक व कृत्रिम बन जाती है। वे अपने जीवन को कृत्रिमता से ऐसा सम्भ्रांत बना लेते हैं कि वह असली नहीं रह जाता।

आज के लोकतंत्र-जनतंत्र का क्या माप है? जो समाजगत नहीं हैं वे साधारण जन के ऊपर बैठे हैं। साधारण जन पर 'विशेष जन' आसीन है। यह जनतंत्र नहीं विशेषों का तंत्र हैं। यह तंत्र चलने वाला नहीं। सारा बल शास्त्रतः यदि साधारण में है, तो उसकी प्रतिष्ठा भी होनी चाहिए। उसकी भावनाओं का सम्मान भी होना चाहिए। यदि जन बल की श्रद्धा का ठीक से परिपालन और उपयोग किया जाये तो अवश्य ही वह सार्थक और उपयोगी सिद्ध होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़ चले गये और बाद में ही गांधीजी भी चले गये। तब से हमारी आज़ादी बहुत अधिक परेशानियाँ घेर लाई हैं। इनका हल निकालना साहित्यकार का कर्तव्य है। आज़ादी आई तो परंतु वह एक संगठित दल के पास आई। पर जनतंत्र में यह आजादी तो हर आदमी के पास पहुँचनी चाहिए और इसे पहुँचाने का काम वही शक्ति कर सकती कि जो पद में नहीं, सेवा और सहानुभूति में विश्वास करती हो। नहीं तो हमारी यह आज़ादी ही बन्धन बन जायेगी और तब सँभलना भी कठिन हो जायेगा।

सारे जन-समूह को शक्ति-सम्पन्न बनाना ही जनतंत्र है। यह दर्शन जब सबको सुलभ होगा, तभी सच्चा जनतंत्र होगा। अभी न तो असली श्रम और सेवा का सिक्का चल रहा, प्रतिष्ठा व प्रभाव के बल पर कार्य चलाया जा रहा है।

आज जिसे हम गिनती में लेना नहीं चाहते, जिसको विचार में लेना खामख्याली माना जाता है। जो कुछ-नहीं-जैसा बेचारा है। ऐसे वंचित-परित्यक्त मानव के ही पास शक्ति की ज्योति है और साम्यवाद के दर्शन के पक्ष में इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसने मानव-श्रद्धा को धन से जन की ओर मोड़ दिया। अवश्य ही उसने व्यक्ति को नहीं समूह को महत्त्व दिया। व्यक्ति के उन्नत होने से समूह भी सबल व उन्नत होगा इसे वह ध्यान में नहीं लाया। शायद कारण कि उसने उन्नति को सदा आंकिक और भौतिक रूप में देखा। वहाँ अवश्य मर्यादा है कि एक की उन्नति दूसरे की अवनति पर हो। पर उन्नति जो नैतिक हो वह एक के साथ सब की होती है। साम्य विचार को सोचना होगा कि जनवाद के नाम पर निरंकुश अधिनायक तंत्र का व्यवहार निस्तार का मार्ग नहीं है।

परंतु फिर भी उस विचार में इतनी गुंजायश तो है ही कि मानव की इकाई नहीं तो मानव के समूह में श्रद्धा रखी जाये। अब उसे परिष्कृत इतना ही करना है कि यदि श्रद्धा जनसमूह में, जनता में रखी जा सकती है तो वह जन में भी रखी जाये। और ऐसा होने पर जनता के नाम पर शासन नहीं किया जायेगा, जनता की सेवा का प्रसार होगा। शासन जन-जन का ध्यान करेगा। व्यक्ति साम्य और शासन का मापदण्ड होगा। इसी स्वप्न को साकार होना है। वही प्राथमिक और सार्वकालिक है। अन्तिम शिव की प्राप्ति का रूप यही हो सकता है।

इसे भूलकर, मानव-सत्य त्याग कर, इससे च्युत होकर, राज्य स्थापित सत्ता में चिपक रहता है। वाद या राष्ट्रों का मोह उसे आबद्ध कर लेता है। परंतु हमारी आशा तो प्रकृत मानव से ही पूरी होगी। आज नहीं तो कुछ काल के बाद प्रकृत मानव अवश्य उठेगा। लदी हुई कृत्रिमताएँ, बंधन उसे दबाकर न रख सकेंगे। उन्हें परास्त व ध्वस्त करके वह अवश्य उठेगा। अपने वास्तविक रूप और भाव में प्रतिष्ठित होगा और तब राज्य की नहीं, मानव सहानुभूति की नीति में शक्ति होगी। इसे भाग्य या भवितव्यता कह सकते हैं, परंतु मेरी आस्था है कि वह मानवता का दर्शन, मानवता को अवश्य प्राप्त होगा और वह भारत से होगा। कारण, अन्य कहीं से उसके प्राप्त होने की सम्भावना अभी तो दिखाई नहीं देती।

साहित्यकार तो मैं हूँ नहीं, परंतु मानव के नाते मैं इसी दिन को लाने के लिए प्रयत्नशील हूँ। उस दिन ऐसा मानव जिसके पास दिल है, जो बुद्धि चातुरी के द्वारा श्रम से बच जाना नहीं चाहता, श्रम को ही भोग जानता और मानता है, वह सत्ता के स्थान पर, सम्मान के पद पर प्रतिष्ठित हो और साहित्यकार जाने और अनजाने इसी दिशा में काम करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो इसके विपरीत करता है, वह प्रसिद्धि तो प्राप्त कर सकता है। विज्ञापन द्वारा निकम्मी दवाएँ भी खूब प्रसिद्धि प्राप्त कर लेती हैं, परंतु वे रोग को मिटा नहीं पातीं। उसी प्रकार विपरीत कार्य करने वाला व्यक्ति प्रसिद्धि व प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है, पर आगे काल की संधि में उसकी व्यर्थता सिद्ध होकर रहेगी। यह साहित्यकार का कार्य तो नहीं है विषमता का पोषण करना।

ऐसी स्थिति भी आती है कि किसी-न-किसी का पक्ष लेना अनिवार्य-सा जान पड़ता है। उस स्थिति में जब हम इस उत्तीर्णता के सिद्धांत को कार्य में लाते हैं तो व्यावहारिकता के समर्थक कह सकते हैं कि यह बच निकलने का ढंग है, हवाई तरीका है। परंतु मैं तो तीसरे भाव का ही समर्थक हूँ! यह वाद या वह राष्ट्र कोई भी हो, यदि मानवता की प्रतिष्ठा नहीं है तो हमें उसकी स्थापना के लिए सक्रिय होना चाहिए। इसी प्रकृत मानव के बल पर ही वाद या राष्ट्र संघर्ष-सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। आवश्यकता है उस प्रकृत मानव की आत्मचेतना को जागृत कर देने भर की।

उसी के बल पर सब स्थापित है, परंतु उसी का स्थान कहीं नहीं है। भीषण कोलाहल में उसका स्वर मुखर नहीं हो पाता है। कारण, उसका स्वर धीमा है, परंतु वही मीठा है। गर्माहठ में हम उसे अनुपयोगी भी कह सकते हैं, सामयिक कार्य का भी हमें वह न जँचे। परंतु वास्तविक वही स्वर है, वह अपने स्थान पर स्थापित होकर ही रहेगा।

आज के भारत के पास राजनीति के सिवा अपनी कोई चीज़ ही नहीं। केन्द्र में कानून की राजनीतिक एकता है। परंतु उसके बाद प्रदेशों और भाषाओं का विभाजन है और यह विभाजन और भी कटीला होता दीख रहा है।

भारत राजनीति में कभी आज के समान इतने बड़े रूप में एक नहीं था। सम्राट् अशोक के जमाने में भी नहीं। यह गौरव मानने की भी बात है। देश में हज़ारों ही राजा थे, राजाओं-रियासतों में देश बँटा था। परंतु भीतर उस काल में भी भारत एक था। हज़ारों वर्षों से भारतीय एकता की परंपरा अविच्छिन्न चली आ रही है और वह एकता भी आत्मिक एकता, मूल्यों आदर्शों की, सभ्यता व संस्कृति की एकता और आज विधान की, कानून की एकता है। परंतु उसमें भावात्मक एकता का नितान्त अभाव है। सांस्कृतिक एकता का अभाव होने पर राजनीतिक एकता केवल बंधन मात्र होती है। परस्पर के आकर्षण का ममत्व का खिंचाव उसमें नहीं होता और यह उपादान साहित्य ही दे सकता है।

हम विराट् कांग्रेस अधिवेशन कर सकते हैं। लाखों सदस्यों का समूह जमा हो सकता है। परंतु राजनीतिक होकर प्रत्येक मानव जहाँ दूसरे के काट की बात सोचता है। ऐसा संगठन जिसमें सबकी भावनाएँ स्पर्धात्मक रूप के कार्य करें, तो वह व्यर्थ हो जाता है। और इस कमी को साहित्यकार नहीं तो और कौन पूरा करेगा? अब, यदि मैं इस रूप में साहित्यकार होता तो आपकी कृपा का पात्र भी हो पाता।

आज का हिंदी का साहित्यकार क्या घेरे में आबद्ध होना चाहता है? क्या वह विशालता को त्याग रहा है? यदि साहित्यकार का सच्चा कर्तव्य पूरा करना है तो हमें प्रथम हिंदी पर कम बल देना होगा। यही कर्तव्य हर भाषा का साहित्यकार अपनी जगह कर रहा है। साहित्यकार प्रेमचंद ने मानव अनुभूति, भावनाओं और वेदनाओं को साकार बनाया है। तो वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी में लिखने के ही कारण केवल हिंदी के ही नहीं हैं। वे सबके हैं, सभी भाषा के साहित्यिकों के हैं। हम हिंदी पर अधिक बल देकर उन्हें घिरौंदे में बाँधकर नहीं रख सकते।

और दूसरे भाषा-भाषी साहित्यकारों को क्या हम सम्मान नहीं देते? क्या टालस्टाय और दास्तायवस्की रूसी भाषा के लिखने के ही कारण केवल रूस के ही हैं, मेरे नहीं? हम तो इस राष्ट्रबंदी को स्वीकार नहीं करेंगे और इसी प्रकार क्या दूसरे भाषाभाषी आपके साहित्यकारों के विषय में नहीं विचारते? साहित्य सबका है, उसे घेरे में बाँधा नहीं जा सकता। यही नहीं, ऐसा करना साहित्य को हानि पहुँचाना होगा।

उदाहरण स्वरूप बंगाल ने कवीन्द्र रवीन्द्र को अत्यधिक बंगला का बनाकर बहुत बड़ा अहित किया है और आप भी यदि ऐसा ही करेंगे तो आप भो बहुत बड़ा अहित ही करेंगे।

भाषा के कारण आज संघर्ष बढ़ गया है। अब प्रादेशिकता से बढ़कर यह संघर्ष कई प्रदेशों का समूह होकर एक-दूसरे का विरोध करने पर पहुँच रहा है। यह अत्यन्त अहितकर व घातक प्रवृत्ति है और यह केवल इसीलिए हो रहा है। हम बाहरी अभिव्यक्ति के साधन को ही स्वतन्त्र महत्त्व देने लगे हैं। भाषा अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र ही तो है? और उस नाते किसी से कम पवित्र नहीं है।

भाषा का निर्माण व्यवहार से होता है। मैं हिन्दी भाषा बोलता हूँ या लिखता हूँ तो व्याकरण का विचार करके नहीं। पण्डितों को ऐसे व्यवहार में व्याकरण के दोष दिखाई दे सकते हैं। पण्डित तो अब भी विद्या सम्पन्नता से भाषा पर बैठे हुए हैं। प्रेम की अभिव्यक्ति स्वाभाविक गति से साहित्य में होती है। पण्डितों को उस भाषा में व्याकरण पर जोर पड़ता हुआ मालूम होता है। चलन-में प्रवाह-में ज़ोर तो पड़ता ही है। गति में ज़ोर पड़ेगा ही। अतः भाषा पर जमकर बैठा हुआ पण्डित तो अचल हो जाता है। साहित्यकार है वह जो भाषा के द्वार पर भिखारी है प्रभु नहीं, पुजारी है और भाषा से प्राप्त वरदान से रचनाकार बनता है। मेरी दृष्टि में भाषा को वही सच्ची सार्थकता का नैवेद्य देता है।

भाषा की सम्पन्नता शब्द कोषों से नहीं, हृदय को स्फुरण देने वाली अनुभूतियाँ, उमंगों व प्रेरणाओं को व्यक्त करने की शक्ति से होती है। इसीलिए भाषा को मानवता से या साहित्य से अलग रूप देना ठीक नहीं है। भाषा के पंडित व साहित्य-सृष्टा दो अलग होते हैं। साहित्यकार को जब जनता स्वीकार कर लेती है तब पण्डित भी उसे मान्यता दे देते हैं। इसलिए आज की स्थिति में स्पष्ट रूप से यह कह देना अत्यावश्यक हो गया है कि हम भाषा को मानवता के आदन-प्रदान के साधन के रूप में स्वीकार करें, अपने अहंभाव, मोह व अधिकार लिप्सा की पूर्ति का साधन न बनायें। भाषा को किसी से अलग या बंद रखने का आग्रह न करें।

भाषा विषय इसी विवाद ने तूल पकड़कर अंग्रेज़ी भाषा को 15 वर्षों की छूट दिला दी है। हम भूल गये कि भाषा साहित्य के साथ है। भाषा रचना के साथ चलती है। यदि अपनी भाषा की अपूर्णताओं का अनुभव करके हमने उसके साहित्य को समृद्ध बनाया होता तो हमें आग्रह करने की आवश्यकता ही न होती, हमारे भाषा का प्रसाद ही अपने प्रभाव को मान्य करा लेता।

हिन्दी कानून से राज्य भाषा है। आज भी हिन्दी भाषी और भाषा-भाषी ऐसे जन हैं जो इसे राष्ट्रभाषा नहीं स्वीकार करते। मैं तो इसे राष्ट्रभाषा ही मानता हूँ। राष्ट्रभाषा कानून के बल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर नहीं, चलन व प्रभाव के बल पर अपनी संजीवनी व विस्तार के आधार पर।

इधर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में परीक्षा बोर्ड का झगड़ा उठ खड़ा हुआ है। उधर राष्ट्र-भाषा प्रचार परिषद् सरकारी मान्यता प्राप्त करके सारे देश में अपनी परीक्षाएँ चलाने की सम्भावनाएँ देख रही है। यह परिस्थिति वेदनामय है।

भाषा को साहित्य से अलग करके उसे स्वतंत्र रूप देने की भूल की गई है। हमें तो भाषा को सरस, मधुर और हृदय को स्पर्श करती हुई बनाना होगा। अपने स्वत्व और निजत्व पर अधिक महत्त्व न देकर बल्कि उसका अर्पण प्रस्तुत करके हम राष्ट्र को अधिक सबल बनाने में सहायक होंगे।

भाषा को किसी सिद्धान्त विशेष से न जकड़कर उसे व्यवहार से, जीवन के प्रवाह से और हृदय से जोड़ा जाये। अभिव्यक्ति की अनुभूतियाँ किसी समर्थ साहित्यकार को सीमा में बँधा नहीं रहने देगी। अतः शब्दों का प्रवाह मुक्त होना चाहिए। किसी सिद्धांत अथवा सूत्र विशेष से बँधकर उसे नहीं रहना चाहिए।

आवारागर्दी जीवन का स्वभाव बन गया है। माता को चिन्ता होती थी कि यह लड़का कैसे जियेगा? आजीविका कैसे जुटायेगा और है भी सच। अब भी कुछ इसी तरह से चल रहा है। परंतु जब धन कमाने का शऊर ही नहीं तो उस ओर सोचा ही क्यों जाय?

देश में सन् '21 से '42 तक यह फक्कड़पन की हवा प्रबल वेग से चली। सोचा जाता था कि औरों के आँसू पोंछने के लिए अपने को होम देना चाहिए। कोरे धन की कमाई व्यर्थ है। वह कमाई सबके बस की भी नहीं, परंतु अपने को मिटाकर औरों के आँसू पोंछने की सामर्थ्य तो है। बंधन मुक्त होना है। बाधा-विघ्नों से हँसकर खेलना है। मस्ती से निर्धनता में सुख प्राप्त करना है। परंतु स्वतंत्रता आते ही हवा बदली।

युग की आवश्यकताएँ तो आज उस फक्कड़पन को और अधिक व्यापक रूप में चाहती हैं। नये निर्माण के लिए उसकी तीव्र आवश्यकता है और इस बदली हुई हवा को बदलने का सामर्थ्य साहित्यकार में ही है। साहित्यकार ही को इसे बदलना होगा।

मार्च, '51.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यकार का वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व

साहित्यकार, स्पष्ट है, कोई अलग या खास आदमी नहीं है। जो उसके बारे में सही है, वही हर एक के बारे में सही होना चाहिए।

साहित्यकार होने के नाते हम उसकी ओर से बात कहें, यह ठीक, पर वह मानव के पक्ष की बात है।

स्वातंत्र्य मेरे निकट एक मूल्य है। किन्तु उपयोग से अलग उसका विचार अवास्तव हो सकता है। यानी स्वतन्त्रता मानव का अधिकार है, इस कहने में से मुझे विशेष आशय नहीं प्राप्त होता।

उपयोग से हम स्वतंत्रता का निर्माण करते हैं। दुरुपयोग उसे सीमित करता है और बन्धन डालता है। समीचन उपयोग उसे फैलाता और व्यक्ति को व्याप्ति देकर उत्तरोत्तर उसे मुक्त करता है।

दायित्व व्यक्ति का असल में वैयक्तिक और आत्मिक है। यानी वह जीवन में गर्भित है। यहाँ तक कि वह दायित्व के रूप में अनुभव में नहीं आता, स्वभाव-सा लगता है। सच्चे दायित्व का रूप यही है। वह आनंदमय है। वह स्वतंत्रता से अभिन्न है। वह सृजनात्मक है। उसका नियम अपने में है। समाज में उसका परिणाम है, प्रतिफल है, आनंद का उत्स भीतर है, इसीसे अनिवार्य है कि उसका प्रवाह बाहर को हो।

दायित्व को सामाजिक कहना परिणाम की ओर से उसे देखना है। उसकी अतिरिक्त चेतना स्वयं समाज के हित में इष्ट नहीं है।

प्रेम दायित्व नहीं है। किन्तु वही है जो एक को अनेक से जोड़ता है। संबंध सब वहीं से उगते हैं। उस प्रेम की अनिवार्यता को लेकर जीवन सृष्ट होता है। कह सकते हैं कि जीव का जीवन प्रेम है। इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है, उसका सहज विकास और प्रकाश है।

दायित्व कुछ ओढ़ी-सी चीज़ है। वह, वह कर्त्तव्य है जिसमें वह नहीं भी है। ऐसा दायित्व भीतर कुछ दमित भी छोड़ जा सकता है। उससे व्यक्तित्व विभक्त बनता है। द्वंद्व उससे निबटता तो नहीं, उलटे कुंठा बनकर गहरे जाता है। स्पष्ट ही इससे समाज में विषमता उपजती है जो समाज के स्वास्थ्य को पनपने नहीं देती।

इस तरह समाज की पृथक् और कर्तृत्वमूलक चिंता एक असामाजिक कर्म है। उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्धति से ऐसा नेता और उद्धारक पैदा होता है, जो समाज पर कब्ज़ा चाहता है, स्वयं उसमें किसी तरह हल नहीं हो पाता। यह एक ऐसा आदर्शवादी पुरुष है, जो मूल में केवल ट्रेजिक है। अर्थात् ओढ़ी हुई समाज-चिंता एक गहरा रोग है और रक्त में रमी स्व-रति का चिह्न है। व्यक्ति इस पद्धति से समाज में मुक्त नहीं हो पाता, बल्कि उलटे वहाँ गाँठ के मानिंद होकर अटल बनता है।

समाज के प्रति, यानी अन्य व्यक्तियों के प्रति, सहानुभूति का भाव एक आंतरिक विवशता अधिक होनी चाहिए, राजकीय अथवा सामाजिक दायित्व कम। प्रेम धर्म है और उससे बड़ा कोई दायित्व और कर्तव्य नहीं हो सकता।

समाज का वहीं से आरंभ है जहाँ व्यक्ति की सीमा है। सीमा पर दोनों का एक-दूसरे के प्रति दबाव है। सीमा सख्त नहीं रहनी चाहिए और जहाँ वह लगभग नहीं है। वही स्थिति मुक्तिबोध की है। बाहर से चेतना पर पड़ने वाला दबाव जड़ात्मक और हिंसात्मक कहा जा सकता है। भीतर से बाहर की ओर जाने वाला उसका उत्तर चिन्मय और अहिंसात्मक होकर ही विकास-साधक हो सकता है।

इन दो, जड़ और चेतन शक्तियों के ज्वलंत संघर्ष में से शहीद संपन्न होता है। शहीद जो स्वेच्छा से मरता और अपने ऊपर दूसरे को पूरी, यानी मारने तक की, स्वतंत्रता देता है।

अर्थात् स्वतंत्रता का सही उपयोग सदा उसके देने में है। हमारी स्वतंत्रता-वैयक्तिक, मानवीय और सामाजिक स्वतंत्रता इसमें हैं कि हम दूसरे पर आरोप न लायें, अपशब्द न कहें। दूसरे शब्दों में यह कि जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम हर किसी को स्वतंत्र मानें कि वह हमें गाली दे सके।

शहीद जीवन की गति को, उसके नियम को प्रकाशित करता है।

ऐसा असंभव हो जाये, अगर समाज का व्यक्ति को समाप्त करने का अधिकार अनधिकृत ठहरा दिया जाये।

वह अधिकार अत्यंत प्रकृत है। शेर का अपने शिकार पर अधिकार तब तक रहेगा जब तक वह शेर है। इसलिए हिंसा के अधिकार का प्रश्न नहीं है। वह प्रकृति में ही गर्भित है और सदा रहेगा। असल में हिंसा अधिकार ही अधिकार है और अधिकार की कोई चेतना सर्वथा हिंसा से शून्य नहीं है।

किन्तु यह तो प्रकृति हुई। इस भूमिका से तो संस्कृति का मात्र आरंभ है। प्रश्न यहाँ से शुरू होता है और संस्कृति की ओर से देखने पर स्वतंत्रता वह अधिकार हो जाता है, जो हम सबको देते हैं। यानी हमारे लिए वह अधिकार से अधिक है, अर्थात कर्तव्य है।

व्यक्ति का अधिकार शहादत है। सच में यज्ञ ही धर्म है। इसमें से जीवन का परम नियम सत्याग्रह प्राप्त होता है।

सत्याग्रह व्यक्ति की ओर से विनम्र ही हो सकता है। यानी दूसरी ओर से वह हत्याग्रह और हठाग्रह के अधिकार को इस रूप में स्वीकार करता है कि स्वयं उसे नहीं अपनाता।

सत्याग्रह के स्वीकार में व्यक्ति को समाज से प्रथमता मिल जाती है। यह प्रथमता समाज की गति और विकास के लिए परम मूल्यवान् वस्तु है। असामाजिक तो यह है ही नहीं। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि समाज-मंगल के अर्थ में यह और भी अभीष्ट मूल्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज के त्राता वे ही समझे गये हैं और समझे जायेंगे जो अपने प्रेम को इंकार नहीं कर सके हैं, यहाँ तक कि समाज ने चाहे अपने हाथों उन्हें उसके लिए मृत्यु ही दी हो। यह मृत्यु जीवन का प्रतीक बनकर इतिहास को प्रकाश देती रही है।

इस प्रथमता का स्पष्ट आधार यह है कि समाज अंत में एक परिमाण है। अंतःकरण उसमें यदि है तो वह अमुक व्यक्ति के ही रूप में हुआ करता है।

सामाजिक दायित्व यह संज्ञा स्वयं व्यक्ति ही उत्पन्न कर सकता है। समाज की ओर से पड़ने वाले दबाव को दायित्व के रूप में लेने की संभवता अंत में व्यक्ति पर ही टिकती है। अन्दर उसके प्रेम है, तभी वह उसे अत्याचार न कहकर दायित्व कहता है अर्थात् समाज की ओर से उसका रूप केवल दबाव का है। व्यक्ति अपनी आंतरिक क्षमता से उस दबाव को उठाता ही नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्वक उसे अपनाता तक है। इसमें स्वयं व्यक्ति के स्वातंत्र्य की स्वीकृति है।

समाज धारणात्मक संज्ञा है। आजकल उसका रूप राष्ट्रीय है, क्योंकि मानव-जाति की व्यवस्था राष्ट्र-राज्य की परिभाषा में चलती है। स्पष्ट यह ऐसी सीमित धारणा है कि व्यक्ति अपनी समस्त अनुभूति और संवेदना को लेकर उसमें बंद नहीं हो सकता। उसको बाह्येन्द्रियों तक उसे अखिल के संपर्क में लाती है। सूरज वह देखता है, चाँद-तारे देखता है और आकाश देखता है, जो अगाध है और सदा पूर्ण है। उसका विज्ञान ब्रह्माण्ड को उसके निकट सतत खोलता और अनन्त बनाता जाता है। इस सबसे कटकर अमुक समाज में बँधकर वह रहना चाहे भी तो यह उसके बस का काम नहीं है। अखिल के प्रति उसका सम्बन्ध सबसे प्राथमिक रहने ही वाला है। प्रसन्न स्वीकृति का संबंध आस्तिकता है, रुद्ध स्पर्द्धा का होने पर वही नास्तिकता है। पर दोनों सामाजिकता की दृष्टि से एक-से उत्तीर्ण हैं और दोनों ही अनन्य में प्राथमिक हैं।

शहीद इस प्राथमिक के सम्मान में गौण और सापेक्ष को किनारा दे रहता है, तो यह सापेक्ष की अप्रतिष्ठा नहीं है। बल्कि किंचित उसकी सेवा ही है।

शहादत को मैं अंतिम मूल्य मानता हूँ। इसीसे कहता हूँ कि स्वतंत्रता मेरे निकट मूल्य ही है। यानी उसको अपनाकर, अपने को उसमें देकर, हम से परिपूर्ण ही करते जाना है। जिससे समाज बलिदान पाये तो कुंठित और दमित व्यक्तियों का नहीं, वरन् उसे प्रसन्न आत्मदान मिले आहुत व्यक्तियों का और ऐसे उत्तरोत्तर भरपूर और निःशासन होता जाये।

अप्रैल, '55

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी और राष्ट्र

इस अवसर पर आपसे कुछ कहने के लिए आपने मुझे इतनी दूर से याद किया, इसका मैं आभार मानता हूँ। असम के जादू की बात मैं छुटपन से सुनता आया हूँ। सच ही इस प्रदेश पर प्रकृति ने अपना जादू बिखेरा है। फिर राष्ट्रभाषा के प्रति आपके प्रेम में और प्रयत्न में भी कम जादू नहीं है। हिंदी आपकी मातृभाषा नहीं है, लेकिन लगन से उसे अपनाया है और उसमें ऊँची योग्यता प्राप्त की है। इसके लिए मैं आपको बधाई देता और आपका ऋण मानता हूँ। ऋण इसलिए कि मुझे तो वह मातृभाषा के रूप में मिली और उसे सीखने के लिए मुझे कुछ भी मेहनत नहीं करनी पड़ी। हिंदी-प्रदेश वालों पर एक तरह इतर प्रान्तवासियों का यह ऋण ही है कि आप अतिरिक्त श्रम से हिंदी सीख़ते हैं। उऋणता का उनके पास बस यही उपाय है कि वे भी आपकी तरह कोई एक प्रान्तीय भाषा अवश्य ही सीखें।

आपने हिंदी को राष्ट्रभाषा माना है। कुछ लोग उसे राजभाषा कहकर इति करते हैं। शायद वे मानते हैं कि राज के अंतर-प्रान्तीय काम-काज के लिए हिंदी का सहारा हम ले लें तो बस है। आगे सबके पास अपनी विविध भाषाएँ हैं ही। इसलिए उसे राष्ट्रभाषा कहने की उन्हें आवश्यकता नहीं जान पड़ती। लेकिन राष्ट्रभाषा तो ऊपर से भी आ सकती है। जैसे अंग्रेज़ी भारत की राजभाषा रही और है। उससे राज-काज तो चला, पर वह राज स्वराज नहीं हो सका। भारत में स्वराज लाने के लिए गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी-प्रचार को एक बुनियादी रचनात्मक काम बताया। अंग्रेज़ी से पहले भी राजभाषा के तौर पर जो जुबान चलती रही वह राष्ट्रभाषा नहीं थी। उससे समाज में फाँकें बनी रहीं और राजा-प्रजा ये दो पक्ष रहे और उनमें फ़ासला रहा। पर भारत ने स्वतंत्र होकर लोकतंत्र अपनाया है। उनका आशय तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक राष्ट्रभाषा ही राजभाषा न हो।

राष्ट्रभाषा कहने से अनायास उसके स्वरूप के बारे में कई बातें साफ हो जाती हैं। यानी भाषा कोई अपने खातिर राष्ट्रभाषा नहीं हो जाती। हिंदी यदि राष्ट्रभाषा है तो इसलिए नहीं कि वह इतर भाषाओं से बढ़-चढ़कर है, या उससे सबसे ऊँचा साहित्य है। भाषा के नहीं, राष्ट्र के कारण से वह राष्ट्रभाषा है। यानी इस कारण से कि आम तौर पर वह देश-भर में सब कहीं समझ ली जाती है और एक बहुत बड़े हिस्से में बोली जाती है। इससे विवाद स्वयं कट जाता है और उसका इष्ट स्वरूप आप ही सुलभ हो आता है।

भाषा के लिए हमें अपने देश की ओर देखने की ज़रूरत है। कौन ऐसी विविधता है जो यहाँ नहीं मिलती। विधाता ने मानो भारत को समन्वय की प्रयोग-भूमि के तौर पर सिरजा। इतिहास ने भी यहाँ उसी उद्देश्य की सिद्धि की। बाहर से नाना जातियाँ आईं और नाना प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आये। हो सकता है कि वे प्रहार बनकर आए हों, लेकिन समय बीतते वे लोग और प्रभाव यहीं के हो रहे और यहाँ की संस्कृति में रच गये। कहाँ तो समझा जाता था कि वे इस देश की परंपरा को उच्छिन्न कर रहेंगे, कहाँ वे उलटे उसे सम्पन्न करने का निमित्त हो रहे। इस तरह भारत भूमि भेदों को झेलती और उन्हें अपनी अंतरंग आस्था की कीमियाँ से अभेद में परिणत करती रही है। उसके हृदय में अनंत क्षमता रही है और निषेध वृत्ति की उसे कभी ज़रूरत नहीं हुई। उसका स्वास्थ्य मानो सब आत्मसात् करके पुष्ट ही होता गया है। इसलिए वह संस्कृति अटूट रही और काल उसमें भंग नहीं ला सका। कभी राज्य के रूप में ललकार के साथ ऊपर आने और अपना साम्राज्य विस्तार करने की उसे नहीं सूझी। और देशों में संस्कृतियाँ उठी हैं, लेकिन दर्पोद्धत होकर आगे विजय को निकली हैं कि फिर उसी कारण मिटकर धूल में सो गई हैं। भारत की संस्कृति कभी राजकीय नहीं हुई, वह नैतिक ही बनी रही। वह असंख्य प्रजाजन के और उनके रचनात्मक श्रम के साथ रही। राजसिक औद्धत्य के साथ उसने किसी को चुनौती नहीं दी। वहाँ आवाहन रहा, भूमि की ओर से निमंत्रण रहा। उस मूल भूमिका पर ऊपर राजाओं के दंद-फंद भी चलते रहे, लेकिन उस सब उपद्रव और तांडव के नीचे भारतीय प्रकृति और संस्कृति अक्षुण्ण रही और अपने श्रम-धर्म से नहीं हिली।

गांधीजी इसी सनातन भारतीयता के प्रतिनिधि थे। वह भारत के आत्मप्रतीक थे। उन्होंने हमें राष्ट्रभाषा का मंत्र दिया। स्वयं गुजराती थे और उस भाषा के बड़े शैलीकार थे, लेकिन उन्होंने कहा कि यहाँ कि राष्ट्रभाषा हिंदी है। बुद्धि-भेद होने पर आगे उन्होंने कहा कि वह हिंदी हिंदुस्तानी है।

उस सब में सार यह था कि साक्षरों की भाषा जो हो, और चाहे तो वहाँ जितना भी विवाद और आग्रह हो, राष्ट्रभाषा तो उस अनगिनत जनता के लिए है जो अक्षर से हीन है पर जीवन से भरपूर है। सच है कि भारत का प्राण उन्हीं देहात वासियों में बसा है। शक्ति वहाँ से लेनी है और सेवा को भी वहीं पहुँचाना है। अन्यथा राजनीति निष्प्राण रहेगी और उससे झमेले सुलझेंगे नहीं उलटे उलझते जायेंगे।

लेकिन सवाल महात्मा से चलकर हम अक्षराभिमानियों के पास आया तो मानो वह राष्ट्रहित से अधिक भाषा-विवाद का हो गया। उसमें आग्रह पड़ने लगे और चीज़ खुली रहने और फैलने के लिए थी वह तरह-तरह के मंतव्यों से लदने और घुटने लगी। सब में अपनी-अपनी चेतना जगी और उनमें आपस में ज़िद पड़ने लगी। राजनीति का रंग वहाँ भी पहुँचा और मिलाने और देश को एक बनाने के लिए जो राष्ट्रभाषा का सवाल था, उसी को लेकर दल बँधने लगे।

स्पष्ट हो कि राष्ट्रभाषा का काम सेवा का और रचना का है। वह दल का या तुलना का नहीं है। विग्रह और स्पर्द्धा वहाँ के लिए तनिक संगत नहीं। वह अमुक भाषा के फैलाव का काम उतना नहीं है जितना भारतीय जनता के साथ एकमेक होने का है। यदि वह वृत्ति है तो जो सवाल सामने आयेंगे, हल होते जायेंगे। अन्यथा जान पड़ेगा कि आगे बेहद उलझन है, रास्ता चारों ओर से रुँधा हुआ है और पराई भाषा के आश्रय में ही निस्तार है!

राष्ट्रभाषा के विषय में नीचे की तीन बातों पर बुद्धि-भेद उपजता देखा जाता है

1. उर्दू के साथ उसका संबंध।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. संस्कृत के साथ उसका संबंध।
3. प्रांतीय भाषाओं के साथ उसका संबंध।

उर्दू के साथ हिंदी के संबंध की बात इससे बहुत साफ़ हो जाती है कि हिंदी की लिपि नागरी है और उर्दू की लिपि फारसी (या उर्दू) है। इतना होने के बाद रगड़ का कोई प्रश्न नहीं रह जाता। नागरी में छपने पर सारा उर्दू साहित्य हिंदी में खप जाना चाहिए। उससे हिंदी की क्षति नहीं श्रीवृद्धि ही होगी।

[दूसरी ओर मैं यह भी मानता हूँ कि उर्दू हर्फों में छपने पर हिंदी साहित्य भी उर्दू का अपना हो सकता है। उर्दू को उससे डरना न चाहिए, बल्कि उसमें अपना फायदा देखना चाहिए।]

उसके बाद अमुक शब्दों के बारे में असहिष्णुता अस्वास्थ्य की ही निशानी कहलायेगी। असंभव है कि बाहर के शब्दों को, जैसे कि बाहर की हवा को, परे ही रोक रखा जाय और पास ने आने दिया जाय। कोई हदबन्दी यह नहीं कर सकती। जीवन का सारा इतिहास बताता है कि यह झूठी कोशिश है। अहंताएँ सब रास्ते में गिरती गई हैं और आदमी एक-दूसरे के पास आता गया है। बंद जगह कब्र कहलाती है और कोई मकान नहीं हुआ जिसमें दीवारें ही हों, द्वार-गवाक्ष न हों। हमारा अलगपन, बंदपन टूटेगा कि हम मुक्त हों, व्यापक हों। भाषा इसी व्याप्ति की राह में आदमी को मिली है। स्वयं वह घिर बैठे यह एकदम अनहोनी बात है। समूची मानवता का एक होना अब स्वर्ग-स्वप्न की बात नहीं रह गई वरन् हमारे कार्यक्रम का अंग बनती जा रही है।

संस्कृत से तो हिंदी का संबंध अटूट है। उन्हें बिछुड़ाने चलिए तो पाइयेगा कि हिंदी फिर कहीं बचती ही नहीं है। पर गंगोत्री से निकलकर गंगा वहाँ लौट नहीं सकती। बढ़ना उसे सागर की ओर है और राह में उन सब धाराओं को अपने में लेते चलना है जो सहज प्रवाह से उसमें आ मिलता हैं।

यह सिद्धांत कि तत्सम प्रयोग न आयें, तद्भव रूप में ही आयें राष्ट्रभाषा के लिए गलत है। या यह कि बनाये जाने वाले सब नये शब्द मूल संस्कृत धातु से ही रचे जायें, यह भी गलत है। दोनों इसलिए गलत हैं कि दोनों मतवाद हैं और भाषा सम्बन्धी हैं। वे उपयोग से अलग भाषा को लेना चाहते हैं। जैसे प्राण से शून्य शरीर की चिंता आवश्यक हो!

प्रवाह में जो शामिल होगा और समरस हो सकेगा वही गंगा में गंगोदक हो जायेगा। उसे अलग करना न संभव होगा, न उपादेय। क्या भक्त सूरदास ने नहीं गाया—

इक नदिया इक नारि कहावत, मैलो नीर भर्‌यो।
मिलि दोऊ जब एक बरन भई, सुरसरि नाम पर्‌ यो॥

दृष्टि यदि जन-सागर की ओर है और उसमें मिल जाने की कामना है तो तत्सम और तद्भव, देशज अथवा संस्कृत-मूलक शब्दों की समस्या तनिक भी सेवक कार्यकर्ता को अपने में अटका नहीं सकेगी। विद्वानों की वह समस्या है और सेवक कार्यकर्ता उसे विद्वानों को ही सौंपकर निश्चिंत आगे बढ़ता जायेगा।

तीसरा प्रश्न प्रांतीय भाषाओं के साथ राष्ट्रभाषा के संबंध का है। कुछ भाषाएँ सशंक हैं और कहीं तो हिंदी प्रचार में साम्राज्यवाद की गंध तक ली जाती है। ये प्रश्न व्यवहार के हैं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभाषा का काम करने वालों को उनसे चेतावनी मिलती रहनी चाहिए। वृत्ति में सेवा से अतिरिक्त भाषाभिमान तनिक भी आया तो उसकी प्रतिक्रिया सही नहीं होगी। राष्ट्रभाषा हिंदी की उन्नति उतनी ही होगी, उससे तनिक भी अधिक न हो पायेगी, जितना इतर प्रांतीय भाषाओं का उसको योग मिलेगा। योग स्वेच्छित ही हो सकता है, बलात् होने वाला योग नहीं बोझ है। इसका मुख्य दायित्व हिंदी वालों पर आता है। असल में हिंदी के राष्ट्रभाषा होने से वे सारे राष्ट्र के ऋणी बन जाते हैं। इस कारण वे नत और विनम्र ही हो सकते हैं। प्रत्येक भाषा या राज्य, स्वयं निर्णय करे कि हिंदी को वह किस रूप और सीमा में स्वीकार करना या चलाना चाहता है। अथवा कि सारे राष्ट्र की दृष्टि से केंद्र की विधान सभा या सरकार वह अनुपात तय करे। हिंदी सेवक उस निर्णय को अपने हाथ में नहीं ले सकता है, वह तो अपनी सेवा ही समर्पित कर सकता है। इस तरह यह प्रश्न व्यवहारिक राजनीति का हो रहता है और वहीं उसका समाधान है।

किंतु एक बात स्पष्ट है और वह अमोघ भी है। भारत का भाग्य एक है। भारत अखण्ड सत्ता है। राजकीय और राष्ट्रीय से अधिक वह नैतिक और आत्मिक सत्ता है। उसका प्रकाश हिंदी के द्वारा होगा, विकास भी हिंदी के द्वारा होगा। भारत उठता है तो उसके राज्य उठते हैं, और भारत उठेगा तो उसके सब अंगों के आत्मदान से उठेगा। अंग्रेज़ी से सब भाषाएँ दबी हैं और अंग्रेज़ी में चलने वाले भारत के राज-कारण और राज-शासन से ज़रूरी तौर पर भारत की संस्कृति दबी है। इसलिए सब भाषाओं का भविष्य हिंदी के भविष्य के साथ है। अगर अंग्रेज़ी से हिंदी को हीन और परास्त ही रहना है तो निश्चय है कि उस पराभव से अन्य प्रांतीय भाषाएँ मुक्त नहीं हो पायेंगी। इस तरह उन भाषाओं में और राष्ट्रभाषा में हित-विग्रह तो कहीं है ही नहीं। प्रश्न केवल विभिन्न राज्यों में उन हितों से संतुलन और सामंजस्य का है जो कुशल और आस्थावान नेतृत्व से निबटाया जा सकता है।

इस अंतरंग उलझनों के बाद कुछ बहिरंग रूप की भी बातें हैं और राष्ट्रभाषा के व्यवस्थापकों को उनके बारे में भी फैसला करना है। प्रांतीय भाषाएँ क्या सब एक नागरी लिपि को ही नहीं अपना ले सकतीं? असंभव तो यह नहीं जान पड़ता, क्योंकि मूल वर्णमाला सब कहीं लगभग एक है। यह हो तो उनका आपस का अंतर एक साथ बहुत कम हो जाता और परिचय का मार्ग परस्पर खुल जाता है। उससे मिला हुआ लिपि सुधार का प्रश्न है। कुछ ध्वनियाँ हिंदी में नहीं हैं और उनके सूचक अक्षर हिन्दी में जुड़ सकते हैं। अथवा कि कुछ अक्षर कम हो सकते और उनका काम संकेतों से चला लिया जा सकता है। ऐसे छापे और टाइप में इतना सुभीता किया जा सकता है कि नागरी वेग में दुनिया की किसी भी भाषा को पकड़ सके।

इत्यादि प्रश्न हिंदी सेवकों के सामने हैं। हर हाल में हिंदी को बड़ा दायित्व उठाना है। वह एक बड़े देश की भाषा है। वह देश अब विस्तार में ही बड़ा नहीं, बल्कि दुनिया को उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। आज तो वह विश्व-नीति का केंद्र देश है। उसका इतिहास अनोखा रहा है और गांधी के नेतृत्व में लड़े गये उसके स्वातंत्र्य-युद्ध का जवाब तो कहीं ढूँढ़े नहीं मिल सकता। बिना दुश्मनी के वह लड़ाई लड़ी गई और मानव-जाति के राजनीतिक इतिहास में शांति और प्रेम की युद्ध-नीति का सूत्रपात हुआ। आज जब सबके दिमागों में एक-दूसरे की शंका है और मनों में भयंकर युद्ध की आशंका, तब यह देश पक्षों से अलग है और शांति ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका ध्रुव है। उस देश को आगे विश्व निर्माण में हिंदी के द्वारा ही अपने को सिद्ध और सफल करना है।

मानव इतिहास अब एक मोड़ पर आया है, अणुयुग शुरू हो रहा है। अगर मनुष्य को समाप्त नहीं हो जाना है तो निश्चय है कि यही अहिंसा का भी युग होगा। अणु शक्ति ने हिंसा की विकरालता को इतना सामने कर दिया है कि उसी कारण सदा के लिए उसकी अश्रद्धा मानव मन में गहरी बैठ जाने वाली है। आगे शक्ति के हाथ न्याय नहीं रह सकेगा। शक्ति की जगह नीति लेगी और युद्ध द्वारा निर्णय करने को विधि पुरानी पड़ जायेगी। मानव का यह स्वर्णयुग भारत के गांधी से प्रकाश लेगा और उसी राह पूर्णता की ओर बढ़ेगा।

भविष्य अज्ञात है तो इसीलिए कि हमारे हाथों उसे बनना है। गांधी के उत्तराधिकारी हम भारतवासियों पर उस भविष्य के निर्माण का काम आया है। यदि भारत को इसमें आगे होना और दुनिया को अपनी राह लेना है। हम देखेंगे कि यदि भारत ने अपना भाग पूरा किया तो हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा ही नहीं, वह विश्व की एक प्रमुख भाषा भी होगी। क्योंकि अहिंसा और अपरिग्रह का जीवन-शास्त्र विश्व को मूल हिंदी में से प्राप्त होगा।

अधिक काल विश्व की प्रगति की बागडोर पश्चिम की जीवन-पद्धति के हाथ रहने वाली नहीं है। उसने उन्नति दी है, पर साथ ही स्पर्द्धा को भी धार दे दी है। इसलिए उन्नति चरम युद्ध में चरितार्थ होता है, विज्ञान की सिद्धि संहार में दीखती है। अणु-शक्ति विज्ञान का अन्यतम उद्घाटन है, लेकिन बम बना सकने की स्पर्द्धा में वह उपलब्धि हुई है। मानो खुद जीतने और दूसरे को हराने की ही प्रेरणा है जो उन्नति की साधिका है। उस तरह की प्रेरणा अब खुले रूप से भ्रांत और अनिष्ट दीख आई है। उसका लोभ अब जल्दी ही फीका पड़ जाने वाला है। मानव मशीन के हाथ बिका रहेगा, बल्कि मशीन को अधीनता में लेगा? पश्चिम में मशीन है, लेकिन पूर्व में मानव है, आज जो विश्वनीति पूर्व की ओर खिसक रही है उसके भीतर का सत्य यही है। पूर्व पिछड़ा हुआ यदि है तो मशीन की अपेक्षा में, अन्यथा मानव नीति और अध्यात्म नीति का प्रकर्ष पूर्व में ही मिलेगा।

मेरे मन में सन्देह नहीं है कि भारत जब आत्मसिद्धि की ओर बढ़ेगा तो उसकी अभिव्यक्ति की भाषा अंग्रेज़ी नहीं होगी, हिन्दी होगी। इसलिए हिंदी कम-से-कम पूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा हो रहेगी। आज भी यहाँ जो गांधी नीति के गहन जीवन-प्रयोग चल रहे हैं और उसके परिणाम में जो तत्त्व-शास्त्र और समाज-शास्त्र तैयार हो रहा है सहज रूप से हिंदी में ही हो रहा है। हम उसका महत्त्व न जानें लेकिन आने वाली पीढ़ियाँ खोजकर उसे पायेंगीं और उसे आगम की प्रतिष्ठा देंगी।

आशय, हिंदी को ऊपरी अन्तरप्रांतीय काम-काज को नहीं सँभालना है, बल्कि उसे उन्नत साहित्य की भी संयोजना और रचना करनी है। भारत के पास जो श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है, गहन है और अगम है, जो आत्मवान् और प्राणवान् है, उसे हिंदी में प्रकाश में लाना होगा। अंग्रेज़ी काम-काजी रहे, पर हिंदी को तो भारत के साथ हार्दिक भी होना है। जल्दी-से-जल्दी व्यवस्था होनी चाहिए कि सब प्रांतीय भाषाओं की उत्तम पुस्तकें हिंदी में आ जायें। इस दिशा में आप और आप जैसे दूसरे स्नातक बड़ी सेवा कर सकते हैं। अपनी-अपनी भाषाओं को आप छान डाले और जो ग्राह्य हो उसे हिंदी में कर डाले। ऐसा सम्मिलित प्रयत्न सब भाषाओं में चले तो भारत के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वासियों को सहसा मालूम हो कि उनके अपने ही पास साहित्य का कितना अगाध भंडार पड़ा हुआ है। आज तो यह देश अंग्रेज़ी पुस्तकों के बड़े खरीदारों में से है। यह उलटी धारा कही जा सकती है। सच यह कि पश्चिम के विद्वान् अनजाने यहाँ हमारी साहित्य निधि में से चुन-चुनकर सामग्री अपने यहाँ ले जाते और ज्ञान का संवर्धन करते हैं। लेकिन फिर भी समय है कि धारा अब सीधी बहे, भारत अपनी ही निधि की सुधि ले पाये और दूसरों को देना आरंभ करे। उद्योगीकरण में भारत लेता है यह ठीक हो, लेकिन संस्कृतिकरण में अवश्य उसे देने को भी है और वह देने का क्रम अविलंब शुरू हो जाना चाहिए। जो एक से अधिक भाषाएँ जानते हैं, या खासकर विदेशी भाषाएँ जानते हैं, उनके लिए यह बड़ा काम करने को पड़ा है।

बड़ी कल्पना और योजना के पुरुषों का इधर ध्यान नहीं है। बड़ी पूँजी भी इस ओर उदासीन है। इस दिशा की संभावनाएँ शायद उन पर अभी खुली नहीं हैं। लेकिन मैं कहना चाहता हूँ कि यह बहुत उर्वर क्षेत्र है और निमंत्रित करता हूँ कि वे अपनी शक्ति और साधनों का इधर उपयोग दें। वह उपयोग समीचीन ही न होगा, मुझे निश्चय है पर्याप्त पुरस्कृत भी होगा। यह भी मुझे विश्वास है कि इसमें हमारी राज्य सरकारें और केन्द्रीय सरकार सहयोग और सहायता से पीछे न रहेंगी।

राष्ट्रभाषा का काम करते हुए आप भारत की राष्ट्रीयता की विशिष्टता को न भूलें। राष्ट्रवाद दुनिया के साथ एक रोग भी बन गया है! वह आक्रामक हो जाता है। वह स्वार्थवादी और शासनात्मक होता है। इससे वह तोड़ता भी है और टूटता भी है। वह रगड़ उपजाता और परस्पर भय-संशय पैदा करता है। भारत की राष्ट्रीयता ने कभी वैसे राष्ट्रवाद को जन्म नहीं दिया। वह राष्ट्रीयता हमेशा सबके लिए आश्वासन और अभय का कारण बनी। हमारी राष्ट्रीयता की प्रकृति सांस्कृतिक रही, कभी उसे सशस्त्र सीमा की आवश्यकता नहीं हुई। कभी वह लकीरबन्द नहीं हो गई। क्योंकि वह मूल में अहम्मन्य की जगह अहिंसक थी और जय-लिप्सा की जगह उसमें सेवा-भावना थी। मुझे विश्वास है कि अगर भारतीय राष्ट्रीयता की अन्तःप्रकृति आपने पहचानी तो आप राष्ट्रभाषा की सेवा और उसके प्रचार के द्वारा उस मानव-क्रांति के अग्रदूत होंगे जिसकी संसार को माँग और प्रतीक्षा है। वह क्रांति सत्तात्मक और राजनीतिक न होगी, बल्कि सत्ता को राजनीति से ही वह मानव-जाति को मुक्ति देने वाली होगी।

अपनी मातृ-भाषा न होते भी आपने हिंदी सीखी है, जानता हूँ, राष्ट्र पर किसी उपकार के नाते नहीं बल्कि अपने हक के नाते आपने यह किया है। राष्ट्र आपका है, राष्ट्रभाषा हिन्दी भी उतनी ही आपकी है जितनी किसी की है। आपका यह असम प्रदेश भारत का सीमान्त देश है और उसका बड़ा महत्त्व है। अपने सीमान्त पर ही राष्ट्र की और राष्ट्रीयता की कसौटी होती है। मैं आपको बधाई देता हूँ कि आप हिन्दी में योग्यता की यह सनद पा रहे हैं। मानिये कि उतना ही आप दायित्व भी ले रहे हैं। मुझे भरोसा है कि आप उसकी राष्ट्रीयता को सच्चा पोषण और विस्तार देने वाले होंगे और आपके कामों से देश का गौरव बढ़ेगा।

अप्रैल, '55.

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी के दूसरे समावर्तन पर दीक्षान्त भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में नैतिकता

उस रोज यहाँ मराठी के साहित्य-सम्मेलन में दिलचस्प चर्चा सुनने को मिली। एक भाई ने तीन या चार आधुनिक उपन्यास लेखकों के नाम गिनाकर कहा—इनको तो मराठी उपन्यास-परम्परा में मैं शून्यवत् गिनता हूँ। ये भटके हुए हैं, इनमें आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है, काम की प्रतिष्ठा है। उन्होंने संत-साहित्य को वास्तव और पुष्ट साहित्य बताया। उसके बाद एक बंधु आये जिन्होंने कहा—संत-साहित्य अनैतिक और निर्वीय साहित्य है। पुरुष में पौरुष वह नहीं लाता बल्कि जड़ता लाता है। जहाँ शौर्य है वहीं श्रृंगार हो सकता है। भोग से भागने वाला योग पलायन है। ऐसा साहित्य दमन का समर्थन करता है जिससे वासना का शमन नहीं होता बल्कि विस्फोट की संभावना बढ़ती है।

ऊपर शब्द मेरे हैं। इसलिए शायद उतने तीखे नहीं हो पाये हैं जितने उन महाराष्ट्रीय वक्ताओं के थे। उनमें क्षमा नहीं थी, समाई नहीं थी, सामंजस्य की तनिक चेष्टा नहीं थी। आग्रह था और खुला प्रहार था और स्पष्ट था कि एक पक्ष दूसरे को सहना यानि रहने देना नहीं चाहता।

आशय यह नहीं है कि सम्मेलन में उस कारण वातावरण तनिक विक्षुब्ध था, बल्कि स्थिति में पूरी ग्रहणशीलता थी। क्षोभ बिल्कुल न था, केवल दोनों पक्षों में अपने-अपने प्रतिपादन और समर्थन के संबंध में पूरी ईमानदारी और दृढ़ता थी।

इस तरह नैतिकता गेंद की मानिंद इधर-से-उधर फेंकी जा रही थी और समझ नहीं आता था कि उसकी स्थिति कहाँ है और वह किस ओर है? संयम और दमन में है, या निर्बन्धता और मुक्तता में है?

मेरा हाल अब तक वैसा ही दयनीय है। यद्यपि नैतिक शब्द मुझे प्रिय है और नैतिकता का मैं कायल हूँ, पर बाहर दुनिया में नीति की रेखा कहाँ और कैसे खींची जाये कि नैतिक एक तरफ हो जाये और अनैतिक दूसरी तरफ रह जाये, यह मेरी समझ में नहीं आता। शायद नैतिक शब्द के प्रयोग का आशय यही है कि वैसी रेखा हो और गहरी हो। इसलिए अपने सारे प्यार के बावजूद मैं उस शब्द के प्रयोग से बचा रहना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि अपनी अनीति मुझे स्वयं पता लगे बिना रह नहीं सकती। ऐसे उसका भान सबके अन्दर है। अनीति मुझे कष्ट देती है, सुनीति मुझे उत्तीर्ण करेगी।और इन दोनों के बारे में यदि कुछ देर के लिए मेरे मन में भ्रम पैदा भी होगा तो अनुभव से वह दुविधा मिट जायेगी और नीति-अनीति का भेद मुझमें जगकर स्पष्ट हो जायेगा।

पर उस नीति से काम किसका चलने वाला है जो सबके अपने-अपने पास हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादी का और प्रतिवादी का कार्य तो ऐसे कभी नहीं चल सकता। लगता है कि समाज का और राज का काम चलाने के लिए 'पोथी बन्द नीति' के कुछ नियम चाहिए जिससे सज्जन को दुष्ट से अलग किया जा सके। दुष्ट का दलन और सज्जन का मनन हो सके। एक को दंड दिया जा सके और दूसरे को सम्मान। साहू और चोर एक हो जायेंगे तो कैसे काम चलेगा? इसी तरह राजा और रंक भी एक नहीं हो सकते। जज की और मुज़रिम की अलग-अलग श्रेणी होनी चाहिए। देखते हैं, चीज़ों में दो दल होते हैं। दायाँ और बायाँ होता है, तभी वस्तु संपूर्ण होती है। अच्छे को भरने के लिए बुरा चाहिए, नहीं तो अच्छे का महत्त्व नष्ट हुआ-सा मालूम होता है।

यह जो जोड़ियाँ हैं; अच्छा और बुरा, नीचा और ऊँचा इत्यादि, इनका भेद बना रहता है तभी तक स्थिति बनी रहती है। स्थिति पालन की दृष्टि से यह 'पोथी बन्द नैतिकता' बड़ी काम की चीज़ है। उससे अनुशासन बना रहता है और स्थिति भंग नहीं होती।

किंतु स्थिति तो टिकती नहीं, गति भी आवश्यक होती है। गति स्थिति को स्वीकार भर करती है, उसके बाद जमाने की जगह उसे वह कुछ उखाड़ती ही कही जा सकती है। स्थिति मज़बूत होकर जम रहे तो उन्नति कैसे हो? स्थिति से स्थित्यन्तर होते रहना चाहिए। जड़ चेतन में यही भेद है। जड़ में केवल स्थिति है, चेतन गतिशील है।

इस गति की आवश्कता की ओर से, वस्तुओं को और जीवन को देखकर, एक दर्शन प्रस्तुत हुआ जिसने बताया कि नैतिकता अपने-आप में कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। वह नैतिकता बदलती रहती है और देश काल पर निर्भर करती है। असल में नैतिकता की दुहाई देने वाले लोग वे ही हैं जो सुविधा प्राप्त है। वे अपने भोग और आराम को बचाये रखने के लिए सब नीति-वादिता से अपनी रक्षा में चारों ओर घेरा डालते हैं। अंग्रेज़ी में एक शब्द है Conservative, नैतिकता की दुहाई ऐसे ही लोग देते हैं।

ऊपर की बात एकदम मिथ्या नहीं है, इसके प्रमाण इतिहास में हर कहीं मिल सकते हैं। हर नेता को शहीद होना पड़ता है, हर संत को दुष्ट कहा गया है। धर्म जितने चले प्रतिरोध और विरोध के बीच से उन्हें मार्ग बनाना पड़ा है। कोई अच्छाई सहज भाव से बढ़ नहीं सकी, उससे पहले बुरा समझा गया है और उस पर तरह-तरह के उपसर्ग और परीक्षा में डाले गये हैं।

इस दर्शन के अनुसार विद्रोह धर्म हो जाता है। मर्यादा के पालने से ज्यादा उसे लांगने में महत्त्व बढ़ जाता है। नैतिक को स्थिति के साथ जोड़कर यह दृष्टि जैसे गति और उन्नति के साथ अनैतिक को जोड़ देती है। ऐसे प्रवाद चल पड़ता है कि प्रतिभाशाली वही हो सकता है जो तनिक अनैतिक अवश्य हो। जो भला है वह महान् नहीं है, जो मर्यादाशील दिखता है उसमें अवश्य शक्ति की कमी है। वहाँ भलापन दुर्बलता के समानार्थ हो जाता है।

इस जगह नैतिकता के संबंध में उलझन पैदा हो जाती है। वह उलझन सहज सामने से काटकर अलग नहीं की जा सकती। जहाँ वह उलझन एकदम कटी दीखती है वहाँ अक्सर संस्कारिकता नहीं होती, बल्कि आग्रह होता है। जब हम एकांगी होते हैं, यानि या तो अतीत से चिपटे रहते हैं या निरे भावी में उड़े रहते हैं, तभी ऐसा होता है। अन्यथा यह उलझन अतिशय अनिवार्य है और आग्रह विवेक से ही उसमें संतुलन रखकर चला जा सकता है।

उस विवेक के द्वारा नीति और अनीति को इतनी सूक्ष्मता में जाकर देखना होता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पापी में पाप न दिखाई दे। पाप स्वतंत्र दिखने लग जाय, और इस तरह पापी को स्वयं निष्पाप देखा जा सके। यह विवेक साधना सहज नहीं है। पापी से पाप को अलग करना बन नहीं पाता। परिणाम यह कि पाप से बचने के लिए पापी से बचा जाता है और पाप नाश के लिए पापी को नष्ट करना सीधा उपाय समझ लिया जाता है। इस तरह साफ ही अनीति स्वयं अनीति का शोर मचाना शुरू करती है। यानि जितनी अनीति के बलात् निर्दलन की चेष्टा है अनीति का उतना ही प्रसार होता जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि नीति सदा प्रेम ही है। प्रीति से अतिरिक्त नीति एक मिथ्याचार और दम्भाचार हो सकती है। प्रेम कृत्य में नहीं होता है, भाव में होता है। पहचान हमारी कृत्य से चलती है, इसीलिए वह पहचान आवश्यक रूप से अधूरी और ओछी रह जाती है। प्रेम-हीन कर्म नैतिक समझ लिया जाता है और प्रेम स्वयं ऐसे कर्म-रूढ़ों के हाथों अनैतिक समझा जाकर दंड और त्रास पाता है।

सदाचार हम जिसको कहते हैं उसे या तो आचार के रूप में देखते हैं, या सत् की ओर उसे देख सकते हैं। इन दो दृष्टियों में झगड़ा चलता ही रहता है। एक रूढ़ सदाचार होता है, जिसे प्रकृत और हार्दिक सदाचार उल्लंघन करता हुआ देखा जा सकता है। सत् पूर्वक आचार ही सदाचार हो सकता है। किंतु जिसकी सत् से लगन है, उसका आचार रूढ़ाचार से मेल खाता हुआ जो नहीं दीखता इससे उसको नाना यातनाएँ सहनी पड़ती हैं।

तो यह क्या चीज़ है जो स्वयं लिखे-बँधे नीति-नियमों को लाँघ जाने का साहस रखती है? वह क्या स्वयं में अनैतिक है? नहीं। मेरा मानना उलटे यह है कि शुद्ध नैतिक यही है। सत्य से बड़ी नीति कोई नहीं है, सत्य जो प्रेम द्वारा पाला जाता है।

प्रेमहीन या प्रेमविरुद्ध सत्य अहंकार है। अहंकार ही असामाजिक होता है। प्रेम के आग्रह से रखा गया या फैलाया गया सत्य कितना भी असामाजिक दीखे, मूलतः सामाजिकता की बुनियाद को वह मजबूत करता और लोगों के मनों को मिलाता है।

समाजोपयोगिता से सत्य बँधा नहीं होता। इसलिए सच्चा सत्पुरुष समाजानुगामी उतना नहीं जितना कि समाज नेता होता है। सामाजिक सदाचार स्वयं उससे मर्यादा प्राप्त करता है, वह अपनी मर्यादाएँ डालकर उसे घेरने में असमर्थ रहता है। कृष्ण का आदर्श इसी सत्य का प्रतीक है और कृष्ण-चरित्र उसका सचरित्र निरूपणा है।

कृष्ण मर्यादा पुरुषोत्तम राम के निषेध नहीं थे। राम के चरित्र में समाज-मर्यादा की चरम प्रतिष्ठा है। यह तनिक भी अयुक्त नहीं, किंतु समाज-धर्म की प्रतिष्ठा सत्य-धर्म की अप्रतिष्ठा में से निष्पन्न नहीं हो सकती। अतः कृष्ण राम के पूरक हैं। बिना कृष्ण के राम उसी तरह से असंभव है जैसे बिना उत्तर के दक्षिणी ध्रुव असंभव हो जाता है। दोनों ध्रुवों को सँभालने वाली धुरी ही भारतीय संस्कृति है, या मानव-संस्कृति की रीढ़ हो सकता है।

गीता में आरंभ कर्तव्य से है। कर्तव्य-कर्म में किंचित् बाध्यता है। किंतु सिद्धि वहाँ नहीं है जहाँ कर्म में बलात् कर्तव्य का भाव हो। वहाँ क्रमशः सहज कर्मभाव होते जाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखें तो नैतिक उतना संयत कर्म नहीं है, जितना मुक्त कर्म है। निग्रह में हम नैतिक को देखने के आदी हैं, जैसे मुक्त में अनैतिक ही रह सकता हो। ऐसे पूर्णता मिल सकती है इसमें संदेह है। 'कु' को काटकर केवल 'सु' रह जाने की कोशिश कभी कारगर हुई है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके प्रमाण नहीं मिलते। प्रकृति त्रिगुणत्मका है। निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन, कहकर भगवान् ने अर्जुन को एक केवल सात्त्विक गुण वाली होने के लिए नहीं कहा। क्योंकि तीन में से दो को नष्ट करके केवल तीसरे की रचना संभव नहीं है। तीन केवल गणित में तीन है, यथार्थ, आदि और अन्त में तो निर्गुणता ही है। गुणत्व अथवा अवगुणत्व उनमें गिनती के साथ आता है। गिनती का उपयोग बुद्धि के लिए है, विवेचन के लिए है। जीवन तो निर्गुण ऐक्य माँगता है।

निर्गुणता गुणहीनता नहीं है, वह गुणों का सामंजस्य है। 'कु' का 'सु' से कैसे सामंजस्य होता है, यह कहा नहीं जा सकता। विवेचन की भूमिका गणित की और भेद की भूमिका है। किंतु जीवन अभिन्न है। जीवन की साधना भेद-बुद्धि से उतनी नहीं होती, वह अखंड साधना है। उसमें अभेद-भाव, अभेदानुभूति चाहिए।

'सु' में 'कु' के प्रति क्या अभेद बुद्धि हो सकती है?

मैं मानता हूँ कि हाँ 'सु' में ही यह अभेद बुद्धि हो सकती है।

और 'कु' है ही वह जिसमें यह अभेद-बुद्धि कभी नहीं हो सकती।

अर्थात् 'कु' वह है जो बुनियाद में भेद-बुद्धि पर आश्रित है।

यह सज्जन और संत का ही काम है कि अपने को "क्रूर, कुटिल, खल, कामी" देंखे और दोष या दंड किसी को न देना चाहें।

जो हर दूसरे की त्रुटि देखता और बुराई बताता है, वह अपने में बुराई देखने के डर से घबराकर ही ऐसा करता है। वह मूल में डरपोक है। वह डर ही उसे बुरा बनने को ऐसे मजबूर करता है कि उसे अपने से बाहर सब कहीं बुराई दीखें।

मुझे जान पड़ता है कि जीवन शोधन की समग्र और वैज्ञानिक दृष्टि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चतुर्मुख और चार विभागों में विभक्त नहीं देखेगी, बल्कि इस चतुष्टय में एक-सूत्रता देख सकेगी। जीवन को खंडशः साधने का स्वप्न वह दृष्टि नहीं पालेगी, क्योंकि जीवन मूलतः अखंड है। कारण, उनका स्रोत ईश्वर है जो नितांत अद्वैत है।

नवम्बर, '54.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य-मूल्य की प्रतिष्ठा

कल रात मालूम हुआ कि मुझे बोलना है। तभी से प्रयास रहा है कि मैं उस बारे में कुछ मैं सोचूँगा नहीं। सुविचारिता ही कहना मैं नहीं चाहता था। विचारित में कुछ पीछे भी रोक लिया जाता है। तय करके ही कुछ दिया जाता है। उससे अधिक मैंने चाहा कि मुझे सहज होना चाहिए। जो मुझमें है, मीठे के साथ अगर कड़वा हो तो वह भी, आपके सामने खोलकर रख देना चाहिए।

विचार मेरे पास न आ पायें, यह मेरी कोशिश तो रही, पर वह सम्भव नहीं हुआ। कारण, बाबा (बिनोवा) ने जो कहा कि नैतिक के ऊपर सत्य-मूल्य की प्रतिष्ठा का दायित्व साहित्य का है, तो इस बात से मैं छुटकारा नहीं पा सका। वह मेरे मन की बात है। बड़े महत्त्व की भी है। नैतिक से कर्मक्षेत्र का काम चलाया जाता है। वहाँ आवश्यक होता है कि चीज़ों को हम बाँटकर देखें अच्छे में और बुरे में। अर्जन-वर्जन का अंतर दृढ़ रखें। कुछ को पुरस्कार दें, कुछ दूसरों को दण्ड भी देना आवश्यक समझें। इस तरह वैधावैध की लकीरें बीच में डालकर हम व्यवस्था को चलाया करते हैं। पर उन लकीरों पर ज्यादा निर्भर करने लग जायें, तो विग्रहवाद और संघर्षवाद का एक तत्त्वज्ञान ही खड़ा हो जाता है। उसमें से हिंसा को समर्थन आ मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि अमुख रेखा के पार हमको कुछ समझने या सहानुभूति रखने की आवश्यकता नहीं है। अगर हम मान सकते हैं कि सौ फीसदी सही वही है, जो हमारी मुट्ठी और बुद्धि में है, तो दूसरे के लिए अवज्ञा और उपेक्षा बिल्कुल सहज हो आती है। उससे आगे बढ़कर अगर कर्म का नशा भी हम पर सवार हो जाये तो उसके विनाश को भी हम अपने में उचित ठहरा लेते हैं। वादों और मतों में जो कलह और द्वन्द्व देखने में आया, वह इसी मनोवृत्ति के कारण था।

मालूम होता है कि इन पक्षगत से ऊपर किसी एक समन्वयमूलक मूल्य की आवश्यकता है। साहित्य को उसी का सर्वोपरि ध्यान रखना होगा। सत्य सर्वव्याप्त है। वह अखण्ड है, निष्पक्ष है। उसके प्रति साहित्य जाग्रत नहीं रहेगा, तो अन्त में दुनिया को एक करने का काम फिर दूसरे किस उपाय से हो सकेगा। कर्म में जो एकान्तिकता है, साहित्य उसका परिशोध करेगा। काले, धौले यों तो दो रंग है और एक-दूसरे से उल्टे हैं। लेकिन उन्हीं दोनों के समीचीन उपयोग से चित्र खिल उठता है। वहाँ पता भी नहीं चलता कि रंग दो हैं। सारे चित्र से एक भाव प्राप्त होता है, जो अनुभूति में सत्य बन जाता है।

साहित्यकार सर्वज्ञ तो होता नहीं। रुचि-अरुचि भी अपनी उसके पास रहती है। फिर भी उसका काम होना चाहिए कि सबको सहानुभूति दे। यहाँ ऊँचे हैं, नीचे हैं, सम्पन्न है, दरिद्र हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधु और दुष्ट हैं; उनमें विवेक तो अनिवार्य ही है। लेकिन धरती सबको धारण करती है। सूरज की धूप भी आदमी-आदमी में फर्क नहीं करती। खट्टे, मीठे, कड़वे सभी फलों को धरती समान सिंचन देती है। साहित्य को भी कुछ उसी तरह रहना होगा। यह अभेद-बुद्धि विवेक को छोड़कर प्राप्त हो सकती है, सो नहीं। आज तो शायद इस प्रकार का बुद्धि सांकर्य भी देखने में आता है, एक विशेष प्रकार के लेखन में प्रश्न और संशय इतना तीव्र होकर छा गया है कि जैसे विवेक सब व्यर्थ और अहंकृत हो। जी नहीं, अविवेक में से वह अभेद नहीं प्राप्त होगा। समत्व को विवेक का ही चरम और परम रूप कहना चाहिए।

उस अभेद की भूमि पर विवेक वैज्ञानिक बनता है। साहित्य का काम पक्ष लेना नहीं है, क्योंकि साहित्य का काम 'करना' नहीं है। कर्म तो कर्ता के अनुगत होगा। साहित्य को कर्ता की चेतना में घुले रहना है। उसकी दृष्टि इसलिए तटस्थ और सर्वग्राही हो सकती है। उस दृष्टि के बाद आवेश अनावश्यक हो आयेगा और सहानुभूति खुल सकेगी। साहित्य में वे मर्यादाएँ नहीं टिकतीं, जिनके आर-पार सहानुभूति न जा सके। वैसी दीवारें बनाकर काम-काज हम चलाते हैं, उन पर चौकी पहरा भी बिठाते हैं कि कुछ उधर का अनधिकृत इधर न आ जाये। उन लकीरों के हिसाब से हम अपनेपन—अपना देश, भूमि, सभ्यता आदि— को घेरते हैं और उस सीमा के बाद विग्रह के सम्बन्ध को उचित ठहराते हैं। साहित्य इस औचित्य को इस प्रकार कहीं बंधने नहीं दे सकता है।

लेकिन यह आदर्श की बात लगेगी। निश्चय ही आदर्श-मूल्य की प्रतिष्ठा साहित्य की पहली प्रेरणा है। लेकिन निरे वाद से आदर्श का प्रयोजन पूरा नहीं होता। उस आदर्श-लोक का आख्यान धर्म में है ही। लेकिन धर्मों के आदिस्रोत-रूप ग्रंथ ही सबके हैं; दूसरे तत्त्व-ग्रंथ, जो हर धर्म में बन खड़े होते हैं, जीवन-रस से शून्य, मताग्रही और पांथिक बन जाते हैं। वे कुछ ऊपर अधर में ही रहते हैं। तो धर्म के क्षेत्र में तो कठिनाई रहती नहीं। व्यक्ति वहाँ भावातिरेक में कठिनाइयों को ध्यान में से लाँघ जाता है। कठिनाइयाँ वे दूर नहीं होतीं, हल नहीं होतीं, थोड़ी देर के लिए भूलभर जाती हैं। धर्म का वह समाधान कर्म में टिकता नहीं है। धर्मभाव में संपूर्णता की और परम एकता की गोद में हम जा पहुँचते हों, पर कर्म के क्षेत्र में जब विभेद-विरोध ही दीखता है, तो ऐसा लगता है कि आत्म-जगत् और वस्तु-जगत् दो हैं और उलटे हैं। परमात्मा के लिए शायद संसार की ओर पीठ देना होगा और संसार में समर्थ बनना हो, तो आत्मा-परमात्मा के खटराग से बचे रहना होगा।

यह द्वैत बहुत प्रकट है। अब आस्था ही एकता की हो सकती है। कर्म को और गति को तो अनैक्य में से साधना होता है। ऐक्य की आस्था को लेकर अनेकता के साथ कैसे वर्तन करना, यह प्रश्न आता है। धर्मी इधर से पीठ मोड़ता है, यह कहकर कि जगत् माया है। कर्मी उधर से मुँह मोड़ता है और कहता है कि वह मिथ्या है। धर्म और कर्म के बीच यह खाई बड़ी है। उनके पाटने को बाबा ने ठीक कहा, 'साहित्य सेतु है।'

फिर भी सेतु इस तट को एक बिन्दु पर उस तट के दूसरे बिन्दु से मिलाकर देखता है, तटों के दोपन को दूर नहीं करता। क्या मैं कहूँ कि साहित्य वह गंगा का प्रवाह है, जो दोनों तटों को हर बिन्दु पर परस्पर मिलाता और छूता हुआ बढ़ता है। वहाँ 'उप' रह नहीं जाता, कर्ता और कृत दोनों उपकृत होते हैं। ज्ञाता, ज्ञेय एक बनते हैं। वस्तु-निरपेक्ष न आत्मा को देखा जा सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, न वस्तु को आत्मा-निरपेक्ष। दोनों को परस्पर सामंजस्य में देख और दिखाकर वहाँ समग्रता की झांकी ली जाती है।

प्रतीत होता है कि अगर परम ऐक्य की प्राप्ति कभी होगी—व्यक्ति के अंतर में अथवा बाहर समाज एवं विश्व की व्यवस्था में, तो साधन के रूप में साहित्य ही संगत होगा। क्योंकि वही है, जो जीवन को दो धाराओं में नहीं फटने देता है; बल्कि दक्षिण-वाम दोनों तटों को समान भाव से अपने आलिंगन में लेता है।

साहित्य का माध्यम है शब्द और शब्द-शक्ति का विचार करना होगा। आज जिस शक्ति का हम अनुभव पाते हैं, वह संख्या की है, सत्ता की है, शास्त्रास्त्र की है। शब्द 'चपरासी' बनता है। उसकी आत्म-चेतना जागती नहीं। उसमें स्वयं मूल्य नहीं पड़ता। मूल्य उसमें है, जिसका शब्द है। साहित्य का शब्द उससे भिन्न है। ऊपर की तीनों प्रकार की शक्तियों से हम अनुभव करते हैं, समस्याएँ कटी नहीं हैं, जटिल होती जा रही हैं। अगर कटेंगी तो मुझे लगता है, वह उस शक्ति के द्वारा कट सकेंगी, जिसका सर्वस्व शब्द है। शब्द, जिसे अपने से बाहर और किसी अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। वह संख्या, सत्ता या बल का प्रतिनिधि नहीं है, न होना चाहता है। उसका बल स्वयं में है। उसका बल सत्य है और हित है।

यहाँ एकाएक मुझको सूझता है कि साहित्य वह है, जिसमें हित सत् के साथ है। 'हित' के साथ जो 'स' लगा है, उसे सत् का प्रतीक हम मान लें। सत् और हित इन दोनों को साथ रखना बड़ी कला है। साहित्य की, और शायद जीवन की, वही है। क्योंकि सत्य पर आग्रह हुआ कि उसमें विशेषकर (सामने वाले का) हित उपेक्षित रह जाता है। मत, वाद और सिद्धांत आदि के हठ में ऐसा ही हो जाया करता है। दूसरी ओर हित पर ही बल रखें, तो जैसे ऋजुता और आर्द्रता इतनी आ सकती है कि खड़े होने को रीढ़ ही न रह जाय। जीवन के लिए एक मात्रा में कठोरता भी आवश्यक होती है। सत् के बिना वह कठोरता टिक नहीं सकती। सत्य से च्युत होकर प्रेम भावुक-भर रह जाता है, सामर्थ्य उसमें से नष्ट हो जाती है। निरे प्रेम को अपनाकर जो रह गया, वह साहित्य व्यसनात्मक हो गया—रोमांटिसिज्म की तरह बहक गया। वह आवश्यकता से अधिक गीला होता है, राष्ट्रों और जातियों को उत्तिष्ठ और उन्नत नहीं कर पाता। उसमें से रस की चुस्की तो मिलती है, पोषण की शक्ति पर्याप्त नहीं मिल पाती। अतः उत्कृष्ट साहित्य वही नहीं है, जिसमें हित राग है, बल्कि आवश्यक यह भी है कि उसमें सत्-भाव हो। गहरे जायें, तो सत्-भाव में ही हित-भाव समा जाता है। संस्कृत का 'सद्भाव' शब्द ही हितभाव से दूसरा नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ेगा कि सत् में ही सच्चा हित है। भावुकता और ममतावश जो हम अपना और दूसरों का हित मान लिया करते हैं, वह अधिकांश स्वार्थ से जुड़ा रहता है। साहित्य उससे ऊँचा उठेगा। ऐसा हित, जो दूसरे के अहित पर निर्भर हो, साहित्य को अमान्य हो जायेगा। समस्याएँ अधिकतर हितों के परस्पर विरोध से होती है। स्थापित हित स्वार्थ बन जाते है और उनमें विग्रह ठन रहता है। साहित्य को ऐसे किसी बंद हित में नहीं पड़ जाना है। हित के पहले जो 'स' लगा है, उसकी मानो यही चेतावनी है। वह हित, जो सबका है, अविरोधी और शुद्ध हित है; साहित्य में उसीकी प्रतिष्ठा है। और यह हित सत् से भिन्न होकर रह नहीं सकता। दूसरे शब्दों में, साहित्य में सत् की प्रतिष्ठा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत् है बीज, वह है मूल। मानो वहाँ से प्रेरणा आनी चाहिए। वह स्रोत है, जहाँ से भावाविर्भाव होगा। फिर उसकी अभिव्यक्ति की सम्मुखता में हितभाव आता है। शैली आदि का संबंध वहीं से है। जिसके आधार पर कोई केवल अपने में मग्न रह जाय, वह साहित्य नहीं है। वही मग्नता दूसरे को दे, सबको दे, तब वह साहित्य होता है। यहाँ हम देखें कि साहित्य अपने रचयिता से मुक्त हो जाता है। अपने प्रभाव के लिए उसे व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं रहना होता। मानो रचनाकार केवल माध्यम है। केवल माध्यम, वह उसका कर्ता और स्वामी नहीं है। कर्ता के रूप में जो व्यक्ति समक्ष है, उसकी आयु सीमित है, कुछ एक बरस जी-जिलाकर वह चला जाता है, मगर उसके साथ साहित्य उठकर नहीं चल देता। मरते आदमी के साथ वह नहीं मरता, बल्कि वही है, जो अमर बनता है। वही फिर परवर्ती युगों को पूर्ववर्ती युगों से मिलाता और एक रखता है। काल को वह अखंड करता है। जो स्वयं खंड-खंड है, क्षण-क्षण मर रहा और दूसरों को भी मार रहा है, ऐसा काल साहित्य के द्वारा अकाल बनता है। यानी मृत्यु ही जिसका अभिशाप है, साहित्य उसको चिरंतनता देता है।

शब्द-शक्ति की जो ऊपर बात आई, उसकी ही अक्षर-महिमा है। पर शब्द वह, जो अपने भीतर के सत् और हित से निर्माण पाकर खड़ा हो। वह शब्द बीज बन जाता है। वह अपने में से चैतन्य की सृष्टि करता है। वह स्वयंभव और स्वप्रतिष्ठ होता है। न संख्या का, न राज्य का, न प्रतिनिधित्व का सहारा उसे चाहिए। वह हर प्रकार की निर्भरता से स्वतन्त्र होकर मानो शक्ति का मंत्र बनता है।

आज राजनीति के जमाने में जब राज्य ने देवाधिदेव का स्थान पा लिया है इस शब्द-शक्ति को जगाने की परम आवश्यकता है। वह शक्ति टूट गई है। मानो जान-बूझकर उसे तोड़ा गया है। उस शक्ति के साथ सारी मानव-जाति का हित जो संलग्न था, सो कटे-फटे स्वार्थों के लिए आवश्यक हुआ कि वे उस शक्ति को तोड़ डालें अन्यथा उनके लिए फल-फूलना सम्भव न था। वाणी प्राप्त की थी कि आदमी ने कि एक-दूसरे के निकट आयेगा और उसके द्वारा परस्पर को प्राप्त करेगा। वाणी को विस्तार देने के लिए फिर उसने भाषा की रचना की। उसके सहारे शब्द समय में और संसार में दूर तक अपना प्रभाव ले जाने में समर्थ हुआ। लेकिन उसी को उलटे काम में लाया जाने लगा। अपना अंतर्मन खोलने के नहीं, ढंकने के काम भाषा आने लगी। कूटनीति पैदा हुई और वह सर्वोच्च कला समझी गई। भाषा को लेकर लोग अपने को एक-दूसरे से वंचित और अलग रखने लगे। आत्मदान से ज़्यादा भाषा स्वार्थमान के काम आने लगी। वाणी और भाषा पहले संस्कृति के हाथ थी, तो अब युग उपस्थित है कि राजकारण का अस्त्र बन आई है। आज बड़े-बड़े राज्य-समूह संगठित हैं और राजनीतिक दल धड़ाधड़ यंत्रों के जरिये शब्द छापकर और दूसरे तरीकों से गुणानुगुणित करके उन्हें गुंजा रहे हैं। विश्व-मानस उन शब्दों के तुमुल से क्षुब्ध-प्रक्षुब्ध हो गया है। उस कोलाहल में मूल्य जैसे खो गये हैं। शब्द की शक्ति बिखरकर रह गई है। संशय बढ़ गया और आपस का भरोसा उठ गया है। किसी के वचन का विश्वास नहीं बचा है। और यद्यपि हर बात को दस्तावेज़ में बाँधकर रखने की आज आदत है, पर खुद उन दस्तावेज़ों की कीमत सिफर हुई जा रही है।

शब्द की इस अप्रतिष्ठा, उसकी बहुलता, अनंतता और तज्जनित व्यर्थता के जमाने में यह और भी ज़रूरी है कि साहित्यिक रुकें और सोचें। उनके पास और दूसरा आयुध नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसीके बल उन्हें रहना और जीना है। उसीके द्वारा कुछ करना और कराना है। अधिक संभव यही है कि शब्दों के इस अपार शोर में उनका धीमा-मीठा शब्द अनसुना रह जाय। प्रचार के युग में अप्रचारित और आवेशों के बीच अपुरस्कृत रह जाय। लेकिन इस कारण और भी आवश्यक हो जाता है कि शब्द वह अवश्य हो, जो संख्या और प्रचार के बल से उभरकर ऊँचे होने और शोर बनने की कोशिश न करे; बल्कि मन की सचाई और व्यथा में से आकर इतना भारी सिद्ध हो कि थाह तक उतर जाय। तब बल उस शब्द का शब्द में ही होगा और स्थिर और स्थायी होगा। समय की सतह की लहरों के बैठने पर वह अपनी जगह चमकेगा, उसकी सचाई प्रकाश देगी और उसमें समाया हितभाव अपना स्नेह विकीर्ण करेगा।

आज जिस विधि से हमारी व्यवस्था चल रही है, उसमें एक मान्य मूल्य है राष्ट्र। उसके बारे में अमान्यता का प्रश्न ही नहीं है। राष्ट्र इकाई है दुनिया की और राष्ट्रीयता उन-उन इकाइयों का धर्म बन गया है। ऐसा मालूम होता है कि राष्ट्र वह धारणा है, जिसकी रक्षा में अगर हमको कुछ वैसा काम करना पड़े, जिसको मामूली तौर पर हम गलत समझते हैं, तो राष्ट्र-प्रेम के कारण वह गलत नहीं रह जाता। मानो राष्ट्र के लिए हो, तो गलत भी सही हो जाता है। यहाँ ही साध्य और साधन का प्रश्न पैदा होता है। साध्य को एकांत-सिद्ध मानकर चलना खतरनाक हो सकता है। तब हर साधन उस सिद्धि के लिए उचित ठहर आता है। और इस तरह मूल्यों में बड़ी अव्यवस्था होती है। आज हम क्या देखते हैं? नारा है कि 'शांति के लिए युद्ध की तैयारी लाज़िमी है।' ऐसे ही अच्छे लक्ष्य के नाम पर उठाये गये बुरे कदम भी तब अच्छे बन जाते हैं। उस ढंग से आदमी की बुद्धि हर जाती है और वह साधन के बारे में विवेक करने की आवश्यकता से अपने को बरी मान लेता है। लेकिन स्पष्ट है कि साधन से साध्य मूलतः भिन्न नहीं हो सकता। साधन स्वयं साध्य का निर्माण करते हैं। अनुरूपता से अधिक साध्य-साधन में अभिन्नता तक देखी जा सकती है। बीज जो आज बोते हैं, कल फल उससे दूसरा नहीं हो सकता है। यह बात मामूली तौर पर हमारे मन में साफ रहती है। व्यक्तिगत जीवन में दुविधा नहीं होती, अंतर-ध्वनि साफ बतला दिया करती है। लेकिन सामूहिक और सामुदायिक रूप में चलने पर, खासकर राष्ट्र की धारणा को साथ लेकर, तो मतावेश पैदा होते और उचितानुचित का मान ही बदल दिया करते हैं। राजनीतिक आवेशों और आवश्यकताओं के अधीन हम मानवोचित मूल्यों से जाने-अनजाने भटक जाते हैं और उस कारण किसी प्रकार का विषाद भी अपने अंदर पैदा नहीं होने देते हैं। कर्मीजन तो उस आवेश में काम करते ही हैं और उन्हें किसी प्रकार का दोष नहीं दिया जा सकता। पर साहित्य को उन आवेशों से मुक्त रहना है। नहीं तो फिर कोई समाधान नहीं रह जायेगा, जो उन आवेशों के क्षोभ के बीच मानव-मूल्य को मूर्धन्य रखे। नीति-नियम सर्वत्र एक ही हैं। ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है। समष्टि-व्यष्टि में अंतरंग नीति का भेद नहीं हो सकता। व्यक्ति से उठाकर जब हम लोक या राष्ट्र के सन्दर्भ में प्रश्न को ले जाते हैं, तो अक्सर अपने को भुलावा दे लेते हैं कि नीति का नियम वहाँ बदल गया होगा। इसीलिए निजी तौर पर जिसको हत्या कहते हैं, राष्ट्रीय युद्धों में उसीका गौरव मानते हैं। स्पष्ट है कि दुनिया आज शान्ति चाहती है, लेकिन यह भी उतना ही जाना-माना यथार्थ है कि दोनों ओर अणुबम बन रहे और युद्ध की भयंकर तैयारियाँ हो रही है। कोई पक्ष हिंसा का प्यासा नहीं है। दोनों उन्नति चाहते हैं और सभ्यता का विकास चाहते हैं। विश्व का हित उनका उद्दिष्ट है। लेकिन उस उद्देश्य में और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अणुबम में अनबन और अनमेल है, यह सहसा जो दोनों में से किसी राजपक्ष के नेताओं को प्रकट नहीं हो पाता है, तो कारण यही कि साहित्य की आवाज़ मन्द और मद्धित है। साहित्य दैनन्दिन जीवन के इन यथार्थों से अपने को अछूता नहीं रख सकता और इसलिए साहित्य साधन के बारे में भूल में नहीं पड़ सकता।

प्रश्न के इस पहलू पर मैं आपका ध्यान खींचना चाहूँगा। वस्तुस्थिति की सीमाएँ होती हैं। सम्पूर्ण ऐक्य आज घटित घटना नहीं है। बीच में अनैक्य और विग्रह पर्याप्त है। लम्बी राह हमको चलना है और संघर्षों में से वह राह पूरी होगी। इसलिए यथार्थ की मर्यादाओं के प्रति साहित्य में सहानुभूति का अभाव नहीं होता है। कर्मीजन उन मर्यादाओं पर जूझते हैं, उन मर्यादाओं की रक्षा पर कटिबद्ध होकर वे जो करते हैं उसकी समझ साहित्य को रखनी है। निंदा और तिरस्कार पर नहीं उतरना है। राष्ट्र का वाद है अथवा और दूसरे अनेकानेक वाद हैं, तो उनके प्रति पूरी तरह जाग्रत रहे बिना साहित्य का काम नहीं चलेगा। राजनीति तात्कालिकता का खेल है, यह कहकर उधर बे-ध्यान रहना ठीक नहीं है। क्षण और शाश्वत में एक अभिन्नता और निरन्तरता है। शाश्वत मूल्य की प्रतिष्ठा वर्तमान के प्रति असावधान रहने से नहीं हो सकती। घटना-जगत् और कर्म-जगत् उतना ही साहित्य के लिए रस और रहस्य का विषय है, जितना कि मनो-जगत् और कारण-जगत्। सिद्धांत-लोक में पहुँचकर इस प्रत्यक्ष जीवन के प्रति विमुख और तटस्थ साहित्यकार रह नहीं सकता। कम-से-कम साहित्य यह नहीं कर सकता। सत्य और तथ्य में व्यवधान डालकर साहित्य सामर्थ्य संपादन कैसे करेगा? स्फूर्ति वह मूल्यों और आदर्शों के जगत् से ले, लेकिन जहाँ उस स्फूर्ति को रूपाकार लेकर फलित होना है, वह तो सामने फैला यह घटना का संसार है। होना व्यर्थ है, अगर करने में वह उजागर न हो। शब्द-रचना या और किसी प्रकार की अभिव्यंजना उतनी ही समर्थ और प्रभावक होती है, जितना गहरा रचनाकार की दृष्टि में आत्म और वस्तु लोकों का अनुबंध होता है। कुल मिलाकर प्रतीत होता है कि साहित्य द्वारा जीवनोत्कर्ष साधना चाहने वाले साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि वह मन को आदर्शस्तर पर रखे, तब हाथ को घटना की नब्ज पर रखे। वास्तव के प्रति अवगत रहे, प्रबुद्ध रहे, अलबत्ता लिप्त वहाँ न रहे। वहाँ राग न रखे, पर वीतरागी भी न हो। वहाँ जूझने से बचे नहीं, किंतु मनोकामना ऊँची रहे। स्वार्थ हमारा परमार्थ में रहे, तो दलबंदी में हम नहीं घिरेंगे। अलग-थलग, ऊँचे-पवित्र, नित्यभिमानी बनकर भी नहीं रह सकते। विग्रह और संघर्ष के कुरुक्षेत्र में किनारा लेकर चलना भगवान् कृष्ण से नहीं हो पाया। किसी चैतन्यशील और सामर्थ्यशाली से वह सध नहीं सकता। साहित्यिक असमर्थ नहीं है। साहित्य तो कभी असमर्थ हुआ नहीं है, हो नहीं सकता। लेकिन संसार के नाना स्वार्थों के युद्ध के बीच न्याय और सत्य के नये धर्मयुद्ध को उदय में लाना उसका काम है। दूसरे संघर्ष ओछे हैं, उथले हैं, झूठे हैं। नीति-अनीति, सत्-असत्, प्रेम और बैर का संघर्ष ही मौलिक है। राज्यों और राष्ट्रों की घमासान तैयारियों के बीच एक पक्ष शायद नहीं दीखता। वह मानव का पक्ष है। साहित्य को उसी पक्ष की टेक लेकर सामने आना और अपना धर्म पालन करना है।

नवम्बर, '59.

सर्व सेवा संघ के आचार्य कुल सम्मेलन के अवसर पर भाषण-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य सम्मेलन में

.....'

दिसम्बर का महीना पास आ गया है और बड़े दिनों में अबोहर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन होगा। वह होकर चुकेगा कि 42 का नया सन् शुरू हो जायेगा। मैं आशा करता हूँ कि सम्मेलन का यह नव वर्ष उसका नव वर्ष भी होगा।

सम्मेलन के सभापति के चुनाव के समय हवा में कुछ दुविधा थी। अब दुविधा कट गई है। मैं चुनाव को दुर्घटना नहीं मानता। होता है सो ठीक ही होता है। आस्तिक वर्तमान को मानकर ही उसको भविष्य की ओर बढ़ा सकता है, अकर्मण्य अतीत के साथ झगड़ता है।

लेकिन मेरा यह विश्वास जरूर है कि हम चाहें तो प्रकृत घटना को दुर्घटना बना सकते हैं। हर घटना समय के रुख की परिचायक है। वह जैसे—खुद बोलती है। जगदोघाटन जगदीश्वर की वाणी है। उसे अनसुना करके अपनी मनमानी में चलने में व्यर्थता ही हाथ लग सकती है।

सभापति के चुनाव के पीछे क्या-क्या शक्तियाँ काम कर रही थीं, उनके विश्लेषण में नहीं जाना है। ईश्वर का काम मनुष्य के हाथों से होता है। उसमें रास्ते में मनुष्य के मन के विकार भी मिल जाते हैं। उन विकारों की बात को छोड़कर स्वयं फलित फल को ध्यान में लिया जा सकता है। आज हमारे पास चुनाव का फल यह है कि सभापति श्री अमरनाथ झा हैं।

श्री झा महोदय से थोड़ा मिलना हुआ तो गहरी छाप मुझ पर पड़ी, वह तत्पर पुरुष हैं। शिथिलता उनके नीचे नहीं पनप सकती। बात के मर्म को वह अनायास पकड़ते हैं। शब्द में अपने को कम खर्च करते हैं। इस आधार पर मुझे पक्की आशा है कि सम्मेलन नये वर्षारंभ से नयी व्यवस्था पहन उठेगा और उसमें शिथिलता नहीं रहने पायेगी।

सम्मेलन हिन्दी की अकेली व्यापक संस्था है। वह नगर की नहीं, प्रांत की नहीं, समूची हिंदी की है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा को अपने काम की पहचान की कोई कठिनाई नहीं आई। इसका स्वधर्म निश्चित था। इसीलिए वह संस्था ठण्डा और ठोस काम बराबर करती रह सकी। पर सम्मेलन को वैसी सुविधा नहीं रही और जबकि हिंदी राष्ट्रभाषा समझी गई, तब से तो सम्मेलन का हृदय जैसे एक दुविधा में पड़ गया।

यह दुविधा अब तक नहीं छूटी है। इधर कुछ उनके अधिवेशनों को अलग से देखने का मुझे सुयोग मिला है। बहुत भीतर की बात तो जानता नहीं, पर उन अधिवेशनों में देखा है कि सम्मेलन की कार्यकारी शक्ति बहुत कुछ हिंदी और राष्ट्रभाषा के निपटारे के सवाल पर खर्च हो जाती रही है। सम्मेलन अपना स्वधर्म तय नहीं कर पाया है। राष्ट्रभाषा राष्ट्रनेताओं के हाथ है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हिंदी हिंदी वालों के। दोनों में घनिष्ठता हो सकती है, सद्भाव हो सकता है, बहुत कुछ लेन-देन हो सकता है—लेकिन वे दोनों एक हैं, यह स्थिति कदाचित् बनने में नहीं आई है। इसी से सम्मेलन किसका है, राष्ट्रनेताओं की राष्ट्रभाषा का, या हिंदीभाषियों की हिंदी का। सम्मेलन के अधिवेशन की कार्रवाइयों में इसी प्रश्न की गर्मी और गूँज छाई रहा करती है।

सम्मेलन में राष्ट्रभाषा के काम का प्रवेश गांधीजी के साथ हुआ। उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पूरी करने वाले माध्यम के रूप में अपनाया। परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार शुरू किया गया और सम्मेलन अखिल भारतीय रूप ले उठा।

स्पष्ट है कि हिंदी के प्रति गांधीजी की आस्था राष्ट्रीय दृष्टि से है। राष्ट्र की आवश्यकताओं की ओर से हिंदी के काम को उन्होंने हाथ लगाया। नहीं तो वे सम्मेलन के सभापतित्व का अपने को अधिकारी न मान सकते।

दूसरी दृष्टि हिंदी को उसकी परंपराओं की ओर देखती है। राष्ट्र अथवा किसी और प्रयोजन के नाते वह हिंदी परंपरा से च्युत हो, यह वे नहीं सह सकते। प्रयाग अथवा काशी में रहने वाले हिंदी- हितैषी को एक हक है कि वह कहे : "तुम्हारे राष्ट्र को मैं नहीं जानता, पर अपनी हिंदी को मैं जानता हूँ। उस हिंदी को मैं बिगड़ने देने को तैयार नहीं हूँ। तुम्हारे राष्ट्र में दखल देने मैं नहीं पहुँचा हूँ। मेरी हिंदी पर कृपया तुम भी कृपा करो।

मैं जानता हूँ कि पिछले दिनों जो गड़बड़ रही वह इन्हीं दो दृष्टियों के असामंजस्य के कारण थी। दृष्टियों में सामंजस्य नहीं भी होता पर दिल में समाई हो सकती है। मेरी धारणा है कि किन्हीं कारणों से, जिनकी व्याख्या में मैं उतरना नहीं चाहता हूँ। मन में एक-दूसरे के लिए वह समाई भी कम होती गई है। अब संकट उपस्थित है। दोनों दृष्टियाँ स्पष्ट अपने को पहचान लें, यानी अपने अंतर को पहचान लें, तो कोई कारण नहीं कि संकट टल न सके।

पिछले चार वर्ष से मैं यह मानता और कहता भी रहा हूँ कि सम्मेलन को अपने स्वधर्म की मर्यादा बना लेनी चाहिए। चाहे तो वह 'राष्ट्रभाषा' सम्मेलन बन सकता है। पर यदि उसको हिंदी साहित्य सम्मेलन ही रहना है तो अपनी सार्थकता उसे हिंदी साहित्य की ही दिशा में देखनी होगी।

हिंदी साहित्य की कम समस्याएँ नहीं हैं, बहुत माँग है जो आज उससे की जा रही है। विश्व के बीच हिन्दुस्तान नगण्य नहीं रहने वाला है। नगण्य तो वह आज भी नहीं है। पर कौन जानता है कि आगे क्या अन्तर्राष्ट्रीय प्रत्याशाएँ उस पर आ रहने वाली नहीं हैं। ऐसी हालत में हिंदी को किसी भी अंतर्राष्ट्रीय भाषा के समकक्ष जल्दी-से-जल्दी बन जाना चाहिए। आज तो हिंदी पर यह लांछन तक सही है कि उपयुक्त पुस्तकों के अभाव के कारण वह विश्वविद्यालय की ऊँची शिक्षा का माध्यम नहीं बनाई जा सकती। सम्मेलन के रहते हिंदी का यह लांछन स्वयं सम्मेलन का लांछन बन जाता है। यह सब कुछ सम्मेलन को नहीं तो किसको करना है। हिन्दी साहित्य की इस रचनात्मक आवश्यकता को पीठ देकर सम्मेलन राष्ट्रभाषा से उलझे तो कैसे कहा जा सकता है कि वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन है। यह स्थिति हम हिंदी वालों को आज असह्य हो जानी चाहिए। सम्मेलन से हमारा तकाज़ा और तदर्थ सम्मेलन के प्रति हमारा समर्पण बढ़ जाना चाहिए—

इस दृष्टि से मैं इन तीन परिणाम पर पहुँचता हूँ—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. राष्ट्रभाषा के प्रश्न और काम से सम्मेलन अपने को मुक्त कर ले और इस प्रकार उस सम्बन्ध में अपना आलोचना का अधिकार सदा के लिए सुरक्षित बना ले।

2. राष्ट्रभाषा प्रचार की समस्या और व्यवस्था को पूरी तरह उन्हीं को सौंप दे कि जिनसे वह कल्पना सम्मेलन को प्राप्त हुई। यानी वह मामला गांधीजी पर छोड़ दिया जाय।

3. शिमला अधिवेशन में मान्य की गई हिंदी की परिभाषा सम्मेलन के कार्यक्रम की सीमा समझी जायँ।

पहली बात सम्मेलन की शक्ति को बढ़ाने के लिए जरूरी है। कांग्रेसी सरकार के ज़रिये जो कुछ हुआ, या आगे जो कुछ हो, उससे सम्मेलन अपने को बँधा हुआ पाये, यह स्थिति सम्मेलन के हित में अनिष्ट है। पहले उसी से गड़बड़ मची। राष्ट्रभाषा प्रचार से संबंध रखने वाली संस्था तो राजनीति से अछूती नहीं रह सकती । किंतु उसकी कार्यवाही से सम्मेलन भी नैतिक रूप से यदि बँध जाय तो सम्मेलन का हिंदी के हित में काम करने की शक्ति पर उससे दबाव पड़ना लाज़मी है। सम्मेलन को सदा के लिए इन स्थिति में पड़ने से इन्कार कर देना चाहिए। राष्ट्रीय-काम-काज के नाते भाषा-सम्बन्धी ऐसी कार्रवाइयाँ होना अनिवार्य हैं कि सम्मेलन जिनका आलोचक और विरोधी होना अपना कर्तव्य समझे। राष्ट्रभाषा के दायित्व के साथ अपने आपको सीधा अटकाकर सम्मेलन की वह विरोधिनी शक्ति निर्बल पड़ती है। सम्मेलन का आग्रह रहा है, और उचित रूप से रह सकता है कि वह तो राष्ट्रभाषा को हिन्दी ही कहेगा। जहाँ तक हिंदी के साथ राष्ट्रभाषा का प्रचार संगत हो तहाँ तक ही उसको सम्मेलन का बल मिल सकता है, आगे नहीं।

इसके साथ ही हमें स्वीकार करना चाहिए कि अहिंदीभाषा प्रांतों में 'हिंदुस्तानी' शब्द को निषिद्ध ठहराकर राष्ट्रभाषा प्रचार का काम निर्विघ्न नहीं फैलाया जा सकता। अर्थात् राष्ट्रभाषा को हिंदुस्तानी कह सकने के विकल्प की सुविधा राष्ट्रभाषा प्रचारकों के लिए आवश्यक ही है। सम्मेलन वह सुविधा हिंदी संस्था होने की हैसियत से अपने लिए नहीं चाह सकता। वह मार्ग तो उसके लिए प्रलोभन का हो जायेगा। इसका फलितार्थ यह है कि इस अधिवेशन में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति न पुरानी कायम की जाये और न कोई नई निर्वाचित् की जाये। बल्कि सम्मेलन के विधान में से ही उसको निःशेष कर दिया जाये और वर्तमान समिति का सब चार्ज गांधीजी के हवाले कर दिया जाये।

तीसरी बात है हिंदी की परिभाषा। इंदौर की परिभाषा पूना में बदली गई। उसके अलावा शिमला-अधिवेशन की परिभाषा है। इंदौर और पूनावाली परिभाषाएँ राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हैं। यानी सम्मेलन यदि साहित्य सम्मेलन है तो उसके लिए उपयुक्त शिमला अधिवेशन वाली परिभाषा रह जाती है। राष्ट्रभाषा की परिभाषा राष्ट्रनायकों से अलग होकर यदि कुछ बनायी जायेगी भी तो वह राष्ट्रभाषा पर असर नहीं डालेगी, बल्कि बनाने वाले के ऊपर ही बंधन रूप हो जायेगी। मेरा अभिप्राय है कि सम्मेलन उस झगड़े में न पड़े। पूना में इंदौर परिभाषा में कुछ फेर-फार करा लेकर सम्मेलन ने अपने रुख को तो प्रकट किया, उससे अधिक उसका फल नहीं हुआ। सच पूछिये तो सम्मेलन का सही रूप शिमला परिभाषा में व्यक्त होता है। सम्मेलन के काम की आधारशिला तो वही हो सकती है और होनी चाहिए। वह पूना की परिभाषा से ही नहीं, बल्कि इंदौर वाली से भी अविरोधी है और यह राष्ट्रीय दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखने वालों को सम्मेलन की ओर से काफी होना चाहिए।

अगर सम्मेलन इस बार की बैठक में अपने स्वधर्म की स्थिति अपने और सबके निकट स्पष्ट कर दे और फिर हिंदी-साहित्य की आवश्यकताओं को पूरा करने में अपने को प्राणप्रण से डाल दे तो इससे हिंदी और राष्ट्र दोनों का ही हित होगा। राष्ट्रभाषा और हिंदी में जो खींचतान नज़र आती है, उसकी जगह फिर दोनों में सद्भाव नज़र आने लगेगा। उर्दू वाले उर्दू को राष्ट्रभाषा कहलाने के पचड़े में न पड़कर उर्दू का ज़्यादा काम करते रह सकते हैं। राष्ट्रभाषा या हिंदुस्तानी के संबंध का कोई प्रयत्न मौलवी अब्दुल हक साहब को बिना पूछे शायद ही चल सके। कारण, वह खुलकर उर्दू के रहे हैं। इसी तरह राष्ट्रभाषा संबंधी कोई गहरी और असली कार्रवाई सम्मेलन की ओट में डालकर किसी भाँति नहीं कि जा सकेगी, यदि सम्मेलन शब्द से सच्चे अर्थ में हिंदी की सर्वांगपूर्ण प्रतिनिधि-संस्था बन रहेगा। राष्ट्र नेताओं के नामों के संपर्क से सम्मेलन अपने को अखिल-भारतीय मानकर संतोष कर ले तो बात दूसरी है, पर क्या वह सचमुच हिंदी-भाषी प्रांतों का भी प्रतिनिधि है। उसकी व्यापकता भी असलियत में एक बहलावा ही रह जाती है। उस व्यापकता का मोह छोड़ने का समय आ गया है। अब उसमें असलियत पड़ती चाहिए और वह असलियत ठंडे, ठोस, सतत रचनात्मक कार्य द्वारा ही आ सकती है।

दिसम्बर, '41.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं कौन ?

मुझ पर बहुतों की कृपा है। इसके लिए मैं परमात्मा का और उन सबका कृतज्ञ हूँ। पर उन सबको सन्तुष्ट कर पाऊँ ऐसा मुझसे नहीं बनता। तब सोचता हूँ कि क्या करूँ ? हितैषियों की कृपा और सद्भाव से वंचित मैं अपने को नहीं बनाना चाहता। लेकिन अगर मैं आज्ञा का मान रखने में असमर्थ सिद्ध होता हूँ तो क्या मैं उनसे आशा कर सकता हूँ कि वे मुझसे अपनी आज्ञा का पालन नहीं मागेंगे ? क्या मैं आशा करूँ कि उनसे असहमत रहूँ फिर भी वे मुझ पर कृपालु रहेंगे ?

काम के लिए मेज पर बैठा ही था कि एक सज्जन आये। कई बार सभाओं में उन्हें देखा था। अच्छे वक्ता थे, स्थानीय सनातनधर्म संस्था के स्तंभ थे। पर मेरा उनका यह परिचय नवीन था।

उन्होंने कहा—उस दिन मैंने आपका भाषण सुना था। सोचा, मैं आपसे मिल लूंगा। आप तो सनातनधर्म के सिद्धान्तों को मानने वाले मालूम होते हैं। फिर शिखासूत्र क्यों धारण नहीं करते ? आज क्या ज़रूरत नहीं है कि मालूम हो कौन मुसलमान है और कौन हिंदू ?

मैंने कहा—क्या इसी के लिए आपने कष्ट उठाया है ? इस समय मेरे शिखासूत्र नहीं है, यह जानता हूँ। किंतु इस कारण अच्छा बनने में मुझमें कुछ अक्षमता रहती है, ऐसा भी बोध मुझे नहीं है। लेकिन, कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ठण्डाई मंगाऊँ ?

बोले—भारतवर्ष में हिन्दू हैं अथवा अहिन्दू हैं। व्यक्ति को तय कर लेना होगा कि वह क्या है ? शिखासूत्र उनके बीच की रेखा है। आप उससे उदासीन नहीं रह सकते।

किंतु मुझमें तत्संबंधी विशेष जागृति नहीं हुई। मैंने चाहा कि बताइये मेरे लिए क्या आज्ञा है। सेवा के लिए मैं प्रस्तुत हूँ। चोटी की बहस के मामले में मैं हारता हूँ। क्या यह सम्भव हो सकेगा कि वह मुझे अपने अनुसार ही रहने देवें ?

पर उनका भी मत स्पष्ट था। बिना शिखासूत्र मैं भ्रष्ट रहूँगा, म्लेच्छ रहूँगा। तब नरक में ही मुझे ठौर होगा और वह मेरे संबंध में आशा-शील हैं, मुझ पर स्नेह रखते हैं। कैसे वे अपनी आँखों के सामने यह सहन करें कि मैं नरक के योग्य रहूँ ? उनके प्रेम का तकाज़ा है कि मेरा उद्धार करें।

अब क्या उनकी चिन्ता और प्रेम के लिए मैं उनका ऋणी न बनूँ ? किंतु करूं क्या ? मैंने कहा—महाराज, क्या और कुछ मेरे लिए सेवा का आदेश नहीं दे सकते जो मुझसे हो सके ?

यह अत्यंत निःस्वार्थ सज्जन थे। मेरा उपकार ही चाहते थे। पैसा उन्हें दरकार न था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरी श्रद्धा उन पर अटूट थी। पर अपने से इंकार कर दूँ। इतना असत्य मुझसे न हो सका और प्रस्तुत विषय के संबंध में मैंने उनसे यही चाहा कि वह मुझे मुझ पर ही छोड़ दें।

मैंने अन्त में पाया कि वह रुष्ट हो गये है। मेरे यहाँ का जलपान उन्हें स्वीकार न हुआ और वह मुझे तज कर चले गये।

मैं अपने काम में लगने को झुका—

कुछ देर बाद एक और महाशय आये। बातचीत आरंभ करके बोले—तो क्या आप आर्यसमाजी नहीं हैं ?

मैंने कहा—हूँ तो नहीं, पर कहिये।

कहने लगे—बड़े खेद की बात है।

मैंने माना खेद की बात हो सकती है। पर मुझसे क्या और कोई सेवा लेने की आज्ञा वह कृपया मुझे नहीं देंगे ? पर वे सबसे पहले यह चाहते थे कि बहस करके मैं उन्हें बतला सकूँ कि समझदार होकर मैं किस प्रकार आर्यसमाजी होने से बच सकता हूँ। हाँ, उन्होंने कहा, ज़िद का इलाज उनके पास नहीं है। पर यह निश्चय है यदि आर्यधर्मी मैं नहीं बन सकता हूँ तो अब से मेरी समझदारी पर उन्हें शंका होगी।

मेरे लिए अपनी समझदारी पर अहंकार का मौका नहीं है। पर अपनी अज्ञानता को जानकर भी अपने ही प्रति विरुद्ध और विरुद्धाचारी बनूँ इतना दंभ मुझमें नहीं है।

आर्यसमाज धर्म कल्याणकर है। सत्य है और जो कुछ भी वह कह सकें, सब है। उनके वक्तव्य में मेरे लिए आपत्ति का तनिक भी अवकाश नहीं है। पर अपनी असमर्थता का मैं क्या बना सकता हूँ। निवेदन करने को मेरे पास अपनी लाचारी ही थी और मैंने कहा—एक कम आर्यसमाजी भी रहा तो कितनी दुनिया का नुकसान होगा, क्योंकि वह बहुत नहीं है, इसलिए वह उसे सह लें।

पर उन्होंने भी मुझपर तरस नहीं किया, रोष ही किया, और जब मेरे संबंध में निरे निराश होकर वह चले गये तब मैं भी तनिक खिन्न हुआ और फिर मेज पर झुका कि—

एक जैन विद्वान् की कृपा-दृष्टि इन दिनों मुझे पर आ गई थी। कुछ देर बाद वे पधारे। उन्हें भरोसा था कि मैं जैन हूँ और अभव्य नहीं हूँ। वह चाहते थे कि जैनत्व में प्रगाढ़ता प्राप्त करूँ।

किंतु यही उनका मंतव्य था। जैन धर्म ही तो धर्म है और मुझे उसे धारण रखना होगा और गौरव के साथ प्रगट करते रहना होगा कि मैं जैन हूँ।

मैंने जानना चाहा कि अगर वैसा करने में अशक्त होऊँ तो फिर उनके पास मेरे लिए कहाँ जगह है ? उन्होंने बताया कि जो जैन नहीं वह अजैन है, अर्थात् मिथ्यात्वी है। जब तक वह नरतन में है तब तक वह उसे कलंकित करता है। इस योनि से छूटकर फिर उसे नरक अथवा तिर्यग् योनि में ही स्थान मिलेगा।

नरक में जाने से अथवा तिर्यग् योनि से डरकर, क्या मैं आज अपने साथ झूठा आचरण करूँ ? मैंने यही पंडित जी से कहा, नरक आयेगा तो झूठ बोलकर उससे मैं अपने को कैसे बचा लूँ ? वह कहकर इस बारे में मैंने उनसे क्षमा चाही।

किंतु उन्हें मेरा अपकार किसी प्रकार स्वीकार न था। मानव देह पाकर मैं उसे जैन धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अमृत से वंचित रखूँ यह पंडित जी कभी न होने देंगे। प्रेम की ताकत के अधिकार को भी वह क्यों न मेरे ऊपर बरतें और मुझे सन्मार्ग पर लावें? मैंने चाहा कि वे अवश्य ऐसा करें, किंतु निवेदन किया कि यदि मैं अंत तक असुधार्य ही रहा तो भी अपना स्नेह वह मुझ पर से उठा न लें।

चर्चा खासी देर तक चली पर अपने भाग्य को क्या करूँ। वह बेहद गर्म होकर मेरे यहाँ से विदा होकर गये।

मैं फिर मेज पर झुका—

उस दिन जान पड़ता है, काम होना ही न था। उसी रोज़ एक मुसलमान मेहरबान भी आये, ईसाई पिता भी आ गये। मैं भोजन के समय को लाँघकर उनके साथ ही बैठा रहा। उन सबकी शुभाकांक्षा का मूल्य जानता हूँ। उनकी कृपा को भी अपने बस कभी नहीं खो सकता। मैंने उनको कहा कि वे मेरे पूज्य हैं, मेरे प्रति अपने में वे क्षमाभाव शेष रहने दें। यदि उनकी आज्ञा को ज्यों-की-त्यों पालने में असमर्थ हूँ तो भी उनका ऋणी हूँ। उनके वक्तव्यों में मुझे आपत्ति की अथवा आलोचना की गुंजाइश नहीं है। न समझें, मैं मुसलमान होने का या ईसाई होने का कायल नहीं हूँ। पर कुछ कहलाया ही जाऊँ और वही कहलाया जाऊँ, इसका आकर्षण मुझे नहीं है। पर इस कारण मुझे वह अपने से दूर बिल्कुल न मान लें।

पर वे लोग भी अतिशय अप्रसन्न होकर ही यहाँ से गये और मैं फिर—

अभी वे सब गये हैं। मैं नहीं जानता कि क्या मुझे हक है कि मैं उनके सबकी सत्-अभिलाषाओं को वापस कर दूँ। लेकिन, क्या करूँ?

खैर, अब बारह बज गये हैं, मुझे इजाज़त दीजिये कि मैं ज़रा स्वस्थ हो लूँ।

सितम्बर, '45.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य और पुरुषार्थ विपरीत नहीं तो अलग तो समझे ही जाते हैं। मैं ऐसा नहीं समझ पाता। भाग्य का उदय मेरे निकट-निरर्थक शब्द नहीं है। स्पष्ट ही भाग्योदय शब्द में आशय है कि मैं प्रधान नहीं हूँ, भाग्य प्रधान है। पुरुषार्थ मैं कर सकता हूँ, लेकिन भाग्योदय उससे स्वतंत्र तत्त्व है। हो सकता है कि लोगों को यह मानने में कठिनाई हो, मुझे इसे स्वीकार करने में उलटे अपनी धन्यता मालूम होती है।

एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गये हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है, चलती घूमती धरती ही है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमको बहुत शुभ और सार्थक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूँ। वह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वान्तर्यामी और सार्वकालिक रूप में हैं, उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। धरती का रुख सूरज की तरफ हो जाय, यही उसके लिए सूर्योदय है। ऐसे ही मैं मानता हूँ कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ हो जाय तो इसीको भाग्योदय कहना चाहिए।

लेकिन ऐसा हुआ नहीं करता। पुरुषार्थ की इसी जगह संगति है अर्थात् भाग्य को कहीं से खींचकर उदय में लाना नहीं है, न अपने साथ ही ज़्यादा खींचतान करनी है। सिर्फ मुँह को मोड़ लेना है। मुख हम हमेशा अपनी तरफ़ रखा करते हैं। अपने से प्यार करते हैं, अपने को ही चाहते हैं। अपने को आराम देते हैं, अपनी सेवा करते हैं। दूसरों को अपने लिये मानते हैं, सब-कुछ को अपने अनुकूल चाहते हैं। चाहते यह हैं कि हम पूजा और प्रशंसा के केंद्र हों और दूसरे आस-पास हमारे इसी भाव में मँडराया करें। इस वासना से हमें छुट्टी नहीं मिल पाती। तब कभी होता है कि ऊपर से गहरा दुःख आ पड़ता है। वह हमें भीतर तक विदीर्ण कर जाता है। कुछ क्षण के लिये जैसे हमारी अहंता को ही शून्य कर डालता है। यह शून्यावस्था भगवत् कृपा से ही प्राप्त होती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि दुःख भगवान् का वरदान है। अहं और किसी औषध से गलता नहीं। दुःख ही भगवान् का अमृत है। वह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है अगर हम उसमें भगवान् की कृपा को पहचान लें। उस क्षण सरल होता है कि हम अपने से मुड़ें और भाग्य के सम्मुख हों। बस, इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रखा है। असल में उदय उसका क्या होना है, उसका आलोक तो कण-कण में व्याप्त सदा सर्वदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आँखों का हो जाये, बस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सब उतने मात्र के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ का कोई लक्ष्य मानना बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी भूल करना होगा; ऐसी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होगी।

दुनिया में हम देखते तो हैं। लोग हैं कि बहुत हाथ-पैर पटक रहे हैं, दिन-रात जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं। कोशिश में तो कमी नहीं है, पर सिद्धि कुछ नहीं मिल पाती। तो आखिर ऐसा क्यों है? कोशिश की पुरुषार्थ में सिद्धी मानें तो यह दृश्य नहीं दीखना चाहिए कि हाथ-पैर पटकने वाले लोग व्यर्थ और निष्फल रह जावें। अगर वे व्यर्थ प्रयास रहते हैं तो अन्त में यह कह उठें कि क्या करें, भाग्य ही उलटा है तो इसमें गलती नहीं मानी जायेगी। सच ही अधिकांश यह होता है कि उनका और भाग्य का सम्बन्ध उलटा होता है। भाग्य के स्वयं उलटे-सीधे होने का तो प्रश्न ही क्या है? कारण, उसकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। वहाँ दिशाएँ तक समाप्त हैं। विमुख और सन्मुख जैसा वहाँ कुछ संभव ही नहीं है। तब होता यह है कि ऐसे निष्फल प्रयत्नों वाले स्वयं उससे उलटे बने रहते हैं; अर्थात् अपने को ज़्यादा गिनने लग जाते हैं, शेष दूसरों के प्रति अवज्ञा और उपेक्षाशील हो जाते हैं। कर्म में अधिकांश यह दोष रहता है, उसमें एक नशा होता है। नशा चढ़ने पर आदमी भाग्य और ईश्वर को भूल जाता है और विनय की आवश्यकता को भी भूल जाता है। यों कहिये कि जान-बूझकर भाग्य से अपना मुँह फेर लेता है। तब उसे सहयोग न मिले तो उसमें विस्मय ही क्या है?

ऊपर के शब्दों में आप कृपया कर्म की अवज्ञा न देखें, उसके साथ अकर्म के महत्त्व को भी पहचानें। अकर्म का आशय, कर्म का अभाव नहीं, कर्तव्य का क्षय है। 'मैं यह कर रहा हूँ, मैं वह करने वाला हूँ, मैं यह सब-कुछ करके छोड़ूँगा', आदि-आदि अहंकारों से किया गया कर्म, यदि सिद्धि और सफलता न लाये बल्कि बंधन और क्लेश उपजाये, तो इसमें तर्क की कोई असंगति नहीं है। पुरुष का अर्थ मेहनत ही नहीं है, सहयोग भी है। अहं के बल पर चलने से यह सहयोग क्षीण होता है। तब उसको पुरुषार्थ भी क्या कहना?

पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है, सच में पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और विपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुष को ही उसके अर्थ से विलग और विमुख कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है? बल विक्रम तो पशु में ज़्यादा होता है। दौड़-धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशु-चेष्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ-पैर चलाना नहीं है, न क्रिया का वेग और कौशल है, बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकर्तृत्व भावना है। वासना से पीड़ित होकर पशु में अद्‌भुत पराक्रम दीख आ सकता है। किन्तु यह पुरुष के लिए ही संभव है कि वह आत्मोत्सर्ग और आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाये।

भाग्योदय शब्द में हम इसी सार को पहचानें। भाग्यवादी बनना दूसरी चीज़ है, उसमें हम भाग्य को अपने ऊपर मानते हैं। भाग्य का यह मानना बहुत ओछा और अधूरा होता है। सचमुच ही इस मानने से पुरुषार्थ की हानि होती है। पर भाग्य से अपने को अलग मानने का हमें अधिकार ही कहाँ है? भाग्य के यदि हम आत्मीय बनें तो हमारी उसके साथ लड़ाई ही समाप्त हो जाये। तब भाग्योदय का क्षण हमारे लिए नहीं आता, क्योंकि क्षण-क्षण और प्रतिक्षण हमें भाग्योदय अनुभव होता है। भाग्य यहाँ से वहाँ तक हमारे जीवन को उदित और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोकित करता है। ऐसा व्यक्ति विरोधी यत्न या श्रम नहीं करता उसकी कुछ अपनी आकांक्षा अथवा वासना नहीं रहती। उसका कर्म इसलिए उसे थकाता नहीं, अकर्म की प्रेरणा रहने से उसके कर्म में प्रतिक्रिया नहीं होती, न बन्धन रह जाता है। मानो, कर्म उससे भाग्य ही कराता है, इसलिए प्रत्येक कर्म उसके भाग्य को प्रशस्त और विस्तृत ही करता जाता है।

भाग्य के प्रति अभ्यन्तर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होने के बराबर है। यह बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। हमारी हस्ती क्या है? आखिर गिनती के कुछ साल हम जीते हैं, फिर सदा के लिए मर जाते हैं। चाहे फिर-फिर भी पैदा होते हों, लेकिन हमारी यह अहंता तो यहीं-की-यहीं रह जाती है। पर हमारे मर जाने से क्या अस्तित्व कुछ भी घटता है? जगत् और इतिहास तो चलता ही रहता है। तब इससे बड़ी मूर्खता दूसरी क्या होगी कि हम अपने कतिपय वर्षों के साढ़े-तीन हाथ के सीमित अस्तित्व को सब-कुछ मान लें और उस कारण बाकी त्रिकाल-त्रिलोक को अमान्य ठहरा दें। भाग्य को न मानना इस तरह उस सब-कुछ को न मानना है जो सचमुच सीमाहीन भाव से हैं। हमारे द्वारा सच पूछिये तो उदय उसी का है और हमारे पुरुषार्थ के भीतर से उसी का निहित अर्थ पूरा हो रहा है। उस भाग्य को प्रण-भाव से स्वीकार करने में मैं अपने पुरुषार्थ के परमार्थ को ही स्वीकार करता हूँ, उस अर्थ को किसी भी अर्थ में और तनिक भी मन्द नहीं करता।

अर्थ हमारा स्वार्थ बन जायेगा, पुरुषार्थ वह नहीं कहलायेगा अगर भाग्य के परमार्थ से उसे हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वार्थ के जो चक्र में हैं, वे भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं वह तो उदित हैं ही, केवल उनकी पीठ उस तरफ है। इसलिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। इच्छाएँ नाना हैं और नाना विधि हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह-रहकर थक आता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसको द्वन्द्व से थका मारता है। इस संसार को अभी राग-भाव से वह चाहता है कि अगले क्षण उतने ही विराग भाव से वह उसका विनाश चाहता है। पर राग-द्वेष की वासनाओं से अन्त में झुँझलाहट और छटपटाहट ही उसे हाथ आती है। ऐसी अवस्था में उसका यह सच्चा भाग्योदय कहलायेगा अगर वह नत-नम्र होकर भाग्य को सिर आँखों लेगा और प्राप्त कर्तव्य में ही अपने पुरुषार्थ की इति मानेगा।

अगस्त, '64.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक राजनीति

कांग्रेस के जमाव का मौका हमारे लिए एक खास मौका है। साल-भर बाद यह आता है और उन चन्द दिनों में देश अगले वर्ष-भर के लिए अपने राजनीतिक कर्म की दिशा पाता है। कार्यक्रम निश्चित होते है और देश के बाहर चलने वाली राजनीतिक प्रवृत्तियों के प्रति भी रुख स्थिर और प्रगट किया जाता है।

लाखों की तादाद में देश के कौने-कौने से लोग वहाँ जमा होते हैं। बड़ा उत्साह मालूम होता है। संख्या स्वयं उत्साह पैदा करती है और यह राष्ट्रीय समारोह दर्शकों के मन पर एक स्मरण दृश्य अंकित कर देता है।

उत्साह तो ठीक ही है, लेकिन आत्मालोचन की भी आवश्यकता है। दिशा विचार से मिलती है, भावना का उफान ही सिर्फ़ काम नहीं दे सकता। ला-तादाद लोगों के एक जगह इकट्ठे होने के कारण ही जो शक्ति, गर्मी और जोश उत्पन्न हो जाता है वह अपने-आप में स्वराज्य तक हमें नहीं ले जायेगा। भीड़ स्वराज्य को नहीं पा सकती। अनुशासन में बँधी हुई, विवेकभाव से एकत्रित राष्ट्रीय संस्था ही राष्ट्र को राजनीतिक स्वराज्य तक ले जा सकती है। विवेक आत्मालोचन का नाम है।

हमको आज की अपनी स्थिति और पिछले अपने इतिहास को देखना चाहिए। दोनों की तुलना से आगे के लिए कुछ सबक मिल सकता है। भविष्य बनाना है तो वर्तमान के संकटों को समझना चाहिए और उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

आज कांग्रेस अधिकार-प्राप्त संस्था है। हिन्दुस्तान के बहुत बड़े भाग में कांग्रेस की वज़ारत का शासन है। शासन शब्द कहते हिचकना चाहिए, क्योंकि शासन का छोर विदेश में है और विदेशी के हाथ में है। स्वराज्य जैसी कोई बात अभी है कहाँ? फिर भी अपने अन्दरूनी प्रबन्ध का अधिकार बहुत कुछ वज़ारतों के ज़रिए कांग्रेस के हाथ में है। कांग्रेस के इतिहास में यह परिच्छेद नया है। इससे पहले तक उसका काम विदेशी सरकार का विरोध और मुकाबला था।

इसको समझने के लिए कांग्रेस का इतिहास हमारी आँखों के आगे है। लोगों ने अपने को बलिदान किया, कष्ट सहे, यातनाएँ भुगतीं। सब-कुछ, पर संकल्प नहीं छोड़ा। संकल्प था निःस्वार्थ। उसमें छीन-झपट की भावना का सवाल नहीं था। कर्तव्य के मार्ग पर विपदा झेलते हुए आगे बढ़ते जाने का सवाल हरेक के सामने था। वह पुरस्कार न था, दायित्व था।

कर्तव्य पालन में से अधिकार की मान्यता आती है। जो दायित्वशील है, वह उतना ही अधिकार-पात्र है। नैतिकता सार्वजनिक अधिकार का मूल है। कर्तव्यनिष्ठ लोगों ने अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्ठा के कारण स्वेच्छापूर्वक कष्ट झेले। असंख्यजनों ने जेल को अपना घर बनाया और यह सब-कुछ कांग्रेस के झंडे के नीचे किया गया। उसी का परिणाम हुआ है कि कांग्रेस का बल इतना बढ़ता गया कि विदेशी सरकार को समझौते तक आना पड़ा और अपने शासनाधिकार को जनता के प्रतिनिधियों के साथ तक बाँटने को लाचार होना पड़ा।

लेकिन क्या इष्ट पा लिया गया है क्या स्वराज्य समूचा मिल गया है? क्या हम राष्ट्र की राजनीति, विदेश-नीति, मुद्रा-नीति और अर्थ-नीति को अपने राष्ट्रीय और भारतीय आदर्श के मुताबिक चलाने को स्वतन्त्र हैं? क्या हमारा बड़े-से-बड़ा आदमी विदेशी इच्छा और कानून के नीचे अपदार्थ ही नहीं साबित किया जा सकता? क्या हमारे कांग्रेस के प्रेजीडैण्ट को मिनट-भर में जेल के अन्दर बन्द देखने की सम्भावना मिट गई है?

अगर नहीं, तो अधिकारों के बाँट-बँटाव की मनोवृत्ति का क्या मतलब? जैसे काम हो चुका हो और इनाम की लूट का वक्त आ गया हो। आज हममें से बहुतेरे अधिकार की ओर पद की भाग-दौड़ में लगे दीखते हैं। कांग्रेस मानो पदलोलुपों के लिए अखाड़ा है।

अगर हालत यह है, और यह रही, तो कांग्रेस का आकार बृहद् होने पर भी उसकी भीतरी जीवन-शक्ति नष्ट हो जायेगी। शरीर स्थूल मालूम हो, लेकिन चेतन्य उसमें नहीं रहेगा। ऐसी हालत में विदेशी शासन की आवश्यकता पुष्ट ही हो सकती है, नष्ट नहीं हो सकती। दो लड़ेंगे तो क्या तीसरे का काम न बनेगा?

अतः अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने राजनीतिक रुख की छानबीन करें। तय करें कि अपनी राजनीति को किन मौलिक आधारों पर खड़ा करना है। समूचा पर्यवेक्षण करें और जो अनर्थकारिणी हैं उस वृत्ति से निर्ममता के साथ अपनी राजनीति को काटकर शुद्ध कर लें।

मेरी प्रतीति है कि जो राजनीति मुख्यता से अधिकार की चेतना पर खड़ी होगी और चलाई जायेगी और जिसमें बँट-बँटाव का वातारवण रहेगा, उस राजनीति में भारत जैसे देश का त्राण नहीं है, नाश भले हो।

यहाँ वह राजनीति चाहिए जिसका मूलाधार मानव-नीति है। जो मानव-जाति की नैतिक मर्यादाओं को इच्छापूर्वक और संयमपूर्वक अपनी ही मर्यादा स्वीकार करे। जो व्यक्ति में कर्तव्य-भावना को तनिक भी मन्द न होने दे। जिसकी आँख पुरस्कार की ओर न हो, बल्कि जिसमें उद्यता आपदा के प्रति हो।

पश्चिम का हाल हमारी आँखों के आगे तो हैं। उसका अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र उसके अब कितना काम आ रहा है? क्या पश्चिमी राष्ट्र हर घड़ी अपने को विस्फोट और ध्वंस के मुँह पर बैठा हुआ नहीं अनुभव कर रहें हैं? किसको चैन हैं? कौन एक-दूसरे के भय से बचा हुआ है? हरेक डर रहा है, इसीसे हरेक डराना चाह रहा है।

उनका वैज्ञानिक राजनीतिक अर्थशास्त्र क्या ऐसे आड़े समय उनकी मदद कर पा रहा है? क्या वह संकट को ही भीषण बनाने में मदद नहीं दे रहा? बल्कि कहना होगा, स्थिति का संकट उसी की उपज है।

इसलिए विधान के उन वैज्ञानिक और शास्त्रीय मूल्यों से चलने वाली राजनीति भारत का शायद पूरा काम नहीं दे सकेगी। भारतीय राजनीति चाहिए। वह भारतीयता गाँव में है। वह सादगी में है। जीवन की नीति सीधी-सादी है। उसमें हेर-फेर और चक्कर कहीं नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत की राजनीति में भी पेचीदगियों की ज़रूरत नहीं है। वक्र-प्रपंच भारत की राजनीति को प्रबल और पुष्ट नहीं बना सकेंगे। यहाँ की हर नीति– समाज नीति अथवा राजनीति नैतिक होगी, तभी काम देगी। नैतिक से छूटकर कर्म बंधन नहीं काट सकेगा, बल्कि वैसा कर्म जकड़ बढ़ायेगा। राजनीतिक कर्म से यदि हमें आशा है कि वह देश को बन्धन मुक्त करे, तो उस कर्म में नैतिकता का प्राण आवश्यक ही है।

अगस्त, '39.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्ची सलाह

लड़ाई के दिनों में, उसके जोश और शोर से दूर, अणुशक्ति की खोज की जा रही थी। खुद लड़ाई की दृष्टि से भी मानना होगा कि उस वक्त वह सबसे महत्त्व का काम था।

राजनीति के जोर और जोम से अलग गांधीजी की निगाह के नीचे जो अहिंसा-शक्ति की शोध चल रही है, दुनिया के वर्तमान और भविष्य के लिहाज़ से मैं मानता हूँ कि वह सबसे भारी काम है। पहले के लेखों में उसी ओर इशारा है। वहाँ नये युग की सृष्टि हो रही है। सृष्टि चुपचाप होती है, ध्वंस शोर करता है।

उस प्रयोग में हमारी श्रद्धा रह सकती है। उस श्रद्धा से चीज़ें कुछ और तरह दीखें तो अचरज नहीं।

विलायत डगमग है। उसकी पतवार मज़दूर दल के नेता श्री एटली के हाथ है। अणुशक्ति की भयंकर संभावना से दुनिया को बचाने के लिए, अमरीका जाने से पहले, एक भाषण में उन्होंने कहा कि स्वराज्य तो (हमारे पास) तैयार ही है, बस, उसे ले लेने वाला हिन्दुस्तान चाहिए।

ज़रूरी नहीं कि यह कहने के लिए श्री एटली को झूठा समझा जाय। पर उनके पास जो कुछ भी तैयार हो, स्वराज्य के नाम पर कोई हिन्दुस्तान उनके पास से वह लेने के लिए आने वाला नहीं है। अब नहीं, कभी भी नहीं।

अगस्त'42 में ब्रिटिश हुकूमत के लिए कांग्रेस ने सलाह दी—'भारत छोड़ दो'। उससे पहले ब्रिटिश सत्ता को यह सलाह गांधीजी ने निजी तौर पर देना शुरू कर ही दिया था। उस सलाह में गर्भित था कि हिन्दुस्तान छोड़कर आप लोग अपने घर को और अपने को बचाओ। यानी उस सलाह में हिन्दुस्तान के स्वराज्य का ही ख्याल नहीं था, ब्रिटेन की भलाई का भी ख्याल था। हिन्दुस्तान की कांग्रेस हिन्दुस्तान को चाहे, गांधी ब्रिटेन को भी चाहना नहीं छोड़ सकते। ब्रिटेन के भले के लिए वह अपने शरीर को कुर्बान करने में नहीं चूकेंगे। यानी सच्चे मन से अगर चाहा जाय तो अमरीका के पास हाथ फैलाकर जाने की जिल्लत से गांधी का हिन्दुस्तान इंग्लैण्ड को बचा सकता है!

ऐसी भावना से 'भारत छोड़ो' की बात कहने के बाद अंग्रेजी सल्तनत को क्या यह समझने की गलती करने का मौका है कि हिन्दुस्तान का स्वराज्य उसके पास है? वह दे, और हिन्दुस्तान ले? उसके दिये जो चीज़ हिन्दुस्तान लेगा, वह हिन्दुस्तान का अपना स्वराज्य तो हो ही नहीं सकता है। हिन्दुस्तान ने यह जान लिया है। ब्रिटेन को भी यह हमेशा के लिए जान रखना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लेकिन फिर क्या होगा? हम चले गये तो क्या हिन्दुस्तान में खून की नदियाँ ही न बहेंगी?

हाँ, शायद बहें। लेकिन खून की नदियों की फिक्र करना बहादुर इंग्लैण्ड ने कब से सीखा है? क्या यह कायरता ही उसकी बहादुरी है?

'लेकिन, हम पर पवित्र कर्तव्य है। हम उस कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ेंगे। सभ्यता की और अपने दायित्व की हमें यहाँ रक्षा करनी है!'

यह कहने वाले ब्रिटेन को कहना होगा कि इस भयंकर दंभ को अब छोड़ो। पहला अपने प्रति तुम्हारा कर्तव्य है। अपने घर पर भी सभ्यता की रक्षा की जरूरत है। वहाँ का दायित्व तो सिर्फ़ तुम्हारा है। जाओ और घर को सँभालो, नहीं तो सैलाब आने वाला है और नहीं कहा जा सकता कि क्या हो जायेगा।

ब्रिटेन फँसकर भी न समझे तो हैरत है। हालत बदली नहीं है। फासिज़्म मिट गया, सही। पर इतने पर साम्राज्य और साम्राज्यवाद को सुरक्षित नहीं समझ लेना होगा। चर्चिल ने कहा था कि साम्राज्य को बखेरने के लिए वह मंत्री नहीं बने। साम्राज्य को बिखरना तो होगा। यह काम चर्चिल से नहीं हो सकता था, इससे उन्हें वहाँ से हटना पड़ा। जो इस काम को कर सकेगा वही मन्त्री योग्य होगा और मैं कहता हूँ कि वही होगा जो इंग्लैण्ड को बचाने वाला होगा।

सन् चौदह की और सन् चालीस की लड़ाइयाँ न होतीं अगर अंग्रेज़ों का साम्राज्य न होता। न हों, अगर वह साम्राज्य न रहे। शब्द से असलियत नहीं बनती, न असलियत मिटती है। 'कामनवैल्थ' शब्द अच्छा हो, पर अंदर अगर मैल है तो शब्द कहाँ तक उसे ढँक पायेगा। शब्द नहीं, मन चाहिए। करने का काम कहने से न होगा।

यह था भाव उस 'भारत छोड़ो' की सलाह का। उसमें प्रेम था, सहानुभूति थी और सद्भाव था। वह नारा राष्ट्रीय था तो उससे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय था। असल में वह मानवीय था।'

राष्ट्रों की राजनीति की आज की बिछात पेचीदा है। सबसे दयनीय स्थिति है इंग्लैण्ड की। वह बड़ी ताकत है, लेकिन बड़ी नहीं है। अमरीका की बगल में है, तब तक वह है। ऐसी हालत में तो अहंभाव दबना चाहिए और समझ आनी चाहिए। नहीं तो साम्राज्य उसका उसके गले की फाँसी हो रहेगा। अपनी गर्दन को देखे, क्या वह आज भी ऊँची उठ सकती है? क्या वह गर्दन जहाँ-तहाँ तरह-तरह के नामों पर दबी हुई और फँसी हुई नहीं हैं?

श्री एटली को सभ्यता को बचाना है। इसके लिए ट्रुमैन से जाकर उन्हे मिलना हुआ और रूस के प्रति भी आपसी विश्वास की पुकार करनी हुई। अणुबम से सभ्यता को खतरा है। उस बम को अपने से दबोचकर रखना है और सभ्यता दोनों महाशक्तियों का आपस में मिले-जुले रहना ज़रूरी बताती है। वही सभ्यता क्या हिन्दुस्तान के बारे में उन्हें कुछ नहीं बताती?

मैं कहता हूँ कि वह सभ्यता नहीं, स्वार्थ है। इंग्लैण्ड की परख हिन्दुस्तान में है। यहाँ अगर वह सभ्य नहीं है, तो सभ्यता का उसका दावा कहीं नहीं चलेगा। मुँह की बात से नहीं, रोज़ के काम से सभ्यता बनेगी और बचेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलायत में डर है कि हिन्दुस्तान में नफ़रत पैदा हो रही है। डर मुझे भी है। लेकिन क्या सचमुच माना जाता है कि नफरत बुरी चीज़ है? क्या फिर वह चाहा भी जाता है कि नफ़रत पैदा न हो और न बढ़े? ऐसा हो तो ब्रिटेन के लिए दुविधा का अवसर नहीं है। उसे काम का अपना हिस्सा पूरा कर देना है। हिन्दुस्तान के भले के लिए इंगलिस्तान यहाँ हुकूमत रखना चाहता है, यह बात भी उसे मुँह पर नहीं लानी है। इसका उलटा असर होता है। उस बात में सचाई होगी तो हिन्दुस्तान का दिल उसकी गवाही आप देगा। उसे अपने मुँह दुहराना नफ़रत बढ़ाना है।

हिन्दुस्तान का होगा वह हो जायेगा। लेकिन ब्रिटेन के भले के लिए ज़रूरी है कि हाकिम के तौर पर वह जल्दी-से-जल्दी हिन्दुस्तान छोड़ दे। राष्ट्रीय उद्धतता में 'भारत छोड़ो' नहीं कहा गया था। कम-से-कम लेखक उस नाते नहीं कह रहा है, सिर्फ़ हृदय रखने के कारण ही उसे यह कहना पड़ रहा है। इसमें देर दोनों तरफ मन को बिगाड़ ही सकती है।

सितम्बर, '40.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रांत निर्माण

प्रांत निर्माण का प्रश्न मुझसे दूर है। मेरी राय उस बारे में अनिवार्य नहीं है। इससे वह कुछ सैद्धान्तिक-सी हो तो अचरज नहीं।

हिन्दुस्तान का आज का प्रान्तीय बँटवारा अटल नहीं है। उसमें हेर-फेर की ज़रूरत है। सीधी-सी बात जिसके आधार पर प्रान्तों का पुनर्विभाजन हो सकता है, वह प्रान्त की सीमाओं का भाषानुसार निर्धारित होना।

प्रान्तों की आवश्यकता शासन के सुभीते के लिए है। इसलिए वह विभाजन भी शुद्ध स्वाभाविक नहीं हुआ करता। विभाजन अपने-आप में ही कृत्रिम है। असल में भूमि पर खण्ड नहीं है और यदि कोई अपरिचित व्यक्ति यहाँ से वहाँ तक पैदल घूम जाये तो उसे यह पता नहीं चल सकता कि कब कहाँ वह एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में आ गया। इस तरह प्रान्त विभाजन का काम एक सांस्कृतिक कार्यकर्ता भरसक अपने जिम्मे न लेगा।

लेकिन जीवन में खाने नहीं है और कोई केवल सांस्कृतिक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति नागरिक है और हो सकता है कि अपनी कर्तव्य-तत्परता के फलस्वरूप लोकनेता का दायित्व उस पर आ पड़े। तब लोक-जीवन के सभी प्रश्न उसके सामने आयेंगे और प्रान्तीय सीमाओं के निर्माण का प्रश्न भी उनमें हो ही सकता है। स्पष्टतः यह प्रश्न राजनीति का है, क्योंकि इसका व्यवस्था से सम्बन्ध है और व्यवस्था सम्बन्धी अर्थात् राजनैतिक प्रश्न सीधे किसी सिद्धान्त से हल नहीं होता, क्योंकि वह एकमात्र बौद्धिक नहीं होता, राग-द्वेष की भावनाएँ उसमें मिली होती हैं। भिन्न-भिन्न स्वार्थों के बीच में सामंजस्य और संतुलन कायम रखने का वह प्रश्न होता है, इसलिए उन स्वार्थों से अलग जाकर निरपेक्ष रूप से उसका निपटारा असम्भव है। इसीलिए ऐसे प्रश्नों को बहुमत से हल किया जाता है। सही और गलत के बीच राज-कारण के क्षेत्र में कोई सैद्धान्तिक रेखा खिंची नहीं होती। लोकमत ही उसका निर्णायक है और लोकमत बनने-बिगड़ने वाली चीज़ है। इसी से शक्ति का हथौड़ा उस पर पड़ता रहता है।

प्रान्त विभाजन में मोटे तौर पर बोलियों के भेद का आधार मान लेना चाहिए। पर मोटे तौर पर कहने का मतलब यह कि पूरे तौर पर यह नहीं किया जा सकता। बोलियाँ बन्द कमरों में नहीं उगतीं। इससे वे आपस में इतनी मिली-गुथी होती हैं कि उन्हें काटकर एक-दूसरे के प्रति पराया बनाना लगभग असम्भव कार्य है। सब सीमाओं और राजनैतिक स्पर्धाओं के बावजूद बोलियाँ और भाषाएँ परस्पर निकट आती रहती हैं और आपस में आत्मीयता बढ़ाती जाती है। साहित्यिक जन यही किया करते हैं। स्नेह को मूर्त करने में वे भाषा को अपनी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमाओं के बन्धन से मुक्त किया करते हैं। सांस्कृतिक विकास की यही प्रक्रिया है और राजनीति उसको नहीं रोक सकती।

बुन्देलखण्ड के पड़ोस में भी यदि ब्रज है तो उन दोनों भाषाओं का परस्पर एकीकरण अवश्यंभावी ही है। वह हुआ है, हो रहा है और होगा। जो हमारे अखबार नहीं पढ़ते हैं और हमारे आन्दोलन जिन्हें नहीं छूते, वे अब भी अपने सहज सुख-दुःख की अभिव्यक्ति द्वारा सीमाओं को अस्वीकार करते हैं। एक सीमा-रेखा के दायीं और बायीं ओर रहने वाले लोगों में यह बुद्धि हमेशा के लिए पैदा नहीं की जा सकती है कि वे आपस में पड़ोसी नहीं हैं। राजनैतिक विभाजन और उसके आधार पर उपजाया गया स्पर्धा का भाव उन्हें आपस में लड़ा सकता है, पर फिर भी यह लड़ाई स्थायी नहीं हो सकती और जीवन की सहज आवश्यकता अन्त में उन्हें मिलाकर ही छोड़ेगी।

बुन्देलखण्ड ब्रज से भिन्न है। यह स्पष्ट भी हो, पर ठीक किस रेखा पर वे आपस में एक-दूसरे से अलग होते हैं, यह खोज निकालने का काम कोई सांस्कृतिक कार्यकर्ता अपने ऊपर नहीं लेगा। क्योंकि उनकी भिन्नता से कहीं अधिक उनकी सामान्यता, उनकी अभिन्नता, उसके मन में बसी होगी। मेरे मन में निश्चय है कि अन्त में उनकी रेखा सच्ची नहीं होगी और किसी-न-किसी प्रकार स्वार्थों के सन्तुलन के निमित्त से वह बनाई जायेगी।

प्रान्त के केन्द्र की बात जाने दीजिये। वहाँ पृथक्ता तो कुछ स्थिर-सी मालूम होती है। पर उस प्रान्त के तटवर्ती जिले, तहसील और परगने किस आधार पर लिये या छोड़े जायेंगे? समस्या ठीक इसी जगह है; और क्योंकि ठीक इस जगह सांस्कृतिक समाधान काम नहीं दे सकता, इससे सिद्ध है कि वह समस्या भी राजनैतिक है।

प्रान्तीय चेतना यदि प्रबल और व्यापक हो उठे तो संस्कृतिनिष्ठ लोक-कर्मी लोक-प्रतिनिधि की हैसियत से प्रान्त निर्माण के प्रश्न में भाग ले सकता है। पर प्रान्तीय चेतना उत्पन्न करने में उसका कोई भाग होने का अवसर नहीं होना चाहिए। क्योंकि उस चेतना का जन्म स्नेह में से नहीं होता, जोकि आत्मबलि अर्थात् ऐक्य चाहता है; वरन् सूक्ष्म अहंभाव में से होता है, जो आत्मरक्षा की चेतना को उभारता और दूसरे की पृथक्ता और सदोषता देखा करता है। यही राजनैतिक वृत्ति का बीज है। मुझे लगता है कि स्वतंत्र प्रान्त निर्माण के प्रश्न का उद्भव उसी भूमि से हुआ होना चाहिए, यह कहने में राजनीति से बचने का परामर्श नहीं है। केवल यही भाव है कि प्रान्त निर्माण का काम लोक-चेतना को प्रान्तीयता की दिशा में मोड़ने में नहीं, बल्कि विग्रहग्रस्त स्वार्थों को मिलाने के द्वारा सार्वभौम ब्रिटिश सत्ता को तदर्थ व्यर्थ बनाने के द्वारा अधिक सुकरता से हो सकेगा। बुन्देलखण्ड में कितनी रियासतें हैं—क्या वे किसी एक को मध्यस्थ मानकर आपस में मिल सकती हैं? ऊपर ब्रिटिश सत्ता की अधीनता में नहीं, बल्कि स्वेच्छा से मिल सकती हैं? इतना हो सके तो बुन्देलखण्ड प्रान्त निर्माण का तीन चौथाई काम हो गया समझना चाहिए। उसके बाद शायद ब्रिटिश प्रान्तों के दो-चार जिलों की बात रह जायेगी। उन जिलों को मिलाने के लिए रियासतों को भारी त्याग करना पड़ेगा। उन जिलों के नाते ब्रिटिश सत्ता, या जो केन्द्रीय सत्ता हो, प्रान्त पर हावी होने आयेगी। क्या उस समय बुन्देलखण्ड की रियासतें इतना त्याग कर सकेंगी या उन जिलों में अपने प्रति उतना आकर्षण पैदा कर सकेंगी?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समूचा प्रश्न बुन्देलखण्ड को अलग करने का नहीं है, बल्कि बुन्देलखण्ड को जोड़ने का है। जनता में तो वह अब भी जुड़ा हुआ है। यदि बँटा हुआ है तो बड़े स्वार्थों के कारण। इसलिए बुन्देलखण्ड प्रान्त-निर्माण का प्रश्न उतना लोक चैतन्य को उस दिशा में उद्वेलित करने का नहीं है, जितना उन विभक्त और न्यस्त स्वार्थों में त्यागपूर्वक परस्पर मिलने की भावना पैदा करने का है।

सुनता हूँ कि कपितय रियासतों के सम्मिलित हाईकोर्ट का जो प्रयोग किया गया था, वह विशेष सफल नहीं हुआ। ऊपर की सत्ता के सहयोग पर भी वह प्रयोग नाकाम रहा तो यही कहा जा सकता है कि वे रियासतें अभी इतनी एकता के लिए भी तैयार नहीं हैं। फिर उस वर्ग में भी आने से भी इन्कार करने वाली दूसरी कई रियासतें थीं। सम्मिलित प्रान्त-निर्माण के लिए सबसे अधिक उन रियासतों में हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है।

या फिर ऊपर की ओर से वह सहज किया जा सकता है। पर उसमें प्रच्छन्न संकट है। सरकार ने ही सम्मिलित हाईकोर्ट का प्रयोग लोकहित की दृष्टि से न किया होगा। अर्थात् ऊपर की सुविधा के ख्याल से जो स्वतंत्र प्रान्त-निर्माण होगा, उसे लोक-सामान्य के हित से कोई सरोकार न होगा। मान लीजिये, स्वाधीन भारत में ऊपर से अलग बुन्देलखण्ड प्रान्त बना दिया जाता है। उतने मात्र से आज जो आपसी विग्रह की वृत्तियाँ हैं, वे चली जायेंगी ? सिवा इसके कि ऊपर से समूचे प्रान्त का एक शासक आ जायेगा और क्या होगा ? सांस्कृतिक कार्यकर्ता को इसमें विशेष तृप्ति न होगी।

सारांश : 1. प्रान्त निर्माण का प्रश्न उसी हालत में और उसी हद तक विचारणीय है जहाँ तक उसमें वृत्ति मिलने और मिलाने की है।

2. इस दृष्टि से लोक-चेतना को प्रान्तीय परिभाषा में बदलना या उभारना अनिवार्य नहीं है।

3. बुन्देलखण्ड यदि प्रान्त की दृष्टि से एक नहीं है तो जिन बड़े स्वार्थों के कारण वह विभक्त है, उनको पिघलाना और उन्हें किंचित् त्यागपूर्वक एक प्रान्त के आदर्श में संगठित करना होगा।

4. जनता में तो समस्त भूखण्ड अविभक्त है और अन्ततः प्रान्त विभाजन में नहीं, बल्कि प्रान्तहीनता में जनता की सच्ची सेवा और प्रतिष्ठा है।

5. इस दृष्टि से तमाम विभाजन राजनैतिक कर्म हैं। लोक प्रतिनिधि के तौर पर वह दायित्व के रूप में आ ही जायें, तभी व्यक्ति के लिए उसमें पड़ना श्रेयस्कर है।

6. ऊपर की सत्ता के बल से राजनैतिक प्रयोजन जल्दी सधता है। प्रान्त भी उसी तरह जल्दी बन सकता है। लेकिन उसमें असली लाभ विशेष नहीं है।

7. भाषाएँ आपस में दूर और अलग रहना नहीं चाहतीं। भाषा अपनी बात आगे पहुँचाने के लिए हैं। इस तरह भाषाओं से आदान-प्रदान और समन्वय अनिवार्य रूप से होता ही जा रहा है और होता ही जायेगा। यह ठीक है कि प्रान्त की तात्कालिक मर्यादाओं का आश्रय ले। लेकिन यह इसी में गर्भित है कि वह विभाजन का कृत्य अचल और स्थिर न होगा; विकासशील होगा; न प्रान्त स्वाग्रही होने पायेंगे जैसे कि कोई जीवित भाषा आग्रही नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. बुन्देलखण्ड प्रान्त का प्रश्न बुन्देली रियासतों के प्रमुखों के लिए हैं और वे स्वार्थ त्याग के आधार पर ही उधर बढ़ सकते है।

9. जन-सामान्य के सुख-दुःख से अलग जाकर इस प्रश्न पर विचार करने में खतरा है और इस दृष्टि से पत्रों में नहीं, प्रतिनिधि परिषदों में क्रियात्मक धरातल पर उस सम्बन्ध में विचार हो तो हो सकता है।

जनवरी, '43.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य सत्ता और नीति सत्ता

आज के कार्यक्रम का कागज सवेरे ही मुझे मिला तो मालूम हुआ कि मुझे भी यहाँ बोलना है। तब से मैं असंमजस में हूँ। यह असमंजस का ही प्रमाण मानिये कि खड़ा नहीं हो रहा हूँ, बैठकर ही बोल रहा हूँ। असमंजस का कारण यह कि दो बातें मैं जानता हूँ। पहली बात यह कि किसी काम का आदमी न मैं रहा हूँ, न हूँ। और दूसरी बात कि जिस जमात के सामने मुझे अब बोलना है, वह बेहद काम की जमात है इसलिए अधिकार के नाते नहीं, केवल आज्ञा पालन के नाते ही बोल सकता हूँ।

मेरी स्थिति दर्शक की-सी है। दर्शक से भी कुछ बदतर कहिये। दर्शक के लिए तो सामने का दृश्य तमाशा हो सकता है, मेरे सामने जो है वह तमाशा बिल्कुल नहीं है। मैं विश्वास रखना चाहता हूँ कि आप लोगों की यह जमात होने वाले शहीदों की जमात है। उन लोगों की जमात है जिनके लिए सिर्फ़ जैसे-तैसे जीते रहने का सवाल नहीं है, बल्कि बड़े जीवन का, समाज के जीवन का प्रश्न जिनके मन में बेचैनी पैदा करता रहता है। इतनी बेचैनी कि उसी को अपने जीवन-मरण का प्रश्न बनाकर मानो अपनी निजी सुविधा की आहुति देने को तैयार होकर आप यहाँ आ गये हैं। मानो अपने जीवन को और रक्त को ही अंजलि में लेकर होमने की तैयारी से आप आये हैं।

सर्वोदय के बारे में मुझे लगता रहा है कि नीति का निवेदन और प्रकाशन उसका काम है; अधिकतर इतने से उसका सन्तोष हो जाता है। लेकिन आज जो अभी प्रस्ताव पढ़ा गया, वह उस सीमा से आगे जाता है और मुझे इसकी खुशी है। कारण, उस भाषा में निवेदन और प्रकाशन पर ही बस नहीं है, आगे उसकी ध्वनि में चुनौती भी है; बल्कि मैं मानना चाहता हूँ कि धमकी तक है। और अपनी ओर से मैं इसको सत्य-युक्त अहिंसा के बिल्कुल अनुकूल मानता हूँ।

वह अहिंसा जिसमें से मात्र निवेदन मिलता है, संकल्प की चुनौती नहीं मिलती है, जल्दी ठंडी पड़ जाती है। तापमान उसमें जैसे आवश्यकता से कम रहता है। अहिंसा वह भी हो सकती है, जिसका तापमान आवश्यकता से अधिक हो और वह ज्यादा गरम हो। ज्यादा ठंडी और ज़्यादा गरम, दोनों ही अस्वास्थ्य की स्थिति कही जायेंगी। किन्तु स्वास्थ्य की अहिंसा में तापमान यथावश्यक तो होना ही चाहिए।

थोड़े दिन पहले की बात है, योरुप के महाद्वीप का सबसे पश्चिम का देश इंग्लैण्ड है और सबसे पूर्व का रूस और लन्दन से सीधा मैं मास्को गया। करीब योरुप के सभी देश बीच में आ जाते हैं। पर कब कौन-सा देश आया और चला गया, उसकी रेखा का मुझे कुछ पता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं चला। लकीरें नहीं देखीं, जो देशों को आपस में बाँटती हैं। लगा ऐसा कि धरती है तो लगातार चली जा रही है और पानी है तो वह भी लगातार है, कटा-बँटा नहीं है। आसमान जिसमें से यान चल रहा था, वह तो एक है ही। लेकिन धरती पर उतरते ही मालूम हुआ कि स्थिति वह नहीं है। धरती भी देशों में बँटी है और सागर-आसमान भी राष्ट्रीय स्वत्वों में बँटे हुए हैं!

इस तरह प्रश्न पैदा हो जाता है। सूरज के लिए धरती एक ग्रह है। यों भी धरती एक है, आसमान और पानी एक हैं। लेकिन यह भी कम सच नहीं है कि देश उस धरती पर अनेक हैं अर्थात् एक और अनेक की समस्या बन खड़ी होती है।

पहले जो एक के, यानी सबकी एकता के, चक्कर में रहते थे वे कवि, दार्शनिक, आदर्शवादी आदि-आदि माने जाते थे। लेकिन अब विज्ञान बहुत आगे बढ़ गया है। जीवन की गति बढ़ गई है और आवागमन, आलाप संचार द्रुत और विस्तृत हो गया। स्वप्न था, वह अब यथार्थता के पास आता जा रहा है। अब तो राजनेता भी देखने-मानने को विवश हैं कि दुनिया एक है, मानव जाति भी एक है। उनका हित परस्पर उलटा नहीं, बल्कि अखण्ड है और मिला-जुला है। यह सब देखते हैं, फिर भी चलना उस पर आसान नहीं होता है।

देश अनेक हैं और अनेकता के कई कारण हैं। कारण ऐतिहासिक है, भौगोलिक है, सांस्कृतिक है, आदि-आदि। उस अनेकता को एकदम टाल नहीं दिया जा सकता, बल्कि वह विविधता और भिन्नता कीमती भी हो सकती है। अन्ततः प्रश्न यह बनता है कि अनेक देश एक होकर चलें तो कैसे चलें? कैसे उनकी देशनीतियों को चलाया जाय?

मैं मानता हूँ कि अगर एक बार हम स्वीकार कर लेते हैं कि मानव-जाति एक है और उसका हित एक है, तो उसमें से यह निर्माण अपने-आप प्राप्त हो जाता है कि देश-नीति और मानव-नीति परस्पर विमुख नहीं हो सकतीं। अगर विमुख है तो वह देश-नीति विकृत है, निरंकुश है। मानव-नीति से बिछुड़कर चलना चाहती है तो दरअसल वह देश-नीति सच्ची-देशनीति भी नहीं है।

इस दृष्टि से यह आवश्यक होता है कि हर देश में ऐसे तत्त्व हों, और वे सक्रिय रहें, जो देश की नीति में यदि अस्वास्थ्य आये, ज्वर या विकार आये, तो उसको पहचानें और मानव-नीति के स्पर्श से और स्वास्थ्य से विकार का समय-समय पर शमन करते रहें। ऐसा तत्त्व जिस देश में नहीं रह जाता है, या नहीं रहने दिया जाता है वह देश विश्व शान्ति के लिए संकट बन सकता है।

लेकिन आज तो एक पूरा दर्शन ही बन खड़ा हुआ है। उस दर्शन ने मानस पर प्रभुता भी हासिल की है। उसका कहना है कि समाज प्रत्यक्ष और मूर्त राज्य में होता है। राज्य ही समाज का प्रतिनिधि है, उसका अन्तःकरण है। यों तो वह दर्शन मानता है कि पूरी तरह स्वस्थ समाज को अलग से किसी राजतंत्र की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। लेकिन कब ऐसा होगा पता नहीं। इस बीच राज्य ही है कि जिससे समाज का संरक्षण होगा। राज्य का नेता माने वही लोक नेता भी होगा, ऐसा मानने का परिणाम अवश्यमेव यह होगा कि देश के राज्य की नीति मानव-नीति से स्वतन्त्र हो जायेगी। न केवल इतना ही, बल्कि मानव-नीति के ऊपर राज्य-नीति अधिपति होकर बैठेगी। वह स्वयं प्रतिष्ठ मूल्य बन जायेगी और सावरेन समझी जायेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत से लोग यह समझते हैं कि अगर राज्य सर्वहारा का हो जाता है, तो पूँजी और श्रम आदि के विषम सम्बन्धों से बनी समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं और अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर लोकतन्त्र का नाम चल रहा है, जिसमें चुनाव के जरिये कुछ लोग राजतन्त्र पर जाकर बैठते हैं और राज चलाते हैं। मान लिया जाता है कि यह लोकराज है, अर्थात् राजा का राज नहीं प्रजा का राज है। चाहे दर्शन मार्क्स का दिया हुआ हो या चाहे संदर्शन गांधी-बिनोवा जैसे ऋषियों से प्राप्त किया जाय। सबमें से यह प्रगट है कि जो राज पूरी तौर पर प्रजा का है, लोकराज है, वह तन्त्रग्रस्त नहीं, बल्कि तन्त्रमुक्त भी है। वह प्रशासन का नहीं, बल्कि अनुशासन का राज्य है। उसका मतलब व्यवस्थाहीन राज नहीं, बल्कि व्यवस्था अन्तर्व्यवस्था है, लदी हुई व्यवस्था नहीं है।

उससे पहले जो भी व्यवस्था हो उसमें दो पक्ष होते ही हैं। एक राजा का पक्ष, दूसरा प्रजा का पक्ष। नाम उसे लोकतांत्रिक प्रशासन का दें या जो चाहें भी दें। शासन का काम आवश्यक होता है, तो शासक के नीचे किसी शासित को रहना ही पड़ता है।

ऐसी स्थिति में मुझे लगता है कि उन लोगों की जमात एक अवश्य होनी चाहिए जो शुद्ध-नीति से तद्‌गत होकर चलना अपना पहला कर्तव्य माने। मानव-नीति, सत्य-नीति, धर्म-नीति ही उसके लिए पहली और अन्तिम वस्तु हो, वही उनके लिए प्रमुख और प्रधान हो। ऋषि लोग होने चाहिए, जिनको न राजत्व दरकार हो, न हक, न अधिकार, न पद। यानी ऐसे लोग जो दूसरों को सही राह चलाना उतना न चाहें, जितना पहले स्वयं सही रहना और चलना चाहें।

ऊपर की बात को समझने के लिए हम गांधीजी के जमाने को याद कर सकते हैं। उस जमाने में गांधीजी और कांग्रेस का जो सम्बन्ध रहा, उसका अध्ययन बहुत लाभकारी होगा। कांग्रेस के पास राष्ट्र-नीति के अलावा और कोई नीति का मान नहीं था। गांधीजी ने कहा कि राष्ट्र-नीति मानव-नीति के अलावा और कुछ हो नहीं सकती। यानी राष्ट्र के काम में उन्होंने सौ प्रतिशत इस मानव-नीति का प्रवेश किया और इसका एक अभूतपूर्व परिणाम देखने में आया। राष्ट्र-कारण और राज-कारण उस मानव-नीति से संयुक्त होकर निर्बल नहीं बने, बल्कि प्रबल बने। इतने प्रबल बने कि देश में स्वराज्य आया, यानी एक राजनीतिक क्रांति ही सफल हुई। यह बात विदेशों के लोगों की समझ में नहीं आई और आज कैसे हमें स्वयं उस पर विस्मय ही नहीं, संशय भी होने लगता है।

अभी यात्रा पर रूस जाना हुआ था, तो कुछ लोगों से मालूम हुआ कि हम राजनीति जानते नहीं है, अगर ये समझते हैं कि गांधीजी ने भारत को स्वराज्य दिलाया। वह इस बात को हमारा भ्रम मानते थे। तो मैंने कहा कि सत्य बात आप बताइये। और उन्होंने बताया कि यह रूसी क्रांति थी, जिसने भारत को स्वराज दिलाया!

उनमें एक बन्धु बहुत योग्य थे। उन्होंने सुनाया कि वे बेहद बेकार युवक थे। लेकिन जब क्रांति की लहर आयी तो मानो सुलगकर वे चिनगारी बन गये। उस क्रांति ने देश जो सोया पड़ा था उसको ऐसा जगाया कि वह हुंकार ले उठा। मैंने कहा कि आपके साथ यह घटना घटित हुई। मैं भी भुक्तभोगी हूँ और मेरे साथ भी ऐसी ही घटना घटित हुई। आपके साथ यह विचार रहा होगा कि दूसरा कोई हाथ उठायेगा कि उसको पहले ही आप खत्म कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देंगे, या क्रांति के बाद शासन हाथ में ले लेंगे। लेकिन गांधीजी के अनुयायियों को ऐसा कोई सहारा नहीं था। फिर भी उनके उदाहरण और प्रेरणा से लोग अपनी जान को हथेली पर लेकर आगे आये, जेल गये और किसी कुर्बानी से पीछे नहीं हटे। क्या आप स्वयं नहीं मानते कि फल कुर्बानी का आता है ? पर उन्हें विश्वास न आता था।

उस समय क्या देखने में आया था ? देखने में यह आया था कि गांधीजी के द्वारा मिले अन्तःकरण के जागरण में से लोगों को अपना चैन खुद हराम मालूम होने लगा था। वे अपनी सुख-सुविधा को खुशी से उजाड़ने आगे आ रहे थे। आज दृश्य उलट गया लगता है। स्वार्थ की आहुति के लिए नहीं, बल्कि उसकी पूर्ति के लिए ही अब लोग सामने आते हैं। यह सब इसलिए कि राजनीति मानव-नीति से पिछड़ गई है, बिछुड़ गई है। ऐसा होगा तो राजनीति स्वार्थनीति बनकर संकट के सिवा और किसकी सृष्टि कर सकेगी ?

आज इस प्रस्ताव से गांधीजी के युग का स्मरण हो आता है। लगता है कि वह युग ही न आ गया हो ! आज की राजव्यस्था में हम तरह-तरह से विवश हैं—जैसे यही कि चीनी नहीं मिल रही है, गुड़ का भी संकट है। दुष्ट हो कि साधु, कोई राज्यव्यवस्था से अछूता नहीं रहता। राज की व्यापक व्यवस्था है और वह सबको छूती है। यदि जहाँ दुःख है वहाँ सुख पहुँचाना हो, तो वह काम किसी धर्म-नीति अथवा मानव-नीति को सर्वथा राजनीति से निरपेक्ष रखकर कैसे हो पायेगा ? मैं मानता हूँ कि मानव-नीति अथवा मानस-नीति को अधिकार नहीं है कि वह राज्य की नीति से उदासीन बनी रहे। मानव-नीति ही अगर अपनी जगह पर सक्रिय बलवान् बनेगी तो राजनीति के दोषों को दबा सकेगी। दरअसल मुक्ति के जिस प्रयास से अन्याय या शोषण डरता नहीं है, वह मुक्ति का प्रयास ही नहीं है। वह अध्यात्म भी नहीं है। जिस अहिंसा से हिंसा डरे नहीं, वह अहिंसा कैसी ?

120415

मुझे आज एक घटना से परम संतोष प्राप्त हुआ है। विनोबा ने एक दिन पहले इसी मंच से पंडित नेहरू की प्रशंसा की थी। कहा था कि वे शांति के सच्चे सैनिक ही नहीं हैं, सेनानी भी हैं। यह बात गहरी सचाई और गहरे विश्वास के कही गई थी। दूसरे दिन इस प्रस्ताव के ही विषय को लेकर उन्होंने कहा कि 'डिफेन्स ऑफ इंडिया' के नाम से हो रहा है, वह 'आफेन्स अगेंस्ट इंडिया' है। दोनों बातें जवाहरलालजी पर आती हैं। और दोनों ही बल के साथ और विश्वास के साथ कही गई हैं। यहीं मैं अहिंसा का सत्य के साथ मेल देखता हूँ। यह अहिंसा है कि जवाहरलालजी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की जाती है। लेकिन यह सत्य है कि उसी दृढ़ता के साथ उस नीति की भर्त्सना की जाती है, जिसका अन्तिम दायित्व जवाहरलालजी पर आता है। सत्य और अहिंसा के इस संगम की घटना से सचमुच आगे के लिए आशा बँधती है, विश्वास प्राप्त होता है।

आपके सामने गुड़-खांडसारी का प्रश्न है। इस सम्बन्ध में जो बीता है, वह ग्रामोद्योग की नीति पर, उसकी बुनियाद पर ही प्रहार है। ग्रामोद्योग का कमीशन सरकार ने बनाया है। सरकार रुपया देती है, उस काम में पूरा सहयोग करती है। अभी श्रीमन्नारायणजी ने आपको बताया है कि ग्रामोद्योगों की उन्नति में ही नहीं, पंचायतों द्वारा जो ग्राम-स्वराज्य लाने की कल्पना है, उसमें भी सरकार पूरा योग देना चाहती है। फिर वे दोनों बातें एक साथ कैसे चलतीं, कैसे चल सकती हैं ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार ने कुछ लोगों को पकड़ा भी है और जेल भेजा है। उन्हें अपराधी और दुराचारी मानकर नहीं पकड़ा है, तो क्यों पकड़ा है? सरकार की एक अपनी नीति होती है और वह देश-नीति को दृष्टि में रखते हुए बनती है। तो उन्होंने उस सरकारी नीति को भंग किया है, देश-हित के खिलाफ काम किया है, इसलिए उस अपराध में उन्हें पकड़ा गया है। 'डिफेंस ऑफ इंडिया' का कानून तो देश की रक्षा के ही लिए तो है।

अब सवाल है यह कि सरकारी लिहाज से देशहित किसमें है? तो उस हिसाब से देशहित है उद्योग बढ़ाने में। उद्योग नहीं बढ़ेगा तो देश आगे नहीं बढ़ेगा, इत्यादि इत्यादि। इसमें से नीति 'प्रोटेक्शन फॉर बिग इंडस्ट्रीज' की निकली। उसके लिए जरूरी हो जाता है कि गन्ने की उपज का बड़ा हिस्सा कानूनन मिलों को पहुँचाया जाय और गुड़ बनाने-ले-जाने पर बन्दिश आने दी जाय।

इस तरह आप देखिये कि दो नीतियाँ बन जाती हैं। सर्वोदय प्रश्न को जिस रूप में देखता हैं, उससे नीति 'प्रोटेक्शन अगेन्स्ट बिग इंडस्ट्रीज' की बनती है। यह 'फॉर' और 'अगेन्स्ट' की दो विमुख नीतियाँ ही सामने आ जाती हैं। केवल 'गुड़-खांडसारी' के मामले में नहीं, समूची अर्थ-व्यवस्था और व्यवसाय-उद्योग आदि के बारे में दो नीतियाँ हो जाती हैं। आपकी इस जमात की एक नीति है, जिससे आप लोक की तरफ चलना चाहते हैं। दूसरे नीति वह है कि जिसमें तन्त्र की तरफ चला जाता है। इस तरह लोक और तन्त्र के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहता, पूरा तलाक हो जाता है। इस विमुखता और विपरीतता को कोई भूलता नहीं, तो मैं समझता हूँ कि वह जबर्दस्ती ही उसे भूलना चाहता है, अन्यथा बात बहुत उजागर है।

मैं मानता हूँ कि संघर्ष कभी जीवन का धर्म नहीं होता। लेकिन सत्य और असत्य के बीच समन्वय भी कभी नहीं हो सकता। अर्थात् समन्वय से आगे हम कहीं महा-समन्वय की तरफ़ न बढ़ने की सोचें। 'ब्राह्मण' के आगे 'महा' जोड़कर जब महाब्राह्मण बना दिया जाता है तो आप जानते हैं कि उसका क्या अर्थ बन जाता है! इसी तरह समझ लीजिये कि महा-समन्वय से क्या चीज़ हो जायेगी! प्राप्त धर्म के रूप में संघर्ष आये ही तो उसे महा-समन्वय से टालना मानो पसीने को कीचड़ से पौंछने जैसा हो जायेगा। तब समझ लेना चाहिए कि उसके पीछे की अहिंसा अवसरवादी अहिंसा रह गई है। सत्यवादी अहिंसा के लिए अवसरवादी बनने का कोई अवसर नहीं रह जाता है।

कम्यूनिज्म सिद्धांत की ओर—अपने-आप में क्या बुरी चीज़ है? श्रमिकों के हाथ में प्रभुता हो तो क्या अनिष्ट है? अनिष्ट उसमें है तो यह कि हिंसा को प्रतिष्ठा दे दी जाती है। परिणामतः साम्यवाद के नाम पर एक राज्यवाद उठ खड़ा होता है। परन्तु लोकतन्त्र के नाम पर भी वैसा ही राज्यवाद उठ खड़ा होने लग जाय तो क्या हो? मुझे लगता है कि राज्यवाद में से ही जो त्राण देखा जा रहा है, सो एक बड़ी दुर्घटना है। जैसे राजनीति ही समूची नीति और अंतिम निलय हो, और उसके लिए कोई ऊपर अंकुश ही न हो! बड़े दुर्भाग्य की बात होगी, अगर राज्यवाद को पनपने दिया जायेगा। इससे ऐसा लगता है कि शांति का प्रण लेकर चलने वाले लोगों के हाथ में शांति नहीं है, बल्कि वह उन हाथों में है जो एटम बम बना रहे हैं। ऐसा विभ्रम पैदा हो गया है कि रूस और अमेरिका के नेता और राजनेता चाहेंगे तो युद्ध होगा, और वे चाहेंगे तो शान्ति होगी। लोग आशा करने लगते हैं कि यह कांफ्रेंस हो जाय तो काम ठीक हो जायेगा, वह प्रस्ताव हो जाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो बात सँभल जायेगी। लेकिन मैं मानता हूँ कि राज-प्रतिनिधियों की कांफ्रेंस स्वतन्त्र रूप से कुछ कर नहीं सकती। लोकमानस की तैयारी और तज्जन्य विवशता में से ही वे कुछ कर पाती हैं। कांफ्रेंस तो हुई भी है, हो रही है और होगी भी। लेकिन हम सब लोग जिम्मेदारी न उठायें तो बेचारी वे कांफ्रेंसें हमारे लिए कुछ विशेष नहीं कर सकतीं।

दैनंदिन की जिम्मेदारी से अलग आजकल एक नया रोमांसवाद, शहीदवाद भी चला है। कहते हैं, चलो भाई, नेफा में मर जायेंगे! मैं मानता हूँ कि बड़ी बात है यह शहीद होना। लेकिन जिन्दगी-भर शहीद रहना और भी बड़ी बात हो सकती है। अगर लाखों-करोड़ों शहादत की तमन्ना में जाग जायें तो सच जानिये कि लद्दाख और नेफा के मोर्चे खड़े ही न हो पायेंगे। जो शांति नेफा और लद्दाख में मरने जाकर करने वाले हैं, वह यहाँ से ही आप आसानी से कर सकेंगे। रोग तो यह है कि हम जान-माल के मोह में रहते हैं, रक्षा जैसे उनकी करना चाहते हैं। वह सब विसर्जन करने की तैयारी हमारे नित्यप्रति के जीवन में जिस रोज़ दीखेंगी, उस रोज राजनीति भी शस्त्रास्त्र बनाने और युद्ध में लोगों को झोंकने की मज़बूरी से मुक्त हो जायेगी।

इस सन्दर्भ में गांधीजी की याद आती है। स्वराज के युद्ध की कमान उनके हाथ में थी। गांधीजी इजाजत देते थे, तब कोई सत्याग्रही बनता था। कांग्रेस का अध्यक्ष एक तरफ़ और गांधीजी एक तरफ़। उस समय गांधीजी से कहा गया कि तुम स्वराज लाना चाहते हो, उसके लिए कार्यक्रम देते हो, तो पहले उस स्वराज्य की शक्ल तो बताओ। लोग कहते-कहते हार गये, पर गांधीजी ने उसकी शक्ल कोई नहीं बताई और स्वराज्य मिल भी गया। लोगों ने बहुत कहा तो तब एक समिति बन गई थी और उसने एक विधान भी तैयार किया था। वह विधान न तब पूछा गया, न अब किसी को उसकी याद होगी। मुझे थोड़ा अजीब-सा लगता है कि वह जमात, जो नीति और कार्य की दृष्टि से गांधीजी का उत्तराधिकार पा गई है, जिसमें कि सारी रचनात्मक संस्थाएँ समूह के रूप में एकत्रित हो गई हैं, वहाँ भी 'सोशलिज्म' जैसे शब्दों का व्यूह चल जाता है! कांग्रेस में वैसे शब्दों को लेकर उत्साह और व्यस्तता हो तो एक बात है। लेकिन तथ्य से विहीन जो शब्द केवल तन्त्र के हैं, उन शब्दों को सिर चढ़ने देना कोई बुद्धिमानी तो नहीं है।

सरकार की तरफ से जो किया जा रहा है, जनता के हित में किया जा रहा है, उसके सम्मान में किया जा रहा है; जो हो रहा है, लोकहित में हो रहा है। उस सबकी तर्क-संगति प्लानिंग की रिपोर्ट में पाई जा सकती हैं। आपको वैसा जवाब अन्यत्र नहीं मिलेगा। खेत में लोग वह पैदा नहीं करते, जो खाने के काम आ सकता है। चीज़ वह पैदा की जाती है, जिससे विदेशी मुद्रा मिल सकती है। उगायेंगे वह जो पैसा लाये, और पैसे से लायेंगे वह जो फिर खाया जाये। इस तरह एक लम्बा-चौड़ा चक्कर चल रहा है। दौलत भी बढ़ रही है, साथ भूख और बेकारी भी बढ़ रही है। मेरा अपना ख्याल है कि यह सब इसलिए कि शब्दों की उलझन में हमारा दिमाग आसानी से फँस जाता है, ऐसा कि तंत्र की बातों में खो जाने को हम तैयार हो जाते हैं। मैं मानता हूँ कि 'डेमोक्रेटिक' या 'सोशलिस्टिक' जैसे शब्द सिर्फ़ तन्त्रात्मक हैं, सर्वोदय तथ्यात्मक है। और मुझे लगता है कि जितना हम तंत्र की बातों से मुक्ति पायेंगे, उतना ही तथ्य की बातों की ओर आगे बढ़ सकेंगे। राजनीतिक शब्दावली लोगों के सिर पर चढ़ जाती है और भूख-प्यास भूलकर दिमाग किताबों के आँकड़ों में फँस जाता है। उससे हमें बचना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौखटे की बात पीछे भी हो सकती है, या नहीं भी हो सकती। मुख्य तो वह है, जिसके लिये चौखटा है। अर्थात् वे मानव-सम्बन्ध, जिससे समाज का कलेवर बनता है, उस पर फिर तन्त्र क्या खड़ा होता है, चौखटा क्या उस पर जमाया जाता है, यह बात उतने महत्त्व की नहीं है।

मुझे आशा करनी चाहिए कि नीचे से उस यथार्थ और नैतिक शक्ति को पैदा करने की ओर ध्यान जायेगा, जिससे राजनीति की निरंकुशता और उसका प्रमाद कटे और राज्य-सत्ता से ऊपर एक नीति-सत्ता का निर्माण हो।

दिसम्बर, '63.

सर्वोदय सम्मेलन, रायपुर के अवसर पर दिया गया भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माण और सृष्टि

'योजना' शब्द को लेकर मुझे दो चरित्र याद आते हैं। उन दोनों की याद से प्रश्न उठता है कि योजना और सृजन का आपस में क्या सम्बन्ध है?

पड़ोस में एक बन्धु थे। उनका हाल ही देहान्त हुआ है। देहान्त के समय मैं पास उपस्थित था। मृत्यु उनकी सुखपूर्वक नहीं हुई। वह अपने बारे में अविश्वस्त थे, अपने को विफल और अकृतार्थ मानते थे। सोचते थे कि नया जीवन शुरू करने को मिले, तो वह नये तरीके से जीये। जिस तरह उनका जीवन गया और बीता उसमें मुख्य को उन्होंने गौण और गौण को मुख्य मान लिया था। वह भूल अन्त समय में उनको बहुत ही चुभ रही थी। भौतिक सुख-सुविधा उनके आस-पास भरपूर थी। परिवार भी भरा-पूरा ही था। सामाजिक मान-प्रतिष्ठा भी थी। लेकिन यह सब उन्हें निस्सार जान पड़ता था और तनिक आश्वासन न दे पाता था। बल्कि उल्टे उस कारण उनको लगता था कि उनके सगे-सम्बन्धी अन्त समय में उनके स्वयं के बारे में चिन्तित नहीं हैं, बल्कि उनकी निगाह उनके पीछे यहीं छूट रहने वाली धन-सम्पदा पर जमी है। उनको साफ दीखता था कि जो उनकी सेवा की जा रही है, सब औपचारिक है। मन किसी का उसमें नहीं है, सबका उनकी जायदाद में है।

यह बन्धु साधारण स्थिति से अपने बाहुबल और बुद्धि-बल से सत्ता-सम्पत्तिशाली बने थे। योजनानुसार उनका जीवन चला। परिणाम यह था कि सारा मोहल्ला उन्हीं का अपना था। पन्द्रह से बीस हजार तक की मासिक आमदनी उनकी होगी। प्रत्येक निर्माण उन्होंने योजनापूर्वक किया था और जहाँ पूँजी लगाई वहीं उन्हें वह दुगना लाभ दे गई थी।

इन बन्धु के जीवन में योजना की कमी नहीं थी। फिर भी अवश्य कहीं-न-कहीं कुछ त्रुटि रह गई थी जो अन्त समय में उन्हें खलती थी और मृत्यु में उन्हें सान्त्वना नहीं पहुँचा पाती थी।

क्या यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन में निर्माण तो बहुत किया था, पर उसका रूप सृजन का नहीं था? सृजन में मानो अपने को बाहर दूसरों के साथ बाँटा जाता है। निर्माण में अपने को बाहर संरक्षित और प्रतिष्ठित किया जाता है। निर्माण बुद्धिपूर्वक बनाई गई योजना के अनुसार होता है; सृष्टि में बुद्धि की तो आवश्यकता होती ही है किन्तु उसके लिए अन्तःस्फूर्ति भी अनिवार्य होती है। स्फूर्ति के द्वारा वह निर्माण व्यक्ति के हृन्मर्म से जुड़ जाता है, इसलिए वह स्वयं व्यक्ति से अलग नहीं होता और उस पर दबाव नहीं लाता। सद्भाव और सहृदयता से विहीन केवल बुद्धि के व्यापार से जो रचना और सफलता खड़ी की जाती है, वह व्यक्ति से स्वतन्त्र हो जाती है, बल्कि व्यक्ति को पीछे दबाने तक लग जाती है। इसीलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुधा देखा जाता है कि सम्पत्ति को लेकर बाप-बेटों और भाई-भाइयों में प्रीति की जगह वैर होने लगता है। यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं।

दूसरे थे एक परम बुद्धिशाली विद्वान् मित्र। शुरू से पढ़ने में तेज रहे। एम.ए. तक सब परीक्षाओं में प्रथम आये थे और विद्या में उनको इतनी रुचि थी कि किसी आई.सी.एस. वगैरह की परीक्षा तक में नहीं बैठे। उन्हें विद्वान् होना था और ऊँचे प्रोफेसर का यश पाना था। ऊँचा साहित्य पढ़ते थे और डायरी लिखते थे। एम.ए. करते ही उन्हें यूनिवर्सिटी में अध्यापन का काम मिल गया था। किन्तु उन्हें कैम्ब्रिज जाना था और शिखर तक पहुँचना था। उनकी योजना सुनिश्चित थी। उनका विषय अंग्रेज़ी था और 37-38 नहीं तो चालीस वर्ष की अवस्था तक अटल था कि भारतवर्ष में अंग्रेजी भाषा के चमत्कार में वह सर्वोपरि दिखाई देंगे। मेरा उनका परिचय यहाँ कॉलेज में अंग्रेज़ी के वह अध्यक्ष बने, तब हुआ था। जीवन के सम्बन्ध में उनके पास सब नक्शा खिंचा-खिंचाया था, योजनाएँ सुसम्पूर्ण थीं। मन में निर्णय था कि बाधा कोई बीच में आयेगी तो गिरकर रहेगी, उनकी सफलता को कोई रोक नहीं सकेगा। मेरा जब परिचय हुआ तो देखा कि उनकी वाणी में अमित वेग है, जीवन में भी उतनी ही त्वरा है। परिणाम यह हुआ कि शायद छः महीने तो वे कॉलेज में टिके। उससे अधिक निभना सम्भव नहीं हुआ। मुझे पता लगता रहा कि वह इस कॉलेज से उस कॉलेज गये हैं, और फिर कहीं तीसरी जगह वह प्रिंसिपल बन गये हैं। यह जल्दी-जल्दी उनके स्थान का बदलना उनके वेग और अपने सम्बन्ध की अटल निश्चयता के कारण होता था। वह जो जानते थे निश्चित जानते थे और दूसरे से अधिक जानते थे। प्रोफेसर थे तो उनकी प्रिंसिपल से तन आती थीं, प्रिंसिपल थे तो कमेटी से अनबन हो जाती थी। घर का हाल यह था कि पत्नी से बनती नहीं थी। कभी-कभी आती थीं, अधिकांश वह मायके ही रहा करती थीं। लेकिन उस कारण उनके प्रतिभाशाली पति का घर सूना नहीं रहता था। प्रतिभा के चमत्कार से घर चमचमाता ही दिखाई देता था।

अब वह मित्र नहीं हैं। चालीस वर्ष की अवस्था उनको मिल पाई कि नहीं मैं कह नहीं सकता। इतना ज़रूर सुना गया कि अन्त समय एक बरस से वह बेकार थे। कोई विश्वविद्यालय उन्हें लेने को तैयार न था। अपने सम्बन्ध में जितने विश्वस्त हुआ करते थे, होते-होते इधर आकर उतने ही अविश्वासी होने लग गये थे। हर किसी से उन्हें चिढ़ होती थी। बीमारी में परिचारक और सेवक पर ही ठनने लग जाते थे। आखिर जो मृत्यु उन्होंने पाई, भगवान् किसी को न दे!

उदाहरण और भी मन में आते हैं। पर यह दो बहुत उजागर मालूम होते हैं। उजागर यह दिखाने के लिए कि बुद्धि द्वारा योजनाओं का जो निर्माण होता है, जीवन की कृतार्थता के लिए उससे कुछ अतिरिक्त की आवश्यकता होती है।

आज देश को स्वराज्य मिले पन्द्रह से ऊपर वर्ष हो गये हैं। इसमें दो पंचवर्षीय योजनाएँ आई हैं और तीसरी अब चल रही है। योजनाओं का निर्माण भरपूर चिन्तन के साथ हुआ है और पूरी तत्परता से उनका पालन और फलन किया जा रहा है। कहीं थोड़ी-बहुत त्रुटियाँ रही हों तो उनका होना तो अनिवार्य ही है। बड़े-बड़े कामों में इतनी चूक की गुंजाइश माननी ही चाहिए। आखिर आदमी आदमी है और सौ फीसदी मशीन नहीं है। मशीन पर जिस तरह निर्भर किया जा सकता है, वैसे आदमी पर नहीं किया जा सकता। वह विश्वसनीय लोहे-फौलाद का बना नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता, हाड़-मांस का बना होता है, इसलिए जहाँ आदमी रहेगा, वहाँ थोड़ी-बहुत भूल-चुक होनी तो लाज़मी है। उसके अलावा योजनाओं का काम शान से पूरा हो रहा है।

पर देखते हैं कि दिक्कत भी हैं। दिक्कत न होती तो 'कामराज योजना' क्यों आती? अच्छे-खासे अनुभवी और सफल और परायण और कर्मठ और तपस्वी नेता मंत्री की कुर्सी छोड़कर बाहर क्यों आते? और तो और, पण्डित नेहरू ने स्वयं चाहा कि प्रधान मंत्री का काम छोड़कर उससे ज़रूरी दूसरे काम में लगें। इन मंत्रियों ने हुकूमत छोड़ी और उन्हें वह जिम्मेदारी का पद छोड़ने दिया गया तो आखिर इसीलिए न कि कोई बड़ी दिक्कत सामने आ गई होगी। मंत्री से बड़ा कोई काम करने को होगा, जिसकी जिम्मेदारी उनके मज़बूत कन्धों पर डालना ज़रूरी हो गया होगा।

वह बड़ा काम क्या था?

मेरे ख्याल में स्वराज्य की गाड़ी में कहीं अन्तःप्रेरणा की कमी अनुभव की जाने लगी थी। प्रेरणा से आदमी चलता है और यह प्रेरणा ऐसी चीज़ है कि हिसाब के अंकों में नहीं बँधती। योजना से वह बाहर छूट जाती है। माल और सामान को हम जुटा सकते हैं और धन-राशि के अंक उसके प्रतीक हैं। इतने करोड़ रुपया बैंक में है तो हम मान लेते हैं कि इतनी सामग्री हमारे पास है। वस्तुओं के उपयोग पर आदमी जीता है। और इस तरह तनख्वाह के हिसाब से हम आदमियों को भी धन के अंकों में बिठा लेते हैं। धन का हिसाब हो गया तो मानों जन का भी हिसाब हो गया। क्योंकि आखिर जन का धन के साथ समीकरण किया जा सकता है। इस तरह बजट बना और बजट की राशि संग्रहीत हो गई तो लगता है कि अब योजना में कहीं कुछ कमी नहीं रह गई है।

लेकिन जो चीज़ हिसाब में आई नहीं है, और आ नहीं सकती, वह कम प्रमुख नहीं है। उसकी ओर दुर्लक्ष किसी तरह नहीं किया जा सकता है। और वह है जनस्फूर्ति। लोक-मानस में उस प्रेरणा का होना आवश्यक है कि जो उस समस्त धन-राशि के साथ न्याय करे। यह प्रेरणा किसी-न-किसी निर्वैयक्तिक आदर्श के साथ जुड़ी होती है। अगर सबको अपने-अपने स्वार्थ का ध्यान हो तो सार्वजनिक योजना में लगने वाला एक करोड़ रुपया मानो बीच में छीजते-छीजते आधा ही रह जायेगा। हर मोड़ पर तो आखिर आदमी ही आता है। अगर उसके मन में स्वार्थ से ऊँची प्रेरणा न हो तो वह अपनी जगह पर क्यों उस बहती हुई राशि में से कुछ अपने लिये खींच और कुतर नहीं लेगा। यही चीज़ है जिसको भ्रष्टाचार कहा जाता है और स्वराज्य के बाद जिसके उत्पात ने देश की नाव को डगमग कर रक्खा है।

निर्माण स्वार्थ बुद्धि से भी होता है। सृष्टि उससे नहीं हो सकती। इसलिए हम देखते हैं कि सृष्टि की प्रक्रिया से एक छोटा बीज एकान्त सुनसान में पड़कर अपने-आप होते-होते विशाल वृक्ष बन जाता है। उस विशालता की योजना कोई पहले से नहीं थी। बीज नन्हा-सा था। उसे वृक्ष बनने का पता तक शायद न हो। यह तो अपनी जगह धरती में मुँह गाड़कर गलता चला गया। उसके इस अपने में गलने और धरती से एकरस होने की प्रक्रिया में से फिर अंकुर फूटा। अंकुर के मूल ने आसपास धरती में से रस खींचा, उसकी खुलती हुई पत्तियों ने बाहर धूप-हवा में से खुराक जुटाई और वृक्ष उठता-बढ़ता ही चला गया। बीज में जो था और उसमें से पनपते हुए अंकुर में जिस मात्रा में शक्ति हो सकी, बाहर से उसी अनुपात में साधन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके लिए जुटते चले गये और वृहदाकार वृक्ष की सृष्टि हो आई। ज्यामिति में से मिलने वाला सही-सही रेखा-बद्ध स्वरूप चाहे उसे न मिला, लेकिन वृक्ष का सौन्दर्य अपना ही रहा और सबसे बढ़कर जो घटना घटी वह यह कि वृक्ष—वृक्ष ही बनकर नहीं रह गया, बल्कि उसने फल भी दिये और उन फलों से अन्यान्य अनेक वृक्षों के फलित होने की सम्भावना हो आई।

गांधीजी ने देश को हिसाब में न आ सकने वाली इसी अमूल्य वस्तु का दान दिया था। हम खूब काम करते हैं। इसलिए कि हमारी खूब कमाई हो। यों अक्सर काम हमसे तृष्णा की प्रेरणा से हुआ करता है। धन की प्रभूत राशि से चलने वाली योजनाएँ मानों इस तरह तृष्णा प्रस्तुत करके आदमी से काम कराती हैं। उसमें व्यक्ति अपना विसर्जन नहीं देता है, बल्कि वहाँ से अर्जन लेता है। कहना चाहिए कि वहाँ से अपने को ही वह पुष्ट करना चाहता है, अपने आत्मदान से उस सार्वजनिक उपलब्धि को पुष्ट करना इतना नहीं चाहता। इस तरह चक्कर उलटा चलने लग जाता है। गांधीजी ने मनुष्य के मन में कुछ वह डाला था जिससे अपने उत्सर्ग की स्फूर्ति उसमें जाग आई थी। वह मानने से अधिक मानो देखने लग गया था कि विसर्जन में ही उसका असली लाभ है। जिसको अर्जन-उपार्जन कहा जाता है, वह तो थोथा व्यापार है। आज जो 'कामराज योजना' में दीखता है कि लोगों ने गद्दी छोड़ी और जनता में काम करने के लिए हाकिम से सेवक बनना स्वीकार किया, शायद उसमें कहीं यह भी हो कि कांग्रेस मज़बूत होगी और फिर चुनाव में आयेगी तो उसको सरकार बनाने का उत्तरदायित्व फिर ओढ़ना पड़ेगा। लेकिन गांधीजी ने जो देश में नई स्फूर्ति का संचार किया था उसमें मानों सत्ता को अपनाने का विचार तक कहीं नहीं रह जाता था। मानो स्वयं में ही उसका साफल्य था। परिणाम यह हुआ कि देश में अद्‌भुत प्राणोत्कर्ष दीख आया। सत्तापति और पूंजीपति पिछड़ा रह गया और जो लोग अकिंचन बनकर जेल-फाँसी पाने के लिए आगे आए वे देश की कल्पना और आस्था के केन्द्र बन रहे। आदमी अपने स्वार्थ को लेकर स्वयं में संकुचित होने लगा और उसको अनुभव हो गया कि परमार्थ में अपने को गला देना ही सच्चे स्वार्थ को साध लेना है। स्वार्थ और परमार्थ में मानो भेद ही तब नहीं रह गया था। समझे जाने वाले स्वार्थ को छोड़ रहने में ही उसे आत्मसन्तोष और आत्म-लाभ मिलता मालूम होने लगा था।

यह आत्मदान और आत्म-विसर्जन की प्रेरणा जब आदमी में या कौम में जागती है तो उसका निर्माण ही सृजन बन जाता है। तब व्यक्ति अन्दर से भरपूर होता आता है और कौमें इस तरह उठती हैं कि उनमें कोई घुन नहीं लग पाता। अन्दर उनके कोई दुराव या आपसी द्वेष और फूट का भाव नहीं होता। बल्कि सबका दिल एक होता है और सब एक-दूसरे के लिए अपने को देते रहने की कोशिश में रहते हैं जिसको भावात्मक एकता कहा जाता है। वह इस अर्जन की जगह विसर्जन के मूल्य ही प्रतिष्ठा देने में से आप ही फलित होती आती है।

आज भाषावाद, राज्यवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद है। धर्मों में धर्मवाद है। समाज में दलवाद और गुटवाद हैं। विचार में समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद है। वाद ही वाद हैं। असल में इन सबके नीचे अहंवाद है, 'मेरे लिए सब दूसरे हों, यह वाद है । 'मैं सब दूसरों के लिए हूँ' जीवन की यह विधि और यह मन्त्र मानो लुप्त ही हो गया है। गांधी को लेकर गांधीवाद एक अपना अलग अहंवाद बन जाता है तो मानो वह गांधी के शव को अपना बनाने के समान हो जायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे सब निर्माण, हमारी सब रचनाएँ, तब तक देश के स्वराज्य का विस्तार न कर सकेंगी। जन-जन को और ग्राम-ग्राम को आज़ादी का आस्वाद नहीं पहुँचा सकेंगी, जब तक कि उनमें अहं-विसर्जन और आत्मसर्जन का तत्त्व भी मिला न होगा।

योजना में और जनता में एकाकारता चाहिए। जन-जन में उसके लिए आकुलता और तत्परता चाहिए। वह जैसे उनके मन में से निकलनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो परिस्थिति में और मार्ग में बाधा रूप उसके कई कारण होंगे। आवश्यकता है कि उन कारणों में उतरा जाये और जनता और योजना के बीच यदि और जो व्यवधान हैं, उनको पाट कर समाप्त किया जाये।

अक्टूबर, '63.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन-कल्याण

जन-कल्याण काम ऐसा नहीं है कि उसको अंकों के नाप-तौल से पूरा परखा जा सके। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वह नाप सही होता है। पर इंसान सिर्फ़ चीज नहीं है, उसके अंदर मन है। इसलिए काम करने वाले के मन का उसके काम के नतीजों पर बहुत असर पड़ता है। आदमी को चीज़ों की ज़रूरत होती है और कभी तो यह ज़रूरत इतनी तीखी हो जाती है कि वह किसी भी मोल उस अभाव को दूर करने को तैयार हो जाता है। भूखा रख के शेर तक को पालतू बनाया जा सकता है। लेकिन असली जन-कल्याण ऊपरी ज़रूरतों को पूरा करने मात्र से ही पूरा नहीं हो जाता, बल्कि उतने से तो नुकसान तक हो सकता है। आदमी में स्वाधीन वृत्ति होनी चाहिए, तब उसकी सूझ-बूझ जागेगी और उसका श्रम उत्पादन ही नहीं करेगा, बल्कि सृजन करेगा। तब उसके काम में एक ऐसा अतिरिक्त गुण जा मिलेगा, जो वस्तु-उत्पादन के साथ चैतन्य को भी जगाने वाला होगा। तब काम स्वयं प्रेरणा से होगा और बढ़ता ही चला जायेगा। न उसके लिए किसी ऊपर की देख-रेख की ज़रूरत होगी न अतिरिक्त व्यवस्थापक और प्रशासक की।

समाज में कुछ लोग संपन्न हैं, कुछ विपन्न हैं। अब श्रेणी संपन्न विपन्न के प्रति दया भी कर सकती है। लेकिन ऐसे दया-भाव से किया गया उपकार अंत में अपकार बना देखा गया है। धन की सहायता दी जाती है और उससे तत्काल सहारा भी बहुत होता है। लेकिन वही सहायता दाता को और ऊँचा चढ़ा देती है और दीन में और दैन्य ला देती है। ऐसे विषमता बढ़ती है और समाज में जिस आपसी एकता की ज़रूरत है वह और दुर्लभ हो जाती है।

सच यह है कि जिस समाज में संपन्न और विपन्न दो श्रेणियाँ हैं वह अपने-आप में तो एक इकाई ही है। अपने को संपन्न जानकर कोई वर्ग आत्मतुष्ट हो रहे और विपन्न को अपने से अलग और गैर जानकर कृपा के रूप में उस पर ऊपर से दया डालने का गर्व करे तो यह भूल ही है। इसमें गहरी नासमझी समाई है, इसमें गहरा खतरा भी है। विस्फोट इसी गह्वर में से निकलते हैं। यों संपन्न-विपन्न की श्रेणियाँ दो अलग दिखाई दें, पर दोनों एक ज़मीन पर हैं और दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक की संपन्नता दूसरे की विपन्नता पर निर्भर है। या यों कहें कि उसकी संपन्नता ही दूसरे को विपन्न रखने का कारण है।

सच्चा समाज-दर्शन यही है। उसे मोड़ने का अब अवसर नहीं है। मानव-विवेक अब इतना जाग गया है कि वह बड़े-छोटे, अमीर-गरीब के भेद को और उसके कारण पैदा हुए राग-द्वेष और द्वंद्व-क्लेश को किसी पूर्व-जन्म के कर्म-भोग के नाम पर किनारा देने को तैयार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकता। वह पहचान गया है कि यह हमारी करनी है और अपनी ही करनी से हम उसे सुधार भी सकते हैं। संपन्नता पुण्य के कारण नहीं पाप के कारण भी हो सकती है और जो है वह किसी पहले संचित के कारण अनिवार्य रूप से नहीं है, बल्कि हमारे सबके सहयोग और अनुमोदन से है और हम उसे सुधार सकते हैं। यानी यदि वहाँ दोष है तो दोषी हम स्वयं हैं और दोष के निवारण के लिए हमें फौरन तैयार हो जाना चाहिए। भाग्य पर या भगवान् पर उसे टालना नहीं हो सकता।

इस ढंग से सोचने पर नक्शा बदल जाता है, यानी जो दीन और दुखी दीख पड़ते हैं, वे ऊपर आ जाते हैं और हम उनके सेवकमात्र रह जाते हैं। क्योंकि यदि कोई दीन है और दुखी है तो शायद इसीलिए है कि हमने उसका सुख और उसकी दौलत छीन ली है। छीन ही नहीं ली है, बल्कि समाज के नीति-नियम भी ऐसे बना लिये हैं कि वह पाप हमें पुण्य लगने लगा है और उस पर गर्व तक कर सकते हैं।

यह दर्शन होते ही हमें लगेगा कि हम ऋणी हैं और विपन्न के प्रति हमें प्रायश्चित्त करना और इस तरह उससे उऋण होना है।

मुझे प्रतीत होता है कि आज के युग में मानव अपने अधिकारों के प्रति इतना सजग बना दिया गया है कि इससे कम गहरी वृत्ति रखने से सही परिणाम शायद नहीं आ सकेगा। दूसरे के सुधार और उद्धार की मनोवृत्ति आज काम नहीं दे पायेगी। ऊपर से आकर नीचे वाले को यह महसूस होने देकर कि तुम नीचे हो और हम तुम्हें उठाने आये हैं, सही प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न की जा सकती। समाज-दर्शन के प्रतिष्ठापकों ने अपने शोध और अन्वेषणों से सब तक यह पहुँचा दिया है कि बड़ापन और ऊँचापन स्वयंसिद्ध वस्तु नहीं है, वह नीचे वालों की सहमति पर ही संभव है, अन्यथा वह अन्याय और पाखण्ड है।

समाज-कल्याण के काम के लिए इस नये समाज-दर्शन की प्रतीति और तदनुकूल मनोदशा बहुत ज़रूरी है। शहरी मनोवृत्ति में लगभग ऐसे मनोभाव अनुपस्थित हैं। आज के हमारे सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र के कार्यकर्ता पढ़े-लिखे शहरी लोग हैं। वे नैतिक और धार्मिक मनोभावों को अव्यावहारिक भावुकता कहकर टाल सकते हैं, पर परिणामों की दृष्टि से जाँच की जायेगी तो पता चलेगा कि वही वृत्ति आज के लिए वैज्ञानिक है। वस्तु-विज्ञान और समाज-विज्ञान इतना आगे बढ़ गया है कि उद्धार और सुधार की भाषा ओछी रह जाती है और वह वैज्ञानिक यथार्थ को व्यक्त नही कर पाता।

गांधीजी ने हमें सेवा का शब्द दिया। उस शब्द का संबंध हृदय से है। किया गया काम सेवा है, यदि मन में हमारे वह विनम्रता है। वैसा यदि नहीं है तो सेवा के नाम पर किया गया काम संभव है सामाजिक स्तरों की दूरी को तोड़ता न हो, बल्कि और मज़बूत करता हो और इस तरह मानसिक दुर्बलता और परवशता का भाव भी उससे कटता न हो।

यानी कार्यकर्ता जिनके लिए काम करे उनके समकक्ष हो जाय। समकक्ष तब जब वह उनसे निम्नकक्ष न हो सके। सच यह कि जिनकी सेवा करनी है उनके नीचे ही सेवक का स्थान हो सकता है।

गांधीजी ने कल्पना की थी एक ऐसे ही समाज और सरकार की। वहाँ सेवक ही शासक होने वाला था। वह शासक नैतिक होता और इसलिए उसमें शिथिलता आने का प्रश्न ही न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता, न उसे दंडशक्ति से घेरने की आवश्कता होती। यह सच्ची क्रांति का मंत्र था और है, और भारत ही वह देश है। यहीं के अधिवासियों के रक्त में यह आस्था है कि उस क्रांतिकारी मंत्र को वह कर्म और व्यवहार में उतार सके। ऐसा हुआ तो हम देखेंगे कि विश्व के सामने हम नई और अभूतपूर्व समाज-व्यवस्था का नमूना रखने में समर्थ हो सके हैं।

अगस्त, '55.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा और प्रजा

राजा और प्रजा के बीच क्या संबंध हो, यह आज की राजनीति का गरम सवाल है। क्या दोनों झगड़ते ही रहें? या कि उन दोनों में मेल भी हो सकता है? क्या यह सच है कि प्रजा संघर्ष द्वारा ही राजा से कुछ पा सकती है, दूसरी तरह से कुछ नहीं पा सकती? या कि कुछ दूसरा भी उपाय है?

इतिहास लगभग एक बात कहता है। वह यह कि राजा-प्रजा का हित एक नहीं है। वे दो हैं और परस्पर विरोधी हैं। प्रजा के अज्ञान में राजा की शक्ति है, प्रजा की एकता में राजा को भय है। राजत्व की संस्था शुद्ध शोषण है। राजा-प्रजा इन शब्दों में ही एक द्वैत और विरोध है। कोई राजा क्यों और दूसरा कोई प्रजाजन क्यों?

पर मुझे नहीं मालूम होता कि राजा को मिटाने की ज़रूरत है। प्रजा को ही मिटाना हो तो बात दूसरी है। यों तो शब्द है प्रजातंत्र और प्रजा सत्तात्मक राजसत्ता। उनसे आशय है समाज की वह हालत, जहाँ खुद प्रजा ही राजा है। इन प्रजातंत्रों के भी फिर तरह-तरह के विधान हैं, जिनमें आपस में खासा विवाद है। स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी, चर्चिल और रूज़वेल्ट आदि में कोई राजा का बेटा नहीं है। सब जनता में से आये हैं। उन सभी को मौका है कि बतायें कि उनके देशों का तंत्र देशवासियों का जनतंत्र ही है। पर हम जानते हैं कि वे देश आपस में मारामारी कर रहे हैं, वहाँ आग लगी हुई है। इससे साफ़ है कि जनतंत्र और प्रजातंत्र जैसे शब्द धोखा भी दे सकते हैं। वे अपने-आप में सच नहीं हैं। इसी से कहा कि राजा को मिटाने की जरूरत नहीं है क्योंकि प्रजा मिटने वाली नहीं है।

लेकिन उन दोनों के विरोध को तो मिटाना होगा, क्योंकि वह असत्य है। राजा जो इतना नादान है कि अपने को राजा मानकर ज़रा भी गर्व करता है, मिटेगा ही। इतिहास का बहाव उसे नहीं टिकने देगा, क्योंकि वह राजत्व को दायित्व नहीं बपौती मानता है। राजत्व कायम रह सकता है और रहना चाहिए, यदि वह शुद्ध दायित्व है। ऐसा न होकर यदि वह व्यक्तिगत अहंकार के पोषण-भर के लिए है तो कोई शक्ति उसको गिरने से नहीं रोक सकती। सामने होती हुई घटनाएँ साफ हैं। किसी का आत्मतुष्ट होने का दंभ ठहर नहीं सकता। एक महाचक्र के हम पुरज़े हैं, मानव-जाति के अंग हैं। शेष समस्त जगत् से घनिष्ट भाव से हम अनुबद्ध हैं। इतिहास की गति से हम अछूते नहीं। किसी को मौका नहीं है कि समझे कि वह बंद कोठरी में रह सकता है। इससे यह तो सही है कि हुकूमत होकर कोई राज्य-सत्ता कायम नहीं रहेगी। उसे सेवा की संस्था बनना होगा। राजा इसीलिए राजा होगा कि वह सेवक हो; उस दायित्व को भूलेगा तो वह सचेत हो रहे कि राजमुकुट ही उसका अभिशाप हो सकता है। बड़े-बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुकुटधारी आज कहाँ हैं ? कुछ को तो मरना ही इसलिए पड़ा कि वे मुकुटधारी थे। जो कहीं वे सामान्य नागरिक होते या समय रहते अपने को सामान्य नागरिक मान सकते तो उनकी दुर्दशा न होती। राज-दण्ड यदि इसलिए कुछ है तो वह अभिमान की वस्तु नहीं, भय की वस्तु है। राजा को इसीलिए विनम्र होना होगा कि वह राजा है। यदि तनिक उसे अभिमान आया तो विधाता के विधान में तो दया जैसी वस्तु है नहीं और अभिमान सदा टूटता है।

अर्थात् वह विचारधारा जो राज्य को मिटाकर प्रजा का कोई एक तंत्र खड़ा करने की आवाज़ ऊँची करके बढ़ती है, भूल में है। शायद वह एक राजा की जगह दूसरा राजा चाहती है। शायद वह क्या चाहती है, इसी का उसे पता नहीं है। इसलिए कहना होगा कि इस (विग्रह मूलक) परिभाषा में राजनीतिक उन्नति की बात सोचना गैर-ज़रूरी है। जहाँ तंत्र है वहाँ नाम प्रजातंत्र हो, पर बात असल तंत्र की है। राजा को प्रेजीडेन्ट कहने लग जाने से कुछ अंतर नहीं पड़ने वाला है। मुद्दे की बात यह है कि जिसके हाथ में तंत्र की व्यवस्था आवे, वह सेवाभावी हो।

इसीलिए हमारे भारत राष्ट्र की राजनीति में देशी राज्यों में प्रामाणिक रूप से जो प्रजा जागरण के आंदोलन चले, उनमें कहा गया कि हम वर्तमान अधिपति की छत्रछाया में ही अमुक अथवा वैधानिक सुधार चाहते हैं।

यही कारण है कि गांधीजी के मुंह से हमेशा राम-राज्य की बात निकलती है, किसी प्रकार के प्रजा-सत्तात्मक शासन-विधान का नाम वह नहीं दोहराते। क्योंकि वे तो शब्द हैं और प्रवंचना में डाल सकते हैं, जबकि रामराज्य की भावना वास्तविक है। श्रीराम राजा थे पर प्रभु के और प्रजा के अनुचर थे।

हमारा पुराना विश्वास है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। हम उस विश्वास को क्यों खो देना चाहें ? हम अपने राजाओं से माँगेंगे कि वे हमारे इस विश्वास को पुष्ट करें। यदि वे ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार नहीं करते तो जनता उन्हें सच्चे भाव में राजा किस प्रकार मान सकेगी ? उनके राज्य की और उनके नाम की नींव स्थिर हो सकती है तो प्रजा के प्रेम में ही। प्रजा का विश्वास यदि वे संपादन करेंगे तो कोई इतिहास उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। प्रजा के विश्वास भाजन बनकर प्रजातन्त्र आयेगा तब भी वे ही उसके अधिपति बनेंगे। भला कभी कल्पना की जा सकती है कि अयोध्यावासियों को चुनाव का अवसर होता तो वे एक स्वर से श्रीराम को ही सिंहासन पर न बिठाते ? कोई क्रान्ति श्रीरामचन्द्र को उनके राजत्व से छुटकारा न दिला सकती। कारण वह पुरुषोत्तम थे। राजापन में उन्हें अनुरक्ति न थी, वह तो एकाकी रहकर अधिक प्रसन्न रहते। मैं मानता हूँ कि राजा को मिटाकर प्रजा को खुशहाल बनाना चाहने वाली कल्पना राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा में से जन्म लेती है, उसमें विशेष सार नहीं। इसी से मुख्यता से राजनैतिक चेतना और वैसी प्रेरणा से चलाये जाने वाले प्रजा के आन्दोलनों को गांधीजी समर्थन नहीं दे सके। लोगों को वह ठण्डापन मालूम हो सकता है, पर वह तो सच्चापन था। आज राजा प्रजा का शाब्दिक द्वित्व नहीं मिटाना है। पर उनमें ही ऐक्य लाना है, राजा को प्रजा का और प्रजापक्ष के नेताओं को राजा का विश्वास सम्पादन करना है। एक-दूसरे को चिढ़ाकर, अपमानित करके, उपेक्षित रखकर सच्चा लोकहित साधन नहीं हो सकता। राजा को सेवक बनना पड़ेगा, पर वह काम पहले स्वयं लोकनायक सच्चे अर्थों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवक बनकर कर सकते हैं। इसी से गांधीजी ने आन्दोलनों और आन्दोलकों को कहा कि ठण्डे बनो और रचनात्मक काम करो। ऊपर से देखने में उन्होंने उन आन्दोलनों की गति को धीमा किया, पर सच पूछिये तो उन्होंने उसको गहरा करना चाहा। और सबसे बड़ा लाभ तो उस नीति का यह है कि उससे राजाओं की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। राजाओं पर विश्वास करके और जनता में उस विश्वास भावना को पैदा करके हम शासकों को मौका देते हैं कि वे उसकी पूर्ति तक उठें। अविश्वास से कोई बड़ा काम कभी नहीं हुआ। शासक लोग मिथ्या अभिमान में अपनी दमनशक्ति पर भरोसा रखकर प्रजापक्ष की अवहेलना करते हैं। तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। क्योंकि इससे वे स्वयं खोखले बनते हैं। उधर रचनात्मक कार्य से प्रजा में ऐक्य बढ़ता और शक्ति जागती ही है।

हिंसा का दिवाला योरुप की लड़ाई में हम देख ही रहे हैं। इस लड़ाई के खात्मे के साथ ही सब समाप्त हो जाने वाला नहीं है। पीछे भी हार खाये पक्ष में वैर की चिनगारी सुलगती ही रहेगी। कौन जानता है कि आगे जाकर वह किसी और लड़ाई में नहीं फूटेगी। इससे साफ हो जाना चाहिए कि राजनीति में भी अहिंसा की नीति ही सही तौर पर हमारे झगड़ों का निबटारा कर सकेगी। देशी राज्यों के मामले में तो यह भी साफ है। अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं है बल्कि दुर्दमनीय कष्ट, सहिष्णुता है और अहिंसा की शर्त पर ही सत्याग्रह होता है। उससे पहले सत्याग्रह का सवाल ही नहीं उठता।

मैं मानता हूँ कि कांग्रेस अथवा देशी राज्य प्रजा परिषद् या कि और उन संस्थाओं के आगे, जो शब्द के पीछे नहीं बल्कि सार के लिए बढ़ना चाहती हैं, अर्थात् जो राजनीतिक उन्नति को जनता के आत्मजागरण के अर्थ में लेती हैं, एक ही उपाय है और वह है अहिंसात्मक जीवन नीति का सार्वजनिक प्रयोग।

जुलाई, '45.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीनी आक्रमण और हम

चीन के आक्रमण से भारत पर जो संकट आया है, उसके बारे में मैं बोलने का अपने को अधिकारी नहीं मानता हूँ। क्योंकि चीन और भारत वे शब्द हैं जो अंतिम विश्लेषण में मेरे-जैसे व्यक्ति के लिए ठहरते नहीं हैं। उनकी सार्थकता राजनीतिक है। बहुत से लोग अमुक विधान के नीचे एक शासन में रहते-सहते हैं, उनकी इकट्ठी जमात को चीन नाम दे दिया जाता है। वैसे ही भारत भी एक राजनीतिक इकाई है। अधिकांश उनसे उन संस्कारों का बोध होता है।

मैं मानता हूँ कि ये भारतवर्ष, चीन और उसके बाद एशिया—यूरोप आदि शब्द, या उसके नीचे उतरे तो प्रांतों के नामवाची शब्द, व्यवस्था की सुविधा में काम आते हैं। आज मैं खंडवा चला गया तो मालूम हुआ इंदौर शहर यहाँ खत्म हो गया, दूसरा ज़िला शुरू हो गया। अर्थात् प्रांत की दृष्टि से तो अंतर नहीं रहा, पर ज़िला बदल गया। उसी तरह भारत-चीन संज्ञाओं की सार्थकता एक सीमा तक है। उसके बाद वह सार्थकता नहीं रहती।

जो लोग ऊपर ऊँचा उड़कर जाते हैं वहां से उनको ये चीन और भारत या इस तरह अलग-अलग देश शायद ही दिखाई देते हों। और भी ऊपर जाएँ तो सारी धरती एक गोलपिंड दिखाई देती होगी। मेरे लिए देश से प्रथम और अधिक व्यक्ति महत्त्व रखता है। व्यक्ति एक ऐसी प्रत्यक्ष इकाई है, जो धारणा निर्भर नहीं है और जैसे खंडवा जाते हुए जिले बदल गये पर खेत-खेत एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं वैसे ये व्यक्ति आपसी के व्यवहार में जुड़े हुआ करते हैं।

यूरोप की एक यात्रा में मैं शाम को रेल में बैठा और अगले तीसरे पहर उतरा तो चार जगह सिक्के बदल गये। पासपोर्ट-विसा चैक किया गया। इस बेकार की सिक्का तब्दीली में ही रुपये में ढाई आने छीज गये। अब यह समझ में नहीं आता। मैं मानता हूं कि व्यवस्था के नाते कुछ खानेबंदी आवश्यक है, पर यह खानाबंदी एक हद तक महत्त्व की है।

कोई स्थिति ऐसी नहीं है, जिसमें झगड़ा न हो। झगड़े के बिना दंपती भी रह नहीं सकते। जब हर रोज़ साथ रहना पड़ता है तो आपस में झगड़ा आ ही जाता है। फिर भी झगड़ा सामयिक है। नित्य पुरुषार्थ शांति है। जब तक तिब्बत बीच में था तो हिन्द-चीन भाई-भाई कि बात ठीक लगती थी। पर जब तिब्बत बीच में से हट गया तो हिन्दी-चीनी भाई-भाईपन में फरक आ गया!

मैं पेकिंग से शंघाई गया। पेकिंग में एक किताब किसी ने दी तो मैं विमान में उसी को पढ़ रहा था। वह किताब खत्म हुई तो शंघाई पर प्लेन उतरा। वह चाऊ-एन-लाई का भाषण था, जो उन्होंने बुद्धिजीवियों को दिया था—कांग्रेस में। शंघाई में उतरे तो तुरंत बाद ही एक सभा में जाना पड़ा, जहाँ सब साहित्यिक जमा थे। शंघाई साहित्यिकों की दृष्टि से प्रमुख केन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है। यांत्रिक सभ्यता और चीन की सभ्यता का सम्मिश्रण वहाँ फूला-फला है। साहित्यिकों में से 30-35 वहां जमा थे। सभी बड़ी उम्र के जाने-माने प्रतिष्ठित साहित्यिक थे। मैंने कहा कि चाऊ-एन-लाई का व्याख्यान पढ़ रहा था कि इंसान एक है, विश्व को एक करना है आदि। पर एक चेतावनी उसमें देखी कि फिर भी दोस्त-दुश्मन की पहचान रखनी होगी। ऐसा न हो कि दुश्मन को दुश्मन न पहचाने। दुश्मन कौन? तो वहाँ उत्तर था कि आदर्शवादी आइडियलिस्ट।

मैंने उन्हें कहा कि मैं हिन्दी हूँ और हम हिन्दी-चीनी भाई-भाई हैं। पर मैं तो आदर्शवादी हूँ। एक हिन्दी आइडियलिस्ट आये तो आपके भाईचारे का क्या होगा? तो एक भाई उनकी तरफ से बोले कि यह तो एक सैद्धांतिक (थियारिटिकल) शब्द है, इसमें और कोई गहरी बात नहीं है। व्यक्तिशः जिससे मैंने पूछा हरेक ने इन्हीं शब्दों में मुझे जवाब दिया। मैंने पूछा कि कल अगर भारत और चीन की राजनीति में रगड़ पैदा हो जाये तो 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' का क्या होगा?

इसका वे कोई उत्तर न दे सके। सिवा इसके कि ऐसा कभी न होगा।

बेड़छी (गुजरात) के सर्वोदय सम्मेलन में श्री रविशंकर महाराज बता रहे थे कि वह जब चीन गये तो उनसे पूछा गया कि क्या आपको चीन का इतिहास मालूम है। उन्होंने कहा कि नहीं। पूछा गया कि आपको भारत का इतिहास तो मालूम होगा। उन्होंने कहा कि हाँ, कुछ तो मालूम है। वे बोले कि कोई हमला बाहर के देशों पर भारत ने नहीं किया है। चीन का भी इतिहास ऐसा ही है। इसी से भारत-चीन भाई-भाई रहेंगे।

चीन की सरकार शायद आज भी मानती है और कहती है कि उसने पहले हमला नहीं किया। पर है तो यह स्पष्ट हमला । सारे इतिहास में चीन ने कहीं बाहर जाकर हमला नहीं किया तो यह हमला क्यों निकला? वैसे चीन की आबादी 70 करोड़ है और वह बढ़ रही है और आबादी के फैलाव के लिए उसको जगह नहीं है। अगर ऐसा हो तो निर्जन साइबेरिया बसने के लिए काफी खाली पड़ा है। अब तो तिब्बत भी चीन है—तिब्बत की आबादी घनी नहीं है। फिर भी वे भारत की ओर बढ़े—इस दुस्साहस के पीछे क्या मज़बूरी थी? क्या नशा था? चीन के पास कुछ-न-कुछ तो हिम्मत रही होगी। सिर्फ़ आबादी का मसला वह नहीं था यह बात स्पष्ट है। कुछ चीज़ और थी। मेरा ख्याल है कि साम्यवाद चीन में आया उसके पहले चीन की सभ्यता में आवेश नहीं आया कि बाहर जाकर हमला करे। इस आवेश का निर्माण साम्यवाद के कारण हुआ।

इसके पीछे कोई पक्का मानस है। उनके सोचने के मुताबिक ज़्यादातर दुनिया गफलत में है। सभ्यता सिखाने का मिशन उनका है। जैसे अंग्रेज़ भारत पर राज करते हुए कहते थे कि इसमें उनकी कोई स्वार्थ-लिप्सा नहीं है, सभ्य बनाना है, इसलिए वे आये हैं। इसी प्रकार की उद्धारक-वृत्ति चीन में भी पैदा हुई हो सकती है कि दुनिया में क्रांति करनी है। यह भ्रम और धर्म उनमें भर गया हो सकता है कि दुनिया के निजाम को, व्यवस्था को उनको बदलना है, चीन की छत्र-छाया में सारी एशिया में सुव्यवस्था ला देनी है।

रूस में सर्वप्रथम कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई। वहाँ शुरू में यही चीज़ लोगों के दिमाग में भरी हुई थी कि रूस की क्रांति तब तक पूरी नहीं होगी जब तक दुनिया के सारे देशों में भी वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांति न करेगा। ट्राटस्की मानता था कि रूस की क्रांति को राष्ट्रवादी न बनाकर विश्व-क्रांति की इब्तदा बनाई जाये। पर उसको आदर्शवादी माना गया और क्रांति को रूस में समा कर व्यवस्थित करने की ओर वे बढ़े।

जैसे राजनीति में स्टालिन की सत्ता थी, साहित्य में वैसा जिनका नाम चलता था, उनसे मिलने का मौका मुझे मिला। वह रूसी लेखक दुभाषिया मरियम बहन के साथ आये तो लगा कि किसी फैक्टरी के फोरमैन होंगे—स्टूल पर बैठ गये। मुझे मालूम नहीं था कि वह कोई विशेष व्यक्ति है। लम्बी-चौड़ी बातें हुईं—तीन घंटे तक। चीन की बात आ गई। बोले, "आदमी अनुभव से सीखता है। हम भी पहले बड़े जोश में थे, धक्का देने की तबीयत थी। पर अब हमने अपने अनुभवों से सीख लिया है। चीन अभी सुनने के मूड में नहीं है। वे भी वैसे ही तीखा अनुभव प्राप्त करेंगे, जिनमें से हम गुज़रे हैं। खुद ठोकर खाये बिना सीखते नहीं मालूम होते।"

प्रारम्भिक समय के जुनून में ही तो टाल्सटाय की किताबों की होली रूसी क्रान्तिकारियों ने की थी। क्योंकि टाल्सटाय नैतिक मूल्यों की बात करता था। पर आज टाल्सटाय की जितनी किताबें छपती-खपती हैं, उतनी शायद किसी की नहीं। कारण वही कि टाल्सटाय विनय सिखाता है, संतोष सिखाता है, संयम सिखाता है। क्रान्ति में नैतिक मूल्यों को ऐसा बना दिया था जैसे प्याऊ पर पानी। तलाक तब बेहद आसानी से मिल जाता था। पर आज तलाक मिलना कठिन है। यह रूस का हाल है। प्रारंभ में जहाँ नैतिकता का मजाक उड़ाया जाता था, वहाँ पर अब उसको जमाने की कोशिश हो रही है।

आज चीन में उफान है। यह उन रूसी साहित्यकार से पता चला कि चीन में कच्ची जवानी भरी है कि जिससे दिमाग में उछाल पैदा हो रही है।

नेहरू जी और विनोबा जी दोनों कहते हैं कि इसके पीछे केवल सीमा और ज़मीन का मसला नहीं है, बल्कि एक बड़ी चीज़ है। शायद चीनी मानते हैं कि एक परम लक्ष्य उनके सामने है, उसके लिए मरने और मारने में वे कोई हिचकिचाहट अनुभव नहीं करते। यह चीज़ जब बन जाती है तो उसको रोकना मुमकिन नहीं होता। वह अपने पैंतरे से रुके तो रुके। जब वह विश्व को प्रकाश देने का अपना काम मानता है तो वह क्यों किसी के कहे रुके?

इस सीमा-रेखा के पीछे की चीज़ पर विचार करना अनिवार्य है। यह विचार किये बिना हम हल नहीं निकाल सकेंगे। केवल फौजें इस समस्या को हल नहीं कर सकतीं। आज भारत में देशाभिमान है, उसका हर जवान अपनी जान देने को तैयार है। चीन ऐसे भारत की फौज का सफाया नहीं कर सकता। फौज से फौज का मोर्चा रुक सकता है। पर सवाल का हल इसमें से नहीं निकल सकता।

चीन एकाएक असम की आबादी तक आकर रुक गया। उसने 'सीज़फायर' बोल दिया। भारत के सामने एक पहेली आ गई। हमने युद्ध रोका नहीं है। हमारी पंक्ति वहाँ तैयार है, पर लड़ने का काम उनके पास नहीं है। चीन बढ़ता चला आ रहा था, पर वह एकाएक रुक गया। क्यों? बात यह थी कि हथियार से जो लिया जाता है उसे दुनिया के सामने दिखाना पड़ता है कि हमने अन्याय से नहीं लिया। मिलिक्टरी केस और मिलीक्टरी विक्टरी को मॉरल केस और मॉरल-विक्टरी बनाने की ज़रूरत रहती है। केवल मिलीक्टरी विक्टरी चलेगी नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक बनाना अनिवार्य हो जाता है। अपना नैतिक आधार मज़बूत करने को उसने अपनी सेना वापस ले ली। यह प्रश्न का बहुत बड़ा पहलू है। भारत का केस मॉरल था (moral)। पंडितजी ने कहा कि हम तो विश्वास पर चलते थे, इसी से हमने फौजी तैयारी नहीं रखी। प्रश्न का मॉरल रुख 'सीजफायर' के बाद, उनके पक्ष में हो गया; भारत का केस नैतिक क्षेत्र में उन्होंने कमज़ोर कर दिया—यह वे मानते है। आज नेफा और लद्दाख में मिलिक्टरी मोर्चा चुप है, पर डिप्लोमेटिक मोर्चे पर ज़ोरों से काम चल रहा है।

अभी तो 'कोलम्बो कांफ्रेन्स' बैठी है। दोनों देशों के लोग वहाँ गये हैं। भारत कह रहा है कि भारत का पक्ष नीति का है। आज भारत में सोना दिया जा रहा है, नाम लिखाये जा रहे हैं, यह ठीक है। पर इस सारी 'हाट-वार' की लड़ाई का उपयोग 'मानस-फ्रन्ट' पर इस रूप में होता है कि हम कमज़ोर नहीं हैं। जैसे रूस और अमेरिका दोनों एटम बम बना रहे हैं। पर दोनों कहते हैं कि बम रोके जाने चाहिए। पर यदि दूसरा पहल करेगा तो ही करेंगे। यह दोनों एक-दूसरे को कहते हैं। बम या एटामिक आर्मामेण्ट जो वे बना रहे हैं, वह दिखाने को कि चुनौती में हम किसी से उन्नीस नहीं हैं, वे इनको 'डेटरन्ट' मानते हैं। अस्त्र-शस्त्र डर पैदा करने वाले हैं। अस्त्र-शस्त्र का कारगरपन मानने की भूमिका पर नहीं, बल्कि 'डेटरन्ट' की भूमिका पर है।

अस्त्र-शस्त्र, जिनसे आदमी मारता है, उनकी अब अणुशक्ति के उदय के बाद कोई कीमत नहीं रह गई है। अस्त्र-शस्त्र का मूल्य अपने-आप में शून्य हो गया है। सिर्फ मूल्य इतना ही है कि वह डर की रोक पैदा कर सकता है। आज तो युद्ध की बात को लेकर मरने और मारने के ऊपर उठकर सोचने की आवश्यकता है।

आज सब कहते हैं कि अपने नेता पं. नेहरू के हाथों को मज़बूत करो। पर आपको मालूम है कि शूटिंग में जो इनाम मिला वह दूसरे ही किसी को मिला था। तो उन दूसरे के हाथ क्यों न मज़बूत करें? लेकिन हम नेहरू के हाथ इसलिए मज़बूत करना चाहते हैं, क्योंकि उनके हाथ देश के केस की नैतिक भूमिका को अकाट्य और दृढ़ करने का काम करते हैं। सारी दुनिया के प्रमुखों को उन्होंने चिट्ठियाँ लिखी हैं। संहारक-शक्ति के काम पर हमारे जवान जा रहे हैं, पर नेहरू जी देश की नैतिक-शक्ति को बढ़ा रहे हैं।

यदि इन्दौर शहर पाँच हज़ार जवानों की ज़िम्मेदारी और उनके परिवारों का जिम्मा ले ले तो इन्दौर का आत्माभिमान जाग जायेगा। पर अगर रूसी 'प्रावदा' में पढ़ने को मिले कि रूस भारत के केस को ठीक समझता और मान्य करता है तो इन्दौर के साथ भारत के हर आदमी की छाती दुगुनी हो जायेगी। क्योंकि उस लेख से देश की नैतिक-शक्ति का लोहा मान लिया गया होगा। सैन्य बल दैहिक-शक्ति है, संसार की शक्ति है। किन्तु उस जीत में न्याय बल होगा, नीति की शक्ति होगी। बहादुरी की पहचान यह है कि सैकड़ों सामने हों तो तुम अकेले अपनी जान देने की तैयारी रखते हो। बहादुरी दूसरों की जान लेने और अपनी जान बचाने की तैयारी में नहीं है। बहादुरी हमेशा अहिंसक होती है। अपनी जान देने की तैयारी को बहादुरी कहते हैं।

अगर भय नहीं रहता, निडरता रहती है, तो कोई हमला नहीं कर सकता। अगर हमने डर को दूर भगा दिया—मरने का डर खत्म कर दिया तो आक्रांता के आक्रमण करने की इच्छा बुझ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायेगी। नागरिक जीवन में कुछ लोग 'बुल्ली टाइप' के होते हैं। आप डरना छोड़ दीजिये तो 'बुल्ली' की ताकत खत्म हो जाती है। आप इसे आजमा कर देख लीजिये जो डरा-धमका कर काम करता है, उससे डरना छोड़ दीजिये तो वह पोच पड़ जायेगा।

चीन के आक्रमण के संदर्भ में देखिये। वेतन प्राप्त करने वाला सिपाही लड़ने जाता है। बीवी-बच्चों की फिक्र उसे रहती है। उसकी हिम्मत इस बात पर है कि मैं जीऊँगा तो बीवी बच्चों को पाल सकूँगा। इसी प्रेम के द्वारा उसमें ताकत आती है लड़ने की। हम कमाते हैं, तिजोरियाँ भरते हैं और रक्षा के लिए तनखा का चौकीदार रखते हैं। वह अपने बीवी- बच्चों के लिए रात-भर जागकर पहरा देता है और हम सोते हैं। हमारे मंदिर हैं, हमारे देवता हैं। पर पुजारी को वेतन देकर रखते हैं और वह मंदिर की सेवा करता है और पुण्य हमको मिलता है। इसी प्रकार पेशेवर सिपाही के भरोसे नागरिक रहेगा तब तक नागरिक भयभीत और कायर बनेगा। बस पैसा-सोना देकर रक्षा खरीदना चाहेगा। हममें से हरेक सिपाही क्यों न बने। हम वक्त पर सिपाही हैं और शेष समय नागरिक हैं तो हम पर आँच नहीं आयेगी।

हम जनतंत्र का नाम लेते हैं—डिक्टेटरशिप नहीं चाहते हैं। पर आपने आस-पास देखा कि लोकतंत्र टूटा और मिलिक्टरी डिक्टेटरशिप आई। क्योंकि सुरक्षा करने वाला ही राजा बन बैठता है। कोई देश ऐसा नहीं है, जो मिलिक्टरी डिक्टेटरशिप रखता हो और नागरिक लोकतंत्र का दावा भी न रखता हो। नागरिक यदि पुलिस-फौज का प्रार्थी है तो उसकी नागरिकता खतरे में होती है। आज के समाज में सिक्योरिटी की सबसे बड़ी माँग है। हमें लगता है कि किसी तरह सिक्यूरिटी प्राप्त करें। और हर तरह सिक्यूरिटी हासिल करने के लिए हर तरह का काम करने को तैयार है! क्योंकि जान देने वाले आदमियों को पैसा देकर तैनात किया जा सकता है तो उनके पीछे चतुर खुद अपनी जान बचाने का काम करेगा। उसके लिए वह सोना देने को तैयार है!

आप जितने भी व्हालेन्टियर्स और सोना भेज दें, पर यदि स्वयं नागरिक स्वार्थ में डूबा रहेगा, तो सिपाही भी स्वार्थ के लिए ही लड़ेगा। वह जान देने के मौके पर क्यों अड़ेगा, उलटे क्यों न भाग खड़ा होगा? आपको मालूम है कि जर्मन कौम, जो बड़ी बहादुर थी, उसको हिंसा पर श्रद्धा थी। पर बड़ी हिंसा के सामने वे सभी भागे। यदि अपनी-अपनी जगह ज़िन्दगी को हथेली पर लें और समझें कि जान तो एक रोज़ जाने ही वाली है, पर यह जाये तो आन पर, किसी लक्ष्य पर जायेगी, तो उससे अपूर्व बल का उदय होगा।

हम किसी चीज़ के लिए जीना और उसी चीज़ के लिए मरना सीखें। आज चीन के हर आदमी को जैसे एक 'लाइफ-परपज़' प्राप्त हो गया है। वहाँ का आदमी अपनी जान देने को एक सपना पा गया है। हमारे पास 'नेशनल डिफेन्स' का एक सामयिक प्रयोजन अवश्य बना है। यदि उतना भर ही प्रयोजन रहेगा तो हम हारेंगे। पर भारत कभी हारेगा नहीं। क्योंकि देश की सरकार ने जो अपना श्रद्धा-घोष रखा, वह है 'सत्यमेव जयते' (सत्य ही जीतेगा)। यह श्रद्धा है तो हम ज़रूर जीतेंगे। पर यदि हम सत्य को जिताने या जिलाते नहीं, अपनी जान बचाने में रहेंगे तो जान खोएँगे, साथ ही आन भी खो बैठेंगे।

हमारे सामने एक लक्ष्य होना चाहिए। जिसके लिये हम जिएँ और जिसके लिए हम मरने को तैयार रहें। साम्यवाद इसलिए जीतता है क्योंकि उनकी वैज्ञानिक हिंसा में श्रद्धा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से इतिहास बना है, पाप-पुण्य की धारणाएँ वृथा और थोपी हुई हैं। इतिहास और युग का तकाजा है कि पूँजीवाद गिरेगा और पालेतेरियत जीतेगा। तू इस द्वंद्व को समझ, उसको बढ़ा और इसमें जूझ और इसको सम्पन्न करने में निमित्त बन' ऐसी श्रद्धा साम्यवाद में है।

इसके समकक्ष कोई प्रबलतर श्रद्धा तक नहीं होगी, तब तक भारत चीनी विस्तारवाद को रोक नहीं सकेगा। जब तक हमारे पास जीवन को विसर्जित करने को कोई यज्ञपूत लक्ष्य न होगा, तब तक हम बढ़ न सकेंगे। स्वराज्य के बाद जैसे यहाँ कोई जीवन-सिद्धान्त ही नहीं रहा है। स्वराज्य के बाद सब कोई पैसे और सत्ता पाने के पीछे पड़े हैं। हमारे जीवन में शैथिल्य हैं। जो तमन्ना पहले न्योछावर होने को थी, वह खत्म हो गई है। असली मर्ज यह है। उसका इलाज है कि फिर आहुति-धर्म पैदा करें, जिसको लेकर व्यक्ति जिये, समूह जिये, देश जिये। जीवन-प्रयोजन मिल जाता है तो डिसइंटिग्रेशन समाप्त हो जाता है। आप अपनी आत्मा के साथ इंटीग्रेट हूजिये तो आप सबके साथ इंटीग्रेट कर सकेंगे।

नागरिक मोर्चा खूब मज़बूत है तो सैनिक मोर्चे की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। और यदि सैनिक मोर्चे की ज़रूरत भी हो तो नागरिक मोर्चे से उसे मजबूती मिलेगी।

जितने जवान जा रहे हैं इनके परिवारों का नैतिक उत्तरदायित्व हमारा है। केवल जवान ही नहीं, बल्कि जो भी असहाय है और जिनकी मज़बूरी उनकी ज़िन्दगी में गाँठ बन गई है और जिसे वे दिल में पोस रहे हैं, उस असहायता को दूर करें तो देश में बड़ी शक्ति पैदा होगी।

आर्मामेण्ट्स की बात बड़ी पेचीदा है। आज तो हमारी आर्मामेण्ट की शक्ति पाकिस्तान के बराबर भी नहीं है। हमें तो नैतिक बल का ही आधार लेना होगा

शस्त्रास्त्र के मोर्चे पर शक्ति खर्च होती है। पैदा होती है वह नागरिक मोर्चे पर। यह शक्ति आपस के हेलमेल से पैदा होगी। हाथ के पीछे हृदय, दिमाग और आत्मा की ताकत बढ़नी चाहिए। हाथ अस्त्र तभी तक थामेंगे और चलायेंगे, जब तक दिल साथ देगा। असल स्रोत सब शक्ति का वह है। देश के लिए वह है जनता की संकल्प-शक्ति। उसे जगाना है और उसके लिए स्वयं को आहुति बनना है।

दिसम्बर, '62.

गांधी अध्ययन केन्द्र, इन्दौर की गोष्ठी में हुए भाषण का सार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्रता और एकता

इधर यूरोप में जो करीब दो महीने से घूमता रहा हूँ, उससे मेरे लिये यह और भी साफ हो गया है कि एकता के लिए स्वतंत्रता जरूरी है। मामूली तौर पर समझा जाता है कि ये चीज़ें एक दूसरे से उलटी होंगी। अगर हर आदमी अपने में स्वतंत्र रहे तो दूसरे के साथ उसका मेल उतना ही कठिन हो जायेगा। यानी वह अपने को बहुत गिनेगा और दूसरे के लिए झुकना और दूसरे के साथ मिलाप करने के लिए आगे बढ़ना उतना ज़रूरी और आसान उसे उसके लिए नहीं रहेगा। पर मेरा अनुभव दूसरा है। हम जब तक पराधीन हैं तब तक स्वतंत्र और पृथक् होने के लिए तड़पते रहते हैं। उस समय हमें छोटे-बड़े का भेद पैदा हो जाता है और स्वास्थ्य पूरी तरह पनपने नहीं पाता। जो स्वस्थ नहीं है उसमें स्नेह कहाँ से पैदा हो सकता है? स्वातंत्र्य से स्वास्थ्य आता है और स्वस्थ अवस्था में ही स्नेह सम्भव हो सकता है। एकता आखिर स्नेह में से ही तो फलित होगी।

भारत अब जब स्वतंत्र हो गया है तो उसके लिये दूसरे देशों के साथ अपनापन पैदा करना उतना कठिन नहीं है। अब उसमें संघर्ष की भावना नहीं है। वह हर तरह के समाचार, व्यापार के और संस्कृति और साहित्य के आदान-प्रदान से हर देश के साथ अपना संबंध और ऐक्य बनाने को उत्सुक है। यूरोप के देशों में कुछ एक पर दूसरे का दबाब अनुभव होता हुआ मैंने पाया। इसमें से संघर्ष उपजता है। अगर दबाब न रहे तो सम्भावना है कि उनमें सद्भावना सहज रूप से व्याप्त हो जाय। राष्ट्र तो ठीक है, जैसे कि व्यक्ति अपनी जगह ठीक है। लेकिन राष्ट्रवाद व्यक्तिवाद की तरह अस्वस्थ मनोदशा का द्योतक समझा जा सकता है। राष्ट्रवाद में एक तरह का आग्रह है और तनाव है। जैसे उसमें गर्भित है कि कोई दूसरा राष्ट्र है जिससे संबंध स्पर्द्धा और विरोध का है। मेरी धारणा है कि हालत जतलाती है कि उन देशों की स्वाधीनता सम्पूर्ण नहीं है। किसी प्रकार का दबाब उनकी चेतना को दाबे हुए है।

कोई समूह अपने आप में तभी व्यक्तित्व पा सकता और बलिष्ठ हो सकता है जब उसमें सम्मिलित होने वाले व्यक्ति से अपना अहं उसमें विसर्जित करने की भावना रखते हो। विसर्जन स्वेच्छा में से ही आ सकता है। अन्यथा दमन है और दमन में से कभी ऐक्य उत्पन्न नहीं हुआ।

स्वतंत्रता कोई नितांत मूल्य नहीं है। कोई अपने आप में होकर पूरा नहीं बना। समाज में से व्यक्ति को अपने लिए पूर्णता प्राप्त करनी पड़ती है। एक अकेला रहकर आदमी सूखता ही है, कभी भरपूर नहीं बनता। यही राष्ट्रों का भी हाल है। राष्ट्र यदि पूरी तरह स्वतंत्र होने दिये जाएँ, अवसर हो कि वे अपने समाज और संस्कृति का निर्माण और अपनी अर्थ राज्य-रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने प्रकार से विकसित कर सके, किसी प्रकार का आग्रह और आरोप बाहर से यदि उन पर न आये, तो देखा जायेगा कि वे विश्व की एकता में बाधक से अधिक साधक ही होते हैं।

दुनिया छोटी होती जा रही है और किसी का अलगपन यहाँ टिकने वाला नहीं है। आवागमन इतना द्रुत हो रहा है, आदान-प्रदान इतनी घनिष्ठता से बढ़ता जा रहा है कि किसी के लिए संभव नहीं रह गया है कि अपने देश की ही सोचे, बाकी दुनिया से वह बेखबर हो जाये। यहाँ हुई घटना दुनिया के दूसरे छोर तक पहुँचती है। चाहने पर भी अपने में बन्द होकर बैठना संभव नहीं है। ऐसी हालत में किसी का अपना नितांत सम्पूर्ण और सर्वथा पृथक् राष्ट्रवाद टिक नहीं सकता। लेकिन इस प्रकार से राष्ट्रवाद को चिपटाये रखने का आग्रह भी स्वतंत्रता के और इसलिए स्वस्थता के अभाव में से ही पैदा होता है। जैसे कि हीन और दमित व्यक्ति अभिमान में से रस खींचता और अपने को जबरदस्ती बड़ा बनाये रखना चाहता है। लगभग वही हालत उन देशों की है जो उद्वत राष्ट्रवाद का सहारा लेकर उभरे रहना चाहते हैं।

ऐसी अवस्था में उन राष्ट्रों का दायित्व बढ़ जाता है जो अपने को सम्पन्न और समर्थ समझ सकते हैं। वह सामर्थ्यशील नहीं है जो दूसरे को हीन अनुभव करने देता है। सामर्थ्य शीलता का प्रकाश प्रसन्नता में होता है। समर्थ ही दूसरे को स्वाधीन देखकर स्वतंत्र बनाकर आनन्द पाता है। जिसमें दूसरे पर कब्जा करने की भावना है उसके मन में कहीं कुछ दीनता बाकी रह गई है। और यदि बड़ी कहलाने वाली शक्तियाँ आज आगे बढ़कर छोटे देशों को अपनी बराबरी की जगह दे सकें, उनको हर प्रकार की स्वतंत्रता और सहायता देकर प्रसन्नता अनुभव करें, तो मेरा विश्वास है कि तनाव की स्थिति जल्दी दूर हो सकती है।

सब देशों में लोग हैं जो अपने आसपास सामंजस्य देखना चाहते हैं। वे प्रकार-प्रकार का सृजन करते है। इस कृतित्व में उनका अंतस्थ प्रेम ही उनकी प्रेरणा बनता है और जीवन और जगत का समस्त अनुभव उनके लिए सामग्री का काम देता है। यह रचना पुस्तक के रूप में हो सकती है, चित्र के, संगीत के, आविष्कार के रूप में हो सकती है। इस पर किसी विशेष देश या जाति का ही अधिकार नहीं रह जाता। ज्ञान सार्वभौम है, कला भी सार्वजनिक। किसी भी पद्धति से इस मानवानुभूति के फल को किसी घेरे में बंद नहीं रखा जा सकता। कोई देश ऐसा नहीं है जिसमें लोग न पैदा हुए हों जिन्हें सारी दुनिया अपना मानती है। उनकी कल्पना, उनकी भावना, रुककर नहीं रह सकी। किसी भी बहाने उन्होंने मनुष्य से इंकार नहीं किया। उस मनुष्य को लाँघा नहीं। वे मनुष्य को पाने और उसके लिए अपने को विसर्जित करने में ही जुटे रहे। इस प्रयास में जो कुछ वे दे गये, वह सारी मनुष्य जाति की धरोहर हो गया। आवश्यकता है कि हम उसको अपने में समेटे और रोके न रखें। भेद तो हम में है, पर वे दूर होने के लिए है। भाषा का भेद है, रहन-सहन और रंग-रूप का भेद है। पर भेद वे आत्मा के नहीं हैं, ऊपर की परिस्थिति के कारण है और वहीं तक है। परिस्थितियों पर हम विजय पा सकते हैं, बल्कि उन परिस्थितियों को ही हम अपनी प्रगति का साधन बना सकते हैं। परिस्थितियों की प्रतिकूलता कोई वस्तु नहीं होती। हममें रचनात्मक प्रेरणा हो तो हर परिस्थिति हमारे लिए साधन रूप हो जाती है। आवश्यकता है कि भाषाओं में परस्पर अधिक अनुवाद हो, उनका आपसी आदान-प्रदान बढ़े। तब हम देखेंगे कि जितना क्षेत्र व्यापक होता है, उतना ही आत्मा का महत्त्व बढ़ता और ऐक्य सुगम होता है। क्योंकि शरीर तो सबके अलग-अलग हैं। और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब हममें एकता की भावना आती है, तो वह स्वार्थ के नहीं आत्मा के आधार पर ही आ पाती है। अस्वस्थ शरीर में स्नेह की जगह अहंकार ज्यादा होता है। अहंकार अनबन पैदा करता और लड़ाता है। और जैसे-जैसे स्नेह हममें बढ़ता है, हम देखते हैं कि वैसे-ही-वैसे शरीर का आग्रह और स्वार्थ का मोह कम होता जाता है। आज हमारे सामने समस्या है कि विज्ञान के साधनों से अगरचे हम पास-पास आ गये हैं, पर क्या यह एकता अन्दरूनी और गहरे मन की भी हो सकती है? व्यापार की और राजनीति की सतही एकता से साफ तौर पर काम नहीं चलता। उसे मन में भी गहरे उतारना है। यह काम चाहता है कि हम उन कृतियों को एक दूसरे के निकट पहुँचायें जो प्रेम की प्रेरणा में से सब काल और सब देशों में सृष्ट होती रही है। और जिनके रस में डूब कर हम इस क्षण भी सहानुभूति के बहाव में अपना अहंकार खो रहते हैं।

अगस्त, '58

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय राजनीति किधर

—आज की राजनीति में सुधार क्या ज़रूरी है ! है तो क्यों है ?

—आज की राजनीति से आपका मतलब क्या ठीक आज की ही यानी सन् ३७ की राजनीति से है। बात यह है, कल कन्वेशन की पहली बैठक हो चुकी है। अभी आज दूसरी है। लेकिन उसमें जो होना है, ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी पहले ही तय कर चुकी है। हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी राजनैतिक जमात कांग्रेस ही है। सबसे बड़ी क्या एक तरह से कहा जा सकता है कि वह समूचे राष्ट्र की राजनैतिक प्रतिनिधित्यात्मक संस्था है। इसलिए आज की राजनीति से मुख्यतः कांग्रेस की राजनीति का मतलब समझ लूँ। मैं कह सकता हूँ कि परसों से प्रमाणिक रूप से राजनीति ने जो रुख पकड़ा है वह पहले के रुख से अलहदा किया जा सकता है। गांधीजी ने जब अपने को कांग्रेस के सिर पर से हटा लिया तभी से वहाँ की राजनीति में एक नये परिच्छेद की भूमिका पड़ गई है। लेकिन गांधी ने जो दिया था उससे सहज छुटकारा न था। गांधी कांग्रेस पर न रहे, पर कांग्रेस और भी अधिक गांधी पर निर्भर हो रही है। उनकी स्प्रिट कांग्रेस की कार्यसमिति की प्रेरणा है। पर जवाहरलाल अपनी तबियत में गांधी की तरह के व्यक्ति नहीं है। गांधी युद्ध में भी शांत रहता है तब जवाहरलाल हर समय मानों मुकाबले के लिए संनद्ध से नजर आते हैं। झगड़ा बखेड़ा गांधी के स्वभाव में नहीं है। हाँ, सत्याग्रह हो सकता है और वह इतना कठिन हो सकता है जितना क्या कोई इस्पात की तलवार होगी। पर उस सत्याग्रह के युद्ध में भी न केवल ध्येय ही शान्त होगा प्रत्युत उस युद्ध की प्रवृति भी शांतिमयी होगी। तिलक जब कांग्रेस के शीर्ष पर से हटे और गांधी आये तब से ग्रिहतर्क की जगह एक प्रकार की आध्यात्मिकता कांग्रेस ने अपनी प्रकृति में स्वीकार की। जवाहरलाल और ढाँचे पर गढ़े गये व्यक्ति थे। एक प्रकार से उन्हें गांधी ही ने बनाया था। पर गांधी भी उन्हें अपने अनुरूप नहीं बना सके। कांग्रेस किसी भी भाँति गांधीजी से बाहर नहीं जा सकती थी। लेकिन कांग्रेस की परख हो गई थी और यह दिख चला था कि राष्ट्र की यह बड़ी इकट्ठी जमात कांग्रेस चाह कर भी गांधी का साथ नहीं दे सकती । तभी सन् 21 के बाद में स्वराज्य-पार्टी बनी थी और सन् 32 के युद्ध के बाद फिर स्वराज्य पार्टी जैसी चीज बनी। यह पार्लियामेण्टरी पार्टी थी। सत्याग्रह के मोर्चे पर मोर्चे लेने के बाद भी अंग्रेज़ी पढ़ी-लिखी शहरी लोगों की जमात में से पार्लियामेंटरियज़्यम और कांस्टीट्यूश्नलिज़्म उखड़ कर निर्मूल नहीं हो गये। लड़ाई की गर्मी जहाँ ही कम हुई तहाँ ही मैदान से अधिक कौन्सिलें सूझने लगीं। ऐसी हालत में गांधी ने कांग्रेस को पार्लियामेंटेरियज्म के रास्ते पर एक-दो कदम चला कर उसे छोड़ दिया। अब तक की प्रेरणा गांधी की प्रकृति की थी। मुल्क उसी के सहारे जीता रहा और बढ़ता रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कोई दूसरी विश्वास की ताकत दीखती न थी; लेकिन तभी जवाहरलाल जेल से आये। पार्लियामेंटरी पार्टी कांग्रेस का एक अंश थी। गांधी ने उसके लिए कुछ आदमियों की एक अधिकार प्राप्त कमेटी बना दी थी। मंशा यह थी कि वे लोग पार्लियामेंटरी काम किये चले जायें क्योंकि वे लोग और कामों में न खुद रस लेंगे, न दूसरों को रस लेने देंगे। उस छोटे गुट को छोड़कर बाकी और लोग बाहर के और-और ज़रूरी कामों में लगे रहें। गांधी की समूची वृत्ति जनता की ओर थी। पॉलिटिक्स के, उनके निकट, तभी और वहीं तक कुछ अर्थ थे जहाँ तक उसका जनता के हित से संबंध है। पार्लियामेंटरी काम से शौक रखने वाले मनुष्य को उन्होंने एक तरह से छुट्टी-सी ही दे दी थी। अपने मैदान में वह आज़ाद थे लेकिन नकेल कांग्रेस वर्किंग कमेटी के मारफत जनता के हाथों में थी। जवाहरलाल यह सब नहीं समझ सके, उनको शक्ति जो चाहिए। पार्लियामेंटरी के काम में रस रखने वाले लोगों को नकेल थामने के काम से उन्होंने अपने को, वर्किंग कमेटी की और समूची कांग्रेस को भर दिया। जहाँ कौंसिल हमारी मनोवृत्ति में बस कोना दाबे बैठी थी वहाँ अब वह कौंसिल जवाहरलालजी की मदद से (यद्यपि बिल्कुल उनकी मंशा के विरुद्ध) हमारे समूचे मन में असर कर बैठ गई। जहाँ देखो कौंसिल का चुनाव है, जहां देखो इलैक्शन। जवाहरलाल ने अपनी समूची गर्मी इसमें डाल दी। वह चाहे कुछ भी समझ रहे हों, लेकिन जनता के मनों में उन्होंने कौंसिल को भीतर तक घुसा दिया। अब तक जनता आत्मविश्वास के बल पर अपने पैरों पर खड़ा होना सीख रही थी। यह सीखने में जितना समय लगना चाहिए उतना तो लगेगा ही। अपने हाथ का सहारा देकर बच्चे को थोड़ी देर खड़ा करलो तो करलो, लेकिन स्वयं खड़े होने की शक्ति उससे भिन्न चीज़ है। जवाहरलाल ने पुकार तो जारी रखी—जनता, जनता, लेकिन देश की निगाह के सामने रखी कौंसिल कौंसिल। मानो जनता के आत्मविश्वास का काम कौंसिल के दरवाज़े तक ही है। इस तरह गांधी का ठंडा विधायक कार्यक्रम लगभग एकदम भुला दिया गया। काम नहीं चाहिए क्रांति चाहिए। और क्रांति के नारे इतने लगे कि याद न रहा कि पेट भूखा है। और नारे जितने ही बुलन्द किये जायें, पेट उतना ही और भूखा होगा। वैसे नारे सही हैं, अगर वे भीतर की चीज़ हों। वही खोखले हो जाते हैं, जब वे नारे कोरे राजनैतिक हों। अभी मैंने यहाँ के म्युनिसिपल चुनाव में तीन-तीन आने रोज़ की मजदूरी पर, चिथड़े पहने हुए लोगों को, 'इनक्लाब जिंदाबाद' के नारे लगाते देखा है। कल उन्हीं लोगों से तीन आने देकर ब्रिटिश राज्य 'ज़िंदाबाद' के नारे आप आसानी से लगवा सकते हैं। सकते नहीं लगवाये जाते हैं। संकल्प एक वस्तु है, नशा दूसरी वस्तु। इस भाँति कौंसिल की जड़ें, जो लोगों के मनों में से उतनी ही ढीली हो गई थीं जितनी रचनात्मक कार्यक्रम की जड़ें धरती में गहरी गई थीं, वह कौंसिल की जड़ें फिर हरी हो आईं। आजकल का यह कन्वेंशन उसी मनोवृत्ति के बीच में हो रहा है। गाँव और गाँव का आदमी पीछे पड़ गया है। जनता, जनता के नाम पर कौंसिल और उसकी मिनिस्ट्री हम शहरी लोगों को घेर कर खड़ी है। मिनिस्ट्री महत्त्वपूर्ण प्रश्न है इसमें संदेह नहीं। इस नये विधान के नीचे मिनिस्टर कांग्रेसी है या अकांग्रेसी, इसका जितना सम्बंध स्वराज्य के प्रश्न से है। उससे कहीं गहरा घना सम्बंध स्वराज्य के प्रश्न से ज्यादा मुसीबतज़दा एक किसान और मज़दूर के प्रश्न से है। लेकिन यहाँ चीज़ों को ज़रा साफ निगाह से देखना चाहिए। मिनिस्ट्री के प्रश्न को महत्त्व कौंसिल के प्रश्न को महत्त्व देने से मिला है। और यह एक बड़े ताज्जुब की बात है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस कौंसिल के प्रश्न का महत्त्व सबसे अधिक उस व्यक्ति के व्यक्तित्व से मिला है जो विधान को बिना गाली के याद नहीं करता और जिसे लगन सिर्फ गरीब जनता की है।

स्वराज्य के प्रश्न का सम्बन्ध जनता से है। राजनीति से उतना नहीं है। अव्वल तो उसके बीच में आज के विधान वाली कौंसिल आती नहीं है लेकिन उस कौंसिल के मन की बात अगर कांग्रेस के मन से टाली ही नहीं जा सकती तो उस कौंसिल में जाने का उद्देश्य राजकारणात्मक नहीं होना चाहिए; जनतात्मक होना चाहिए। जनतात्मक शब्द का भाव समझिये, सेवात्मक। क्रान्ति और स्वराज्य के नारे बुलन्द करने की जगह—कौंसिल घर बनाना स्वराज्य की साधना नहीं है। कौंसिल के भीतर क्रांतिकारी शब्द से निर्दिष्ट की जाने वाली मनोवृति बे-मानी है। इस बात को बहुत गम्भीरता से अनुभव करने की आवश्यकता है। जवाहरलाल जी के कन्वेंशन के आरम्भिक भाषण में उस अनुभव का अभाव है।

आपने जो पॉलिटिक्स में सुधार की बात की है वह सारी बात मेरे ख्याल से यहाँ आकर अटकती है। हमें अपने को जानना चाहिए जीवन एक विचित्र वस्तु है। शक्तियों और सिद्धान्त यहाँ कैसे काम करते हैं हमको समझना आवश्यक है। राजनीति अपने आप में आखिरी चीज़ नहीं। मुझे ऐसा मालूम होता है कि किसानों का अस्तित्व सिर्फ़ कांग्रेस को वोट देने के लिए नहीं है। हाँ, कांग्रेस की ओर के वोट लेने वालों का अस्तित्व उन किसानों के लिए ही हो यह समझ में आने लायक बात है। आज मुझे जो भय है वह यही कि राजनीति की सार्थकता राजनीति ही में ढूँढी जाती है। वह राजनीति स्वयं विस्तृत जीवन में जाकर नहीं मिलती।

सुधार ठीक इसी जगह होना चाहिए। मानवीय जीवन राजनीतिक न हो। बल्कि राजनीतिक जीवन मानवीय हो। कोई वाद, विज्ञान, राजनीति के ऊपर, हमारी वाणी के ऊपर बैठ जायं इसमें किसी की भलाई नहीं। मुझे नहीं दीखता इससे अंग्रेज़ों का आधिपत्य उठ जायेगा। उठ भी जायें तो जो चीज़ उसकी जगह लेगी वह स्वराज्य नहीं होगा। फ्री वोट विवेक की वोट है। वह मंशा कानून की किताब में वोट के साथ फ्री लिखा हो, इतने से पूरा नहीं हो जायेगा। उसके लिए एक-एक वोटर को एक-एक स्वाश्रयी और स्वाभिमानी और सन्नागरिक बनना होगा। राजनैतिक नारे जत्थे को और बड़ा जत्था बना दें। यह ठीक है। लेकिन उस जत्थे का एक-एक आदमी भी अपने-आप में व्यक्तित्वशील न बने तब तक सिद्धि नहीं समझ लेनी चाहिए।

सुधार यहाँ आवश्यक है कि राजनीति मज़हब न बन जाय। आज तो इसका खतरा बढ़ता ही हुआ देखता हूँ। कट्टर मुसलमान समझ में आता है कट्टर हिन्दू समझ में आता है। ये दोनों कट्टर आदमी आपस में लड़ें, यह भी किसी कदर समझ में आ सकता है। लेकिन कोई लिबरल इतना कट्टर हो कि कांग्रेस को गाली दिये बिना उससे रहा न जाय और कांग्रेस भी इतना कट्टर हो कि वह राह चलते माडरेट पर व्यंग कसे, यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। वह राजनीति है नहीं जो किसी को मतांध बनाती हो।

गांधी जी का युग मानवीय नीति युक्त वैज्ञानिक कर्मनीति का था। अब राजनीति को वैज्ञानिक नीति कहा जाता है और कर्म की ओर उपेक्षा ही चाहे हो और नतीज़ा यह होता है कि गर्मी तो उससे बढ़ती है, वास्तव में शक्ति नहीं बढ़ती। मानवीय संबंधों में कोई स्वच्छता नहीं आती। उनमें सुधार होकर शोषण की जगह प्रेम का प्रवेश नहीं होता।

असली सवाल मानव और मानव के बीच में स्नेह सम्बन्ध स्थापित करने का है। अमीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और गरीब में प्रेम नहीं हो सकता। ब्राह्मण और शूद्र में प्रेम नहीं हो सकता। तो इसी तरह कांग्रेसी और नान-कांग्रेसी में भी प्रेम नहीं हो सके कांग्रेस राज्य को स्वराज्य कैसे किस भाँति माना जाये।

लेकिन मैं जानता हूँ ऊपर का उदाहरण ठीक नहीं है। कांग्रेस एक व्यक्ति नहीं है किन्तु कहने का मतलब तो मेरा यह है कि कांग्रेस का या किसी जमाअत का अपने से बाहर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। तो उस तरह की जमाअत से किसी असली किस्म की उन्नति मिलना दुश्वार मानना चाहिए। कांग्रेस की राजनीति अब भी दो प्रकार की मनोवृतियों की रगड़-झगड़ है। (Idealogy) शब्द उन तत्त्वों को बहुत बुरा प्रकट करता है जिसमें दर असल संघर्ष है।(Idealogy) तो कुछ सुलझे हुए जाने-बूझे विचार-पद्धति को कहेंगे। लेकिन असल में तो दो किस्म की तबियतें हैं, दो मनोवृत्तियाँ जो रगड़ती और झगड़ती है। समाधान समन्वय में है। झगड़ने में तो झगड़ा ही है।

यह संस्कृति ताकत का भरोसा पकड़ती है। वह सब चीजों को उसी परिभाषा में देखती है। वह जीवन को प्रबल की अमानत मानती है। (The survival of the fittest) राजनीति का मद वहाँ शक्ति है। पहला सुधार ताकत पाना है, दूसरा सुधार और ताकत पाना है। करो कुछ, लेकिन ताकतवर बनो। सबसे बड़ी राजनीति यही है। इसीलिए जो ताकत हमारे बीच में सरकार की शक्ल में मज़बूत बनी बैठी है उसको धक्का ही दो। तब तक धक्का देने की नहीं सोचोगे तब तक तुम्हारा बल नहीं बढ़ेगा। बल के लिए विरोध चाहिए, विरोध के लिए विरोधी चाहिए। और जो विरोधी है उससे कैसी तो बातचीत और कैसी संधिचर्चा और कैसा प्रेम-व्यवहार। वह जितना मरता है उतने हम जीते हैं।

दूसरी संस्कृति भिन्न है। उसको दर्शन ही कह लीजिये। उसमें युद्ध को अवकाश है। किंतु युद्ध अपने में ध्येय कभी हो ही नहीं सकता। इसलिए युद्ध करते ही हैं तो प्रेम को संपूर्ण करने के लिए। अप्रेम है तो हम लड़ ही नहीं सकते। इसलिए जब तक हमारे मन में अ-प्रेम है तब तक हमारे लिए सार्वजनिक जीवन में भी स्थान नहीं होना चाहिए। अपने से बाहर हम प्रेम के प्रसार के लिए आ सकते हैं, अप्रेम चुकाने नहीं।

लेकिन अप्रेम जगह-जगह मज़बूत बना बैठा है। शक्ति भी वहाँ ही है। तब अपने प्रसार के लिए निकली हुई प्रेम की शक्ति को जड़ता से युद्ध भी ठानना होता है। इसलिए नहीं कि जड़ माना गया पदार्थ या व्यक्ति मिट जाये, बल्कि इसलिए कि उसकी जड़ता नष्ट हो जाये और वह अपने आप में चिन्मय बन जाये।

अब शक्ति! इस दर्शन का दावा है कि जो शक्ति अमोघ है वह तो यही है बाकी सब शक्तियाँ तो एक दिन टूटकर बिखर रहने लायक हैं। घुमड़ता हुआ आक्रोश शक्ति नहीं है। वह तो शायद अ-शक्ति ही है। वह आक्रोश जमकर जब संकल्प बना तब शक्ति बनता है। इसलिए शक्ति को साध्य मानकर तो चलना ही नहीं है। शक्ति तो आप-ही-आप भीतर से मिलती चली जायेगी। उसकी चिंता खोटी चिंता है। चिंता तो असल में सब-की-सब अपने भीतर के अप्रेम का नाश करने में लगा देनी है। यह हुआ तो सब शक्ति मिली रखी है।

यह दो प्रकार की धाराएँ आज हमारे कांग्रेस वर्किंग कमेटी में खुलकर द्वंद्व मचा रही हैं। मैं उसको (Idealogy) नहीं कहूँगा। (Idealogy) धोखे का शब्द है। ऊपरी दृष्टि से,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फासिज़्म और सोशलिज़्म दो नहीं, एक हैं। सोशलिज्म कहते-कहते कब फासिज़्म में उतर आना पड़ता है, इसका पता भी नहीं चल पाता। इटली, जर्मनी, रूस इसके उदाहरण हैं। पहले दोनों मुल्क उन डिक्टेटरों के प्रभाव में हैं। दो सोशलिज्म नाम पर चलने वाले उन-उन मुल्कों के अन्य दलों से प्रबल साबित हुए और जिनके लिए यह अनिवार्य नहीं रहा कि वे अपने से बाहर किसी थ्योरी का टिकट अपने लिए लें। स्टालिन के साथ ऐसा नहीं हुआ और चलते 'इज़्म' के साथ ही वह चलता रहा।

राजनीति 'इज्मों' के संधि विग्रहों के आधार पर राष्ट्रीय प्रगतियों को चलाना पहली धारा और पहले दर्शन की पद्धति है। यहाँ समूह प्रधान है। व्यक्ति साधन है और गहरे जायें तो प्रधान समूह भी नहीं है। कुछ लोग ही प्रधान हैं। बाकी शेष लोग साधन हैं। यहाँ व्यक्ति को समझा नहीं जाता जोश दिलाया जाता है। जो सबसे बड़ा आदमी है, वह सबसे बड़ा इसलिए है कि वह सब से बड़ा सेवक है। दूसरी ओर जो प्रधान बनता है कि वह उतना साधारण और परायण भी बने। इसकी अपनी इच्छा कुछ नहीं है। शक्ति उसे नहीं चाहिए। शक्ति उसे सौंपी न, उस पर दायित्व की भाँति आती है तो वह उसके नीचे विनीत बनता है। वह उसके लिए पवित्र वस्तु है। उपयोग नहीं है, जनता की धरती के रूप में है, और हाँ, इसीलिए जितना वह सशक्त है उतना ही वह प्रार्थना की ओर झुकता है।

मैं मानता हूँ कि मानव और मानवता का विकास उसी ओर है। दर्प में नहीं है संपूर्ण में है। दर्प किसी का नहीं टिकता, समर्पण से निम्न-से-निम्न ऊँचा होता है।

अगर हम इसी को मानव जाति की विकास नीति न मानें तो कौन-सा सिद्धांत हमको अंततः यह स्थिर करके दे सकता है कि 'अ' प्रेसीडेंट बने, 'ब' न बने। प्रेसीडेंट एक है। 'अ' है तो 'ब' नहीं 'ब' है तो 'अ' नहीं। लेकिन 'अ' 'ब' दोनों अपने को एक-दूसरे से बढ़कर समझते हैं तो क्या वे दोनों आपस में लड़कर फैसला करें? लड़कर करें तो जीतने वाले के आगे तीसरा 'स' और बैठा है। फिर उससे भी और लड़ो। चूँकि आदमी बना ऐसा है कि अपने को किसी से कम अकलमंद नहीं समझता। इसलिए किन्ही दो आदमियों के बीच में से लड़ाई का सिलसिला ऐसे कभी खत्म नहीं हो सकता। पश्चिम की डेमोक्रेसीज़ सब असफल हुई और हो रही है। वह सब इसीलिए तो (Survival of the Fittest) हो तो आज हम क्यों पाते हैं कि इसी दुनिया में (Fittest) के बराबर (More fit) भी है और उसके साथ (Mere fit) भी है। तीनों हैं और उन तीनों में से किसी एक का भी जीवन संभव नहीं बनेगा। अगर शेष दोनों को नष्ट कर दिया जाये।

तो सब चीज़ों के आगे, सब वादों और सब प्रगतियों के आगे, मानव-जाति के विकास का यह नीति सिद्धांत कि बड़ा वही है जो छोटे-से-छोटे के समक्ष अपने को गिनता है। जो किसी को आतंकित नहीं करता और सब को आनंदित करता है। जो शक्ति से झुकता नहीं स्वयं झुकता है। जो चाहता सब की कृपा है और देता सबको अभय है। जिसके आगे यह नीति सिद्धांत न हो वह सही नहीं है। वह राजनीति हो, संस्था हो कि व्यक्ति हो, चाहे जो भी हो।

कन्वेंशन और उसके पहले ऑ. इ. कमेटी के भाषण मैंने सुने, बोलने वाले नेता थे। लेकिन जो गलत है वह नेता में भी गलत है और उन भाषणों में बहुत कुछ था जो संभावनाओं के संबंध में हमें आश्वस्त नहीं करता। लोग आपस में लस्टम-पस्टम मिले तो चल रहे हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन मिलने की इच्छा उनमें क्षीण होती जा रही है। आपस में धक्का-मुक्की करने की तबियत उभरती जा रही है। यही (Instinct) है जो कानून को जन्म देता है और पुलिस के सिपाही और जेलखाने के सीखचों को जन्म देता है। इस (Instinct) को मरदानगी का जामा जब चाहे पहना दिया जा सकता है। लेकिन यथार्थता से आँखें मींचकर हम उस यथार्थता से बच नहीं सकते। अंदर का अंकुश होना ही चाहिए जो इस (Instinct) को काबू में रखे। नहीं तो अहंकार किसके पास नहीं है। राक्षसों के बारे में कहानियाँ कही जाती हैं कि काटकर उनके जितने टुकड़े किये जाते थे उतने ही और बन खड़े होते थे। अहंकार-अहंकार के बीच युद्ध ठनने लगेगा तो वही हाल होगा। ऐसे ही अहंकार कटकर और उभरता है। जिसे आज मैंने कुचला है अगर दो दिन, दस दिन, महीना, वर्ष, सदी बाद जब वे दम पायेंगे, तो मुझे कुचले बिना क्यों रहेगा? इसलिए मिलने की इच्छा किन्हीं दो के बीच में किसी स्टेज पर, कम हुई कि वहीं से जीवन धर्म-युद्ध कम और पशु-युद्ध अधिक हो सकता है। मानव पशु हो, पर मानव, मानव है और उसका विकास यह है कि वह संपूर्णतः मानव हो और तनिक भी पशु न रहे।

शुरू राजनीति की बात से किया था। कहोगे कि हम आदर्श की बात पर जा उड़े। लेकिन जिसको आदर्श कहो और जिसको राजनीति समझते हो उसमें 36 वाला 3 और 6 का संबंध नहीं है, अगर वे दोनों परस्परापेक्षित नहीं हो सकते हैं तो दोनों व्यर्थ हैं। और जब राजनीति के सुधार की बात है तब बेशक आदर्श के स्मरण की आवश्यकता होगी।

जीवन से संबंध रखने वाली कोई नीति, कोई सिद्धांत, कोई बात ज़रूरत से अधिक वैज्ञानिक बनी कि उसी क्षण से वह हिसाब हो जाती है। उसमें उगने की शक्ति, बढ़ने की शक्ति, संग्रह-निग्रह की शक्ति चाहिए, जो मशीन के पुरजे में नहीं रहती। मशीन की शक्ति अपरिमित है, आदमी की परिमित। लेकिन मशीन के पेट में अपरिमित शक्ति को पाने के लिए आदमियों का ईंधन झोंका जायेगा, तो देवता रोयेंगे, दानव हँसेगे। हमें नहीं चाहिए मशीन की वैसी अपरिमित शक्ति। मशीन में विज्ञान है तो रहो, लेकिन जाने दो उस तरह का सारा विज्ञान। पर यह भ्रम है कि मशीन की भीष्माकृति के जाने से विज्ञान कहीं जा सकता है। विज्ञान भला जा सकता है? तो विज्ञान का तो सार संस्कृतियों में संग्रहीत होता है। पर जाता भी है तो जाओ। मनुष्यता स्वस्थ और स्वच्छ हो तो कीमत में सारी मशीनें झोंक दी जायें तो कोई दर्द की बात नहीं।

लेकिन हम दूर न जायें और याद रखें इतना ही कि वैधानिकता मानवता के शोषण के लिए नहीं है, उसके पोषण के लिए है। इसलिए राजनीति का नियामक तत्त्व मानव-प्रेम यदि नहीं है, तो राजनीति रुगिणी है, उसकी चिकित्सा होनी चाहिए, और मेरी धारणा है कि राजनीति में रोग के लक्षण इधर प्रकट होने लगे हैं। रोग तेज़ी से बढ़ना चाहता है। लेकिन उसके बढ़ने में खतरा है। वह खतरा योरुप पर घटाटोप की तरह छा रहा ही है। सारी दुनिया उसके नीचे सहमी है। मानवता को सोचना होगा कि कैसे क्या उसके रोग की छूत से अपना और उसका रक्षण करें। यह क्यों समझा जाये कि भारत का भविष्य इसीलिए है कि और मुल्कों में किये गये असफल प्रयोगों को वह दुहराये। भारत गुलाम रहा है, और है। तो इससे उसके भविष्य की धारणा क्यों कम उज्वल की जाये और वह भली-भाँति हो सकता है कि हिंदुस्तान के हाथों एक नया परीक्षण हो और मानवता के सामने एक नई दिशा खुले।

अप्रैल, '37.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीयता को खतरा

—भारतीयता को खतरा किस दिशा से है और उसका क्या उपाय है ?

सबसे बड़ा खतरा अपनी ही ओर से है। यानी अगर हम अपनी निष्ठा खो देंगे तो कोई हमारी कुछ सहायता नहीं कर सकेगा। निष्ठा हमारी हिल चुकी है और उस तरह हम दिवालियेपन की ओर जा रहे हैं।

पश्चिम से जो 'उन्नति' शब्द आया है उसने हमें चक्कर में डाल दिया है। हम उन्नत होना चाहते हैं, यानी नकल में उन पश्चिम के देशों के पीछे भागना चाहते हैं। यह बहुत बड़ा खतरा है। इस लोभ और तृष्णा में फँसकर भारत अपने घर की सँभाल नहीं करेगा तो घर में सब-कुछ रहते वह कंगाल बन जायेगा। समय था और है कि अंग्रेज़ियत और अंग्रेज़ी का मोह हम छोड़ देते। समय रहने पर यह न हो सका को कहना होगा कि गांधी का आना और जाना बेकार हुआ। अंग्रेज़ी व अंग्रेज़ियत ने हमारी मति को हर लिया है।

—आपने कहा कि सबसे बड़ा खतरा अपनी ओर से है। निष्ठा हमारी हिल चुकी है तो इस निष्ठा को जमाने व खतरे को दूर करने के क्या उपाय है ?

हम अपनी धरती की और धरती से लगकर रहने वाली जनता की ओर देखें। अभी हमारा मन, यानी बुद्धि, पश्चिम की दिमागीयत में उलझी है। आँखें उसकी बाहरी सफलता पर लग गई हैं, आँख हम फेरें और बुद्धि को अपनी ओर मोड़ें तो जान पड़ेगा कि दुनिया में चल रही होड़ में पड़ना हमारे लिए ज़रूरी नहीं है। तब हम अपने अंतर से शक्ति प्राप्त करेंगे और अपने अभावों को भर सकेंगे।

आज खाना विदेशों से हम तक आये तब हमारा पेट भरे। यह हालत अवश्य अव्यवस्था के कारण ही हो सकती है। धरती हमारे पास कम नहीं है और उस पर काम करने के लिए आदमी भी कम नहीं हैं। फिर अन्न की कमी में कोई भयंकर दोष ही कारण हो सकता है। वह दोष यह है कि मन हमारा हमारे पास नहीं है, वह बड़ी-बड़ी स्कीमों में है। यानी तृष्णाओं और स्वप्नों में फँस गया है। वह विलायतीपन के पास बंधक रखा है। अनाज और कपड़ा दोनों हमें इस तरह अपने लिए प्राप्त कर लेना है कि अतिरिक्त मानव-शक्ति उसमें खर्च न हो। केंद्रित उत्पादन वह उपाय नहीं है। इसलिए औद्योगीकरण सही राह नहीं है। उससे पहले वितरण की और फिर सम-वितरण की समस्या पैदा होती है। वह हल ही नहीं हो पाती और सरकार की अपरिमित शक्ति को चुका डालती है। विकेंद्रित उत्पादन याने (Village Economy) के सहारे हमें चलना होगा। वितरण की समस्या न खड़ी होगी। क्योंकि उत्पादन और उपयोग के बीच इतना फासला ही न होगा। उपभोक्ता ही लगभग उत्पादक होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इस तरह एक बृहत् चक्कर बच जायेगा।

पर यह होना आसान नहीं है। क्योंकि मन-बुद्धि दूसरे तरह के ही गणित तर्क में हम फँसा बैठे हैं। वह तर्क आदमी और आदमी के बीच में बड़ी मशीन को ले आता है। उससे लेखा ज्यों-का-ज्यों रहता है, फिर भी कुनबा डूब जाता है। केवल पदार्थ का हिसाब आदमी की समस्या को निपटा नहीं सकता। परिणाम यह है कि उस आंकिक हिसाब को लेकर कमेटियों पर कमेटियाँ बैठती हैं और एक के बाद दूसरी योजनाएँ आती हैं। फिर भी संकट उत्कट होता जाता है।

इसके लिए सबसे पहले हमें अपनी श्रद्धा को सँभालना होगा। तय कर लेना होगा कि हम ट्रूमैन की या स्टालिन की राह चलना चाहते हैं या गांधी की राह पर। गांधी भारतीय आत्मा के प्रतीक थे। गांधी की राह में भारत का त्राण है। एक बार कसकर यह निर्णय करलें और फिर हर परिणाम का सामना करने को कटिबद्ध हो जायें तो देखेंगे कि अश्रद्धा या मानसिक दुर्बलता के कारण जिन कठिनाइयों का हौआ बनाकर उस राह जाने से हम झिझकते थे वे उतनी घोर नहीं रह जाती हैं और देखते-देखते वे पार हो जाती हैं। अभी तो पश्चिम से प्रभावित हमारी बुद्धि उस श्रद्धा में अपने को सहसा खोने के लिए तैयार न होगी, लेकिन दूसरा उपाय नहीं। कौन नहीं जानता है कि भुगते बिना सीखा नहीं जाता है। लेकिन क्या हम अभी काफी भुगत नहीं रहे हैं?

गांधीजी की राह हमें लेना है तो एक बात हम फौरन पहचान लेंगे। वह यह कि उन्नति अधिक खर्च करने या कर सकने में नहीं है। दो सौ रुपया मासिक से पाँच सौ रुपया और पाँच सौ से एक हज़ार और दो हज़ार मासिक खर्च करने वाले व्यक्ति का जीवन मान उतना ही ऊँचा है यह वहम है। आदमी जितना ऊँचा है, आवश्यकताएँ उसकी उतनी ही सूक्ष्म हैं। इसलिए भारत का सर्वश्रेष्ठ पुरुष न धनिक है, न सत्ताधीश, वह तो साधु है, इस तरह जो जितना रोगी, निर्बल, अपढ़ और हीन है उसको उतनी ही अधिक वस्तु की सुविधा चाहिए। याने महल और बंगले। पहले ऐसे लोगों के लिए हों जो स्वस्थ और समर्थ हैं वे ऐसे सुभीतों से परे हैं। उनको मामूली मकान और मामूली रहन-सहन में आपत्ति नहीं हो सकती। उनको कम पदार्थ में अधिक सुख निकालने की कला आनी चाहिए। आडंबर और झूठी इज्जत की आवश्यकता उन्हें नहीं होनी चाहिए। उनको चलाने वाली प्रेरणा प्रेम और सेवा है तो दूसरी व्यर्थताओं में लोभ होने की उन्हें आवश्यकता नहीं। जो अहंकार से चलते हैं वे ही दूसरे से बढ़े-चढ़े दीखना और रहना चाहते हैं। अर्थात् उन्नति और ऊँचाई संपत्ति में नहीं, पवित्रता में है। जीवन का मान बौद्धिक नहीं, नैतिक है।

जब तक मूल दृष्टि में यह क्रांति नहीं आ जाती, हमारी महँगाई और दीनता दूर नहीं हो सकती। पसीने की मेहनत से आने वाला अनाज तब तक पढ़ी-लिखी दिमागी ऐय्याशी के पेट में जाता रहेगा और मेहनत भूखी-की-भूखी रहेगी।

अवश्य यह एक बड़ी क्रांति की बात है। शायद इससे बड़ी क्रांति दूसरी हो नहीं सकती। पर उस क्रम पर बढ़ने वाले जीवन की बात सोचने से भी जैसे डर लगता है। अपरिग्रह भाव पर उतरना और रहना सचमुच खेल-तमाशे की बात नहीं। उसमें अपने उस अहंकार को तिल-तिल मारना होता है कि जिसको बढ़ा-चढ़ाकर हम हाकिम और शासक बनते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। पर शासक और हाकिम ज़्यादा बर्दाश्त नहीं किये जायेंगे। आवश्यक होगा कि वे उत्तरोतर सेवक बनें। केवल सेवा का नाम न लें बल्कि उसके सिवा कोई दूसरी प्रेरणा अपने पास न रखें। महत्त्वाकांक्षाओं को, जिनको उन्नति का माप माना जाता है, अपने अंदर से खत्म कर डालें। प्राप्त कर्तव्यों की पूर्ति में अपनी परिपूर्णता देखें।

हम अपने दर्शन में याने दृष्टि में यह क्रांति ला सकें तो आगे का अर्थ आप-ही-आप साफ दीखने लग जायेगा। पर आवश्यकता यह है कि जिस मिथ्यादर्शन में हम आज चल रहे हैं उससे छुट्टी पायें और उसे छुट्टी दें।

—यह तो हुई राजकीय व आर्थिक प्रश्न की बात। पर अनिवार्यतः सांस्कृतिक जीवन की विशुद्धता अथवा उसमें व्यक्त अगाधश्रद्धा की पृष्ठभूमि हमारे नैतिक जीवन की मज़बूती व स्थिरता के लिए आवश्यक है—उस संदर्भ में कौनसा नया कार्यक्रम आप सोचते हैं?

आत्म-शुद्धि का काम नित्य नैमित्तिक व्यवहार के कामों से, अर्थात् उत्पादन और क्रय-विक्रय आदि से अलग चलने वाला काम नहीं है। आत्मशुद्धि के लिए नव में जाना होगा, जहाँ धातु का स्पर्श भी निषिद्ध होगा और संसार के लिए इस तरह बाज़ार चलाना होगा कि पैसे के सिवा दूसरी बात न सूझे—तो इस तरह के विभक्त व खण्डित जीवन की चर्चा यहाँ नहीं है। असल में दोनों का एकीकरण साधना है। संस्कृति उसके सिवा क्या है? सांसारिक व्यवहार को स्वार्थ और भोग की प्रेरणा के बजाय निष्काम सेवा की भावना से चलायें, यही तो संस्कारिता है। प्रीतिभाव जगाने के लिए प्रार्थना और उपासना उपाय हैं। उसी प्रीतिभाव की शाब्दिक अभिव्यक्ति साहित्य है, कार्मिक अभिव्यक्ति लोक-सेवा। कुछ मिलाकर हम उसी को संस्कृति का नाम देते हैं।

आज भारत को आर्थिक चिंता है। उसका मतलब है आयात-निर्यात का लेखा-जोखा। आयात कम करना है, निर्यात बढ़ाना है। हम कच्चा माल बाहर भेजते हैं और एवज़ में बड़ी मशीने मँगाना चाहते हैं। लेकिन एक पक्का माल भी हमारे पास था, जिसको हम बाहर भेज सकते थे। उस निर्यात की तरफ़ हमारा ध्यान नहीं है। यह हमारी आत्मश्रद्धा के अभाव के कारण है। मैं मानता हूँ कि आज विदेशों में उस माल की माँग है। उस माल के हम अब भी साहूकार हैं। वह धन धरती के भीतर खानों में गड़ा पड़ा है, यह भी नहीं; माल बहुत कुछ तैयार हमारे यहाँ पड़ा है। हम क्यों उसका निर्यात करने की नहीं सोचते हैं? वह बड़ी कीमती चीज़ है और निश्चय ही अमरीका के बहुत से डालर हमारे देश में खींच लायेगी। वह चीज़ हमारी संस्कृति है। गांधी तो बेशक नहीं है, पर वह धरती है जिसने गांधी उपजाया। उसकी आत्मा है, जिसका प्रकाश हम ढूँढने पर अपने यहाँ जहाँ-तहाँ पा सकते हैं। उसे हम क्यों बाहर नहीं भेज सकते हैं? ऐसे लोगों की आज भी भारत में कमी नहीं है जो सौ-फीसदी श्रद्धा के बल पर रहते हैं, पैसे के सहारे की उन्हें आवश्यकता नहीं। ऐसे श्रद्धा के धनी अनेकानेक संत-साधु हमारे पास हैं, जिनकी वाणी संकलित की जा सकती है और बाहर भेजी जा सकती है। हमारे अखबार रात-दिन जाने क्या खुराफात ढोते और छापते फिरते हैं। अमरीका-इंग्लैंड से ढेर-का-ढेर छपा कागज़ हमारे पास चला आता है और हमसे पैसे ले जाता है, साथ में हमीं से हमारी आत्मा फुसला ले जाता है। इस दोहरी मार के नीचे भारत बिचारा बेबस पड़ा है। क्यों नहीं उसकी आत्मश्रद्धा जगाकर उसके प्रकाशन को बाहर सब देशों में भेजा जाता? लेकिन वह नहीं हो रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उधार पर हम जीते हैं और जैसे जीवन यापन का एक वही उपाय हमें दीखता है। अंग्रेज़ी की किताब विलायत में निकलते देर नहीं होती कि यहाँ नगर-नगर में आ फैलती है। अंग्रेज़ी न हो तो यहाँ के प्रांत एक-दूसरे की खबर भी नहीं रख सकते। क्यों नहीं अंतर-प्रांतीय रूप से प्रांतीय साहित्यों का परस्पर अनुवाद होता कि इस तरह भारतीय संस्कृति की प्रतिरूप हमारे पास भारतीय साहित्य की पूँजी तैयार हो जाये। युनेस्को की ओर से डालर के कूपन देशों को बँटते हैं और वे देश अपने को कृतार्थ मानते हैं। भारत क्या इस क्षेत्र में ले ही सकता है, दे कुछ नहीं सकता? मैं समझता हूँ कि हमारे काम का यह सांस्कृतिक पहलू है और इसमें तुरंत हमको जुटना चाहिए। उधार पर रहना छोड़कर अपने आत्मबल के आश्रय रहना चाहिए। राजनीति को अपनी धरती से बल खींचना चाहिए और पश्चिम के देशों की ओर से टकटकी हटानी चाहिए।

अक्तूबर, '50.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत का मौलिक मार्ग

राजनीतिक काम करने वालों के बीच होने का अवसर कभी-कभी आ जाया करता है। मैंने देखा है कि ऐसे समय बैठकें जमकर बैठी है और बातचीत गरमा-गरम हो आई है। 'पॉलिटिकल कांशसनेस' की ऐसे जमावों में हुई कमी कभी भी नहीं देखी। बल्कि प्रचुरता ही देखी है। सरकारी या कांग्रेसी औहदेदारों की आलोचना ऐसे मौकों पर तीखी हो आई है।

आज तक यह समझा और कहा जाता था कि जनता में राजनीतिक चेतना को जगाने की ज़रूरत है। उसे अपने अधिकारों का पता नहीं है। वह काफी आलोचक नहीं है। धर्म से वह चिपटी है और राजनीति में वह पिछड़ी है। वह दीन है, दलित है, जबकि धरती पर आँख खोलकर चलने वाली कौमें ताकतें पाती गईं और तरक्की करती गई हैं!

इसलिए अंग्रेज़ी पराधीनता से चोट खाकर और अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ी राजनीति से प्रबुद्ध होकर सियासत समझने वाले देश के सेवकों ने कस्बों और गाँवों में जा-जाकर राजनीतिक चेतना को सुलगाया। परिणाम, मुल्क अब करवट लेकर उठ बैठा है। पराधीन अब वह रह नहीं सकता। अब उसे संघर्ष की माँग है। हो जाये एक बार खुलकर लड़ाई। अहिंसक वह भले हो, पर लड़ाई एक हो जानी चाहिए। मुल्क उद्यत है, उतावला है, 'पॉलिटिकली कांशस' है, इत्यादि। और इस राजनीतिक सचेतनता का प्रमाण हरेक ज़िले में मौजूद है। किसी चुनाव की सरगर्मी को देखिये। और तो और, सिर फुटौवल तक आप देख सकते हैं। जगह एक है, उम्मीदवार अनेक हैं। यह क्या राजनैतिक चेतना का अचूक प्रमाण नहीं है?

लेकिन भारत में जब इस कदर राजनीतिक प्राण भर गया है तब गांधीजी के खून में यह सर्दी क्यों दिखाई देती है? जब देखिये झुकने की और समझौते की बातें। राजकोट रियासत में राजा के साथ प्रजा कैसी शान से लड़ रही थी। दूसरी रियासतों में राजनैतिक चैतन्य का कैसा उबलता उभार था। रियासतें क्या उन जन-आंदोलनों के वेग को झेल सकती थीं? पर गांधीजी के हाथ में जब आई, उन्होंने ठंडे छींटे ही डाले। यहाँ तक कि आंदोलन को लगभग बुझा दिया। राजकोट में सहसा प्राप्त होने वाला उनका प्रकाश क्या है? क्या वह एकदम हथियार डाल रहना नहीं है? क्या संघर्ष के रास्ते से डरकर निवेदन और प्रार्थना के उपायों को अपनाने का ही वह आदेश नहीं है?

और उनका यह नया कार्यक्रम क्या वही पुराना नहीं है? कहा जाता है कि कांग्रेस कमेटियाँ चरखा-शालाएँ हो जायें। राजनीतिक चेतना को जगाने और चेताने की जगह यह चरखे से इसे दबाने और बुझाने की ही बात क्यों की जा रही है? चरखा कातिये और चरखा कातिये, राजनीति भूल जाइये और चरखा चलाइये। स्वराज्य है तो चरखे में है। मत बोलिये,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मत मीटिंग कीजिये, मत 'थिंक' कीजिये, मत वह सब काम कीजिये जो राजनीतिक गर्मी पैदा करने वाले समझे जाते हैं। और कीजिये क्या कि चरखे चलाइये।

गांधीजी की यह बात, यह रुख, एकाएक समझ में नहीं आता। मालूम होता है कि यह सब किये-धरे को चौपट करना ही तो नहीं है। इन बीस वर्षों में हम राजनीतिक चेतना और ज्ञान को दूर और पास फैलाने में लगे रहे हैं। वैसा साहित्य लिखा और बाँटा है और अर्थ-नीति की, मार्क्स की और इंकलाब की चर्चा की है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की पेचीदगियों को खोलकर बताया है। चुनाव की लड़ाइयाँ लड़ी हैं जिनसे जनता में आग पैदा हुई है और उसे पॉलिटिकल ट्रेनिंग मिला है। बल्कि देखा जाय तो अब वक्त था कि राष्ट्रीय सेना खड़ी की जाती और ललकार के साथ लड़ाई छेड़ दी जाती। ऐसे उभार के मौके पर क्यों यह गांधीजी के अहिंसा और चरखा आ जाया करते हैं! मुल्क में प्राणों का वेग उभार पर है। ऐसे वक्त रिवोल्यूशन का नारा तो उठाया नहीं जाता है, चरखे की जनानी बात कही जाती है! बोलिये, उसे नेतृत्व का दिवाला न कहे तो क्या कहें?

अब तक की राजनीतिक राजनीति में जो लोग साँस लेते रहे हैं, वैसी ही ज़हनियत जिनकी बन गई है और जो उसमें पलकर उसी में अपनी जगह देखते हैं, उन्हें गांधीजी की बात पर और नेतृत्व पर ऊपर के जैसी झुँझलाहट होना स्वाभाविक है। गांधीजी के लिहाज़ में या और किसी कारण वह अपनी झुंझलाहट न भी प्रकट करें, पर मन-मन में अनाश्वस्त होने का कारण उन्हें अवश्य है।

पर सच यह है कि गांधीजी से राजनीति को एक नई दिशा मिलती है। वह राजनीति राजनीतिक परंपरा वाली नहीं है। वह जीवन से विचलित नहीं है और वह शास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है तो इसलिए कि उससे अधिक तत्पर, अंतमुर्खी और मानवीय है। उसमें मुल्कों के विविध विधानों में दक्षता पाने के बजाय पड़ोसी के प्रति अपने कर्तव्य को समझना और जानना अधिक महत्त्व रखता है। यानी राजनैतिक चेतना (Political Consciousness) कोरी नहीं है बल्कि नागरिक दायित्व की चेतना (Civic Consciousness) की उसमें माँग है। इतिहास में और वर्तमान में हम देखते तो हैं कि अपने रास्ते चलकर राजनीति मानवता को नरसंहार में ही सदा पटक देती आई है। उसकी जड़ अहंकार है और उसका फल साम्राज्य लिप्सा है।

भावुकता के द्वारा ही हम राजनीति को न पकड़ें तो मालूम होगा कि सच्ची राजनीतिक-चेतना नागरिक दायित्व-चेतना है। जो नागरिक कर्तव्य के धरातल पर शून्यवत् हो जाती है ऐसी राजनीतिक गरमागरमी अंत में विधायक नहीं हुआ करती है, बल्कि विरक्षक हो जाती है। किसी राष्ट्र का जब बचपन हो और उसका स्वाधीनता का आंदोलन निरे शैशव में हो तभी तक भावुक आवेश के लिए जगह हो सकती है। समझदारी के साथ तो उस गरम को ठण्डा संकल्प बन जाना चाहिए और राजनीति को शाब्दिक की जगह अधिकाधिक सकर्मक होते चलना चाहिए।

मुझे प्रतीत होता है कि जब कांग्रेस-जनों का ध्यान गांधीजी सब प्रकार के राजनीतिक मतवादों से हटाकर चरखे पर केंद्रित कर देना चाहते हैं तब वह राजनीतिक चेतना में नागरिक-दायित्व (सिविक्सेंस्) का सार भर देना चाहते हैं, अन्यथा अंदर से खोखली रहकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक चेतना अनिष्ट साधन ही कर सकती है।

वह राजनीति जो अधिकार पाने या छीनने या बढ़ाने पर ही निगाह रखती है, अंत में आपसी लड़ाई को और शक्ति की पूजा को ही जन्म दे सकती। यह बात योरुप के उदाहरण से स्पष्ट हो जानी चाहिए। इसलिए सच्ची और विधायक राजनीति वही समझी जानी चाहिए जो आदमी और आदमी के संबंधों को सम और स्वच्छ बनाने की दिशा में सीधा प्रयत्न और प्रभाव दिखाती है। अर्थात् जो प्रत्यक्षतः नैतिक है।

अगर यह सच है कि किन्हीं दो पड़ोसियों में हित-विग्रह की जगह हितैक्य का संबंध सच्चा और सुखकर संबंध है तो राजनीतिक का लक्ष्य यही हो सकता है कि वैसे आपसी संबंधों को संभव होने और पनपने दे और मानव संबंधों में आई हुई विषमता को न्यून से न्यूनतर करे। अगर शोषण समाप्त होना है तो हमारे समाज के ढाँचे को तदनुरूप बदलते जाना होगा और जीवन को सादा होना होगा। पेचीदा और असंख्य धाराओं वाला राजनीति शास्त्र मानवता की शोभा नहीं है। वह तो हमारी आंतरिक सदोषता का सबूत है। उस शास्त्र की विचक्षणता जीवन की सफलता नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय विधान का पण्डित सच्चे मन से कातने वाली कतिन से बढ़कर राष्ट्र-सेवक नहीं है। दो घंटे स्पीच देना दो घंटा चर्खा कातने से बढ़कर राजनीति नहीं है। अगर हम राजनीति को बहुतेरी व्यर्थताओं से शुद्ध करके जीवन की सभ्यताओं से जोड़ना सीखेंगे तो देख सकेंगे कि चर्खे की बात सुनने में दिमाग वालों को तुच्छ-सी लगे पर परिणाम में वह वैसी तुच्छ कदापि नहीं है। भारत का पिछला 20 वर्ष का जीवित इतिहास हमारी आँखों के आगे है और अगर हिंदुस्तान आत्म-विश्वास से काम ले सके और उधार की राजनीति को ही समूची राजनीति मान बैठने की गलती न करे, बल्कि अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल मौलिक रहे तो बिल्कुल संभव है कि उसके और उसके चर्खे के उदाहरण से दुनिया की राजनीति एक सच्चा सबक सीखे।

नवंबर, '40.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वत्व, संपत्ति और सत्ता : 1

आये दिन अखबारों में जो गरमा-गरम खबरें हम पढ़ते हैं उनसे साफ़ जाहिर है कि हम युद्ध की तरफ़ जा रहे हैं। इससे आँख मींचना संभव नहीं है। यों ख्याल में और सपने में हर कोई बच सकता है, लेकिन वह बचाव थोथा है।

युद्ध की तरफ़ हम जा तो रहे हैं, पर क्या जान-बूझकर जा रहे हैं? इसका भी उत्तर निश्चित है कि नहीं, युद्ध कोई नहीं चाहता, युद्ध से सब डरते हैं। बस भर सब उसे टालना चाहते हैं, तैयारी अगर करते हैं तो हमले की नहीं, सिर्फ़ रक्षा की करते हैं। कोशिश सबकी शांति की है, मगर गति युद्ध की है। ऐसा मालूम होता है कि इसमें हम बेबस हैं। जिधर जा रहे हैं अपने बावजूद जा रहे हैं; कोई मज़बूरी है, बाध्यता है, जो कोई और राह हमारे लिए नहीं रहने देती।

विचार यही करना है कि वह बेबसी क्या है, कैसे उसे काटा जा सकता है? युद्ध युद्ध को खत्म करने के लिए होता है। लड़ने वालों से पूछ देखिये, लड़ाई मिटाने के लिए ही वे लड़ते हैं। पर अनुभव बताता है कि लड़ाई ऐसे खत्म नहीं होती, बल्कि अगली के बीज बो जाती है। फिर भी शांति की चाह में हम जो सदा लड़ने तुल पड़ते हैं, सो क्यों? इसके कारण गहरे हैं—इतिहास में भी और स्वभाव में भी।

लड़ाई जहाँ और जब होती है वहाँ और तब वह अनिवार्य ही हो आती है। उस जगह उसे रोकना संभव नहीं होता। मगर वह बनती तब और वहाँ नहीं है। जैसे बादल जो पानी यहाँ बरसाते हैं वे लाते कण-कण करके कहीं दूर से हैं; इसी तरह लड़ाई बनती वहाँ नहीं, जहाँ लड़ी जाती है। लड़ी मैदान में जाती है और लड़ते सिपाही हैं, पर बनती वह नित्यप्रति के नागरिक जीवन में हमारे द्वारा ही है। हम यह सोचें कि अस्त्र-शस्त्र को नष्ट कर देने से लड़ाई मिटेगी (जैसाकि निःशस्त्रीकरणवादी सोच लेते हैं) तो यह वैसा ही होगा जैसा यह समझना कि फलों को नोंच फेंकने से उनका पैदा होना आगे बंद हो जायेगा। जड़ों के आधार पर वृक्ष होता है और वृक्ष में फल लगते हैं। फल के लिए वृक्ष से भी लड़ना काफी नहीं है, क्योंकि वह जड़ के अधीन है। सोचना जड़ के बारे में होगा और इलाज को भी वहीं पहुँचाना होगा।

फल में तो युद्ध दीख ही रहा है। वृक्ष है हमारा सामाजिक और नागरिक जीवन और इसके मूल में है हमारा स्वत्व और संपत्ति का भाव और तद्गत व्यवस्था।

इतिहास में जाने की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं कि आदमी जानवर की तरह स्वतंत्र नहीं है, इसीसे वह आदमी है। इसीसे जहाँ वह रहता है, उसे जंगल नहीं कहते, नगर कहते हैं, समाज कहते हैं। यानी आदमी वह है जिसे स्व ही सब-कुछ नहीं है, जिसे पर का भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान है, इसलिए जिसे परस्पर जीना सीखना होता है। इसी आपसीपन के विकास में आदमी का विकास है, इसी में उसकी संस्कृति और उसकी सभ्यता है।

स्व को लेकर तो हम जन ही हैं। उस स्वत्व के आधार पर हम संपत्ति की रचना करते हैं, यानी स्वत्व का विस्तार करते हैं। इस विस्तार में दूसरे स्वत्व शामिल होते हैं। 'स्व' का विस्तार 'पर' को अपनाने के द्वारा होता है। ऐसे विवाह होता है और परिवार बनता है—संपत्ति की नींव पड़ती है। 'यह मेरा है' यानी मैं इसके लिए जिम्मेदार हूँ। मेरी स्त्री, मेरा बच्चा, मेरा पति, मेरा बाप—ये सब नाते-रिश्ते यह जतलाने के लिए पैदा हुए कि हम एक-दूसरे के लिए ज़िम्मेदार हैं, एक-दूसरे के दायित्व में आपस में बंधे हैं। आदमी मेहनत करके जितना जो लाता है पारिवारिकों में बाँटकर खाता और भोगता है। यह हुई उसकी कमाई, और उसमें से जो बना वह हुई उसकी संपत्ति।

परिवार हमारे समाज की इकाई है। इस इकाई का स्वधर्म है कि वह संपत्ति बनाये और रखे। अन्यथा परिवार हो नहीं सकता, जी नहीं सकता। केवल एक-एक के पास अपना स्वत्व हो तो संपत्ति नाम की चीज़ पैदा नहीं होती है, पैदा ही वह परिवार और पारिवारिकता के साथ होता है।

हम इस आधार पर रहते और बढ़ते चले आयें हैं। पर थोड़ी दूर जाकर हमने देखा कि परिवार से, और परिवार के लिए, संपत्ति होने से ही काम नहीं चलता। परिवार दूसरा भी है, और संपत्ति बनाने का क्षेत्र उस दूसरे से सीमित है। कुछ दूर पर संपत्ति दूसरे की शुरू हो जाती है और वहीं उसकी अपनी सीमा आ जाती है। सीमा किसी को अच्छी नहीं लगती। ऐसी अवस्था में तीसरी चीज़ आदमी ने अपने बीच में पैदा की और वह थी सत्ता। सत्ता, यानी आपसीपन की वह शक्ति जिसके सहारे संपत्ति का परस्पर नियमन रहे और सबके स्वत्व संयत रहें। यह सत्ता कुछ नैतिक-सी चीज़ थी। जैसे संपत्ति सुनिश्चित है और परिवार सुनिश्चित है, सत्ता उस भाँति सुनिश्चित नहीं थी। वह एक पंचायत-भाव था, एक तरह का अपने भीतर से उठ निकला नैतिक नेतृत्व। इसमें क्षमता थी, पर इसका अपना अलग कलेवर न था। तब लोग मेहनत करते थे, अपने-अपने परिवारों के निमित्त से उपार्जन करते थे और, उस वृत्त में सम्पति का रक्षण और उपभोग करते थे। सत्ता के पास अपनी संपत्ति न थी, केवल नियमन की शक्ति थी। सत्ता का मतलब था सम्मिलित भाव, जिसका एक या एकाधिक व्यक्ति प्रतीक था। कहना चाहिए कि स्टेट तब एक भाव था, उसने अपना शरीर नहीं प्राप्त किया था।

तब से मानव-समाज फैलता आया है और उसके रहन-सहन की इकाइयाँ उतनी छोटी नहीं रह गई हैं। जटिलता भी बढ़ी है। लाखों-लाख आदमी बहुत आस-पास, घिरकर या मंज़िलों में एक-दूसरे के सिर पर रहने को मज़बूर हुए हैं। शहर खड़े हुए हैं, जिनमें ऊपर आसमान की तरह टँगकर आदमी को रहना सीखना पड़ा है। जाने कितनी मंज़िलों के 'स्काई-स्क्रेपर' अमरीका में सिर ताने हुए हैं। यह सब इस कोशिश में कि केंद्र के पास-से-पास लोग खिंचे और सटे रहें। फैलकर रहने में जो केंद्र से दूर जा पड़ता है वह घाटे में रहता है। इस तरह के रहन-सहन के निर्वाह के लिए विज्ञान को और उद्योग को भी बड़ी तरक्की करनी पड़ी है। अवकाश सिमटा है तो समय को भी सिमटना पड़ा है। जीवन में गहरी केंद्रितता और द्रुतता आ गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विकास के अनुरूप सभी बातों में परिवर्तन हुआ है। संपत्ति का भाव वस्तु से हट गया है, वह 'क्रेडिट-नोटो' में हो गया है। अब संपत्ति का रूप 'चेक-बुक' है, या दस्तावेज़। धन कागज़ी है, उन कागज़ों के बिना आदमी अपने को निर्धन मानता है। वस्तु श्रम से पैदा होती है और भोग में भी वस्तु ही आती है, पर श्रम जिसके पास है उसके पास अभाव है, और जिसके पास वस्तु सब तरह की हैं और प्रचुर मात्रा में हैं, वह कुछ भी करता नहीं दीखता। घर में पानी आ जाता है, रोशनी आ जाती है, गैस आ जाती है और सब सुभीतें हो जाते हैं, और इसमें से किसी के लिए आदमी को मेहनत नहीं करनी पड़ती, सिर्फ़ खर्च करना पड़ता है। खर्च जिसका करना पड़ता है वह सरकारी करेन्सी का कागज़ या सिक्का है। इसका मतलब कि सारी सम्पति का रूप 'क्रेडिट' है और वह सरकार के हाथ में और यंत्र में केन्द्रित है।

अब हम जिस जगह तक पहुँचते जा रहे है, वहाँ सम्पति सत्ता से भिन्न नहीं है, सत्ता ही सम्पत्ति है।

फिर इसके पीछे एक तर्क है। एक पूरा तत्त्व-दर्शन उसके पीछे है। वह तर्क और दर्शन बताता है कि सम्पत्ति के निजी होने से गड़बड़ होती है। परिवारिक भी वह नहीं समझी जा सकती, क्योंकि परिवार का स्थापित स्वार्थ हो जाता है, उससे पूँजीवाद उत्पन्न होता है। कुछ परिवार मिल जाते और पूँजी इकट्ठी करके श्रम का और श्रमिक का शोषण करने लगते हैं। ऐसे बड़ी विषमता पैदा होती है। कहीं खाने तक को नहीं रहता, कहीं सड़ता और बिगड़ता रहता है। ऐसे समाज में फटाव पैदा होता है और दुःख बढ़ता जाता है। संपन्न कुछ ही मालूम होते हैं, अधिक दीन-हीन बने रहते हैं। इसलिए निजी सम्पत्ति को ही मिटना चाहिए। सम्पत्ति जितनी है सारे समाज की रहे और सबको यथावश्यक मिले। ऐसे आपा-धापी नहीं रहेगी और समाज खुशहाल होगा। शोषण नहीं होगा, दैन्य नहीं होगा और दुःख भी नहीं होगा।

इस तत्त्व-दर्शन ने गहरा विश्लेषण किया और रोग का निदान जा पकड़ा और पूँजी और श्रम के विग्रह में। उसने बताया कि पूँजी के मूल में श्रम है, इसलिए यह पूँजी के बल रहने वाला श्रम का शोषक है। अतः सत्ता सीधी श्रम और श्रमिक के हाथ में हो तो सब ठीक हो जायेगा, 'को-एगजिस्टेन्स' का सिद्धान्त स्वीकार करलें तो आज के इस युग में दोनों विचारधारा एक-दूसरे से इतनी अधिक प्रभावित हो जायेंगी कि दोनों तत्त्वतः एक-दूसरे के अनुकूल बन जायेंगी।

परन्तु वास्तविकता यह है कि आज दोनों विचारधाराओं के एक-दूसरे पर ज़रा भी विश्वास नहीं है। दोनों की धारणा है कि यदि वे दूसरे पक्ष को कुचल नहीं देंगे तो दूसरा पक्ष कालान्तर में उनका विनाश कर देगा।

कहने को तो कहा जाता है कि आज का विश्व बहुत छोटा हो गया है। परन्तु व्यवहार में यह देखकर आश्चर्य होता है कि आज भी संसार के विभिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के बारे में कितनी अशुद्ध और गलतफहमियों से भरी धारणाएँ बनाए हुए हैं। विश्व के साम्यवादी राष्ट्रों की जन-संख्या आज 80 करोड़ से भी ऊपर है, पर संयुक्त राष्ट्र अमरीका का एक औसत नागरिक आज भी यह विश्वास करता है कि संसार-भर में से साम्यवादी विचारधारा का नाश कर दिया जा सकता है और वह भी समझा-बुझाकर नहीं, बल्कि शस्त्रों के भय या प्रयोग से। उधर चीन और रूस में अमरीका और उसके साथी राष्ट्रों के सम्बन्ध में बहुत ही भ्रान्त धारणाएँ विद्यमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वहाँ समझा जाता है कि सम्पूर्ण अमरीका और सम्पूर्ण ब्रिटेन मैकार्थी की कट्टरपंथी विचारधारा का अनुयायी है।

विश्व की इन उलझनकारी परिस्थितियों में मानव-जाति के लिए बचाव का एक मार्ग ही बाकी है और वह मार्ग है स-विद्यमानता के सिद्धान्त को स्वीकार करना। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान में इसी सिद्धान्त की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई थी। पर संसार के राष्ट्र किस शीघ्रता और किस आसानी से संयुक्त राष्ट्रों के मानवीय अधिकारों के घोषणा-पत्र को भूल गये हैं, यह देखकर अचम्भा होता है।

मानव-जाति का लम्बा इतिहास इस सचाई का साक्षी है कि कभी किसी राष्ट्र के विचार जबरदस्ती नहीं बदले जा सके। जब कभी किसी राष्ट्र या जाति को दबाने या डराने का प्रयत्न किया गया, तब-तब विद्रोह और क्रान्ति का जन्म हुआ। मगर आज भी संसार के उन्नत कहे जाने वाले राष्ट्र एक-दूसरे को दबाने और डराने का प्रयत्न कर रहे हैं। हजारों वर्ष हुए हमारे देश के महापुरुष महात्मा बुद्ध ने कहा था कि 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्' अर्थात् अक्रोध से क्रोध पर विजय प्राप्त करो और दुष्ट को अपनी साधुता से जीतो। इसी बात को हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इस रूप में कहा कि हिंसा पर केवल अहिंसा और असत्य पर केवल सत्य द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है। इस बात के सिवा दूसरी राह ही नहीं है। एक हिंसा दूसरी हिंसा को जन्म देती है और इस तरह हिंसा का यह सिलसिला कभी समाप्त ही नहीं होता।

भारत के प्रधानमंत्री ने हाल ही में विश्व-भर का ध्यान सह-विद्यमानता की ओर खींचने का प्रयत्न किया है। आवश्यकता इस बात की है कि संसार के प्रजातंत्रवादी राष्ट्र इस सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार करें और इसे क्रियात्मक रूप दें। पश्चिमी प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों का सही नेतृत्व करने की शक्ति आज भी केवल इंग्लैण्ड में है। यह सन्तोष का विषय है कि हाल में ही इंग्लैण्ड की मज़दूर पार्टी के नेताओं का शिष्टमंडल रूस और चीन होकर लौटा है, उसकी राय से भी सह-विद्यमानता का सिद्धान्त ही आज के मानव-समाज को विनाश से बचा सकता है। आज वह समय आ गया है जब ब्रिटेन के नेतृत्व में सभी पश्चिमी राष्ट्र सह-विद्यमानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें और इस संबंध में भी अमरीका अपने को उसी तरह अकेला अनुभव करे, जिस तरह उसने जिनीवा कान्फ्रेंस के अवसर पर किया था। मानव-जाति को आसन्न संकट से बचाने का एकमात्र यही उपाय है।

अक्तूबर, '54.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वत्व, सम्पति और सत्ता : 2

प्रतीत होता है, चूक वहाँ हुई जहाँ सत्ता को हमने सम्पत्ति मूलक बनने दिया। सम्पत्ति होगी तो नीति वहाँ नहीं रहेगी। नीति अविरोधात्मक शक्ति है, सम्पत्ति की शक्ति विग्रहात्मक है। इसलिए जब सत्ता सम्पदा के साथ तत्सम हुई तब नैतिकता वहाँ से तिरोहित हो गई और पाशविकता ही उसका बल बन गई। ऐसे सत्ता सत्य की नहीं रही, मानो वह अधिकाधिक असत्य के दुर्ग के रूप में दिखाई देने लगी। ऐसे कूटनीति का अर्थ हुआ राजनीति, जिसका अर्थ हुआ अवनीति।

इसका निराकरण कैसे हो ? उपाय यही होता है कि हम अपने बीच ऐसी सत्ता की सृष्टि, निर्माण और नियोजन करें जो सम्पत्ति मूलक न होकर नीति मूलक हो। दूसरे शब्दों में, वह अपरिग्रही हो, संग्रही न हो। ऐसा होने पर साख शुद्ध होगी, 'क्रेडिट' शुद्ध होगा, मुद्रा श्रम की विरोधी न होगी बल्कि श्रम की प्रतीक होगी। उस हालत में धन और श्रम में शोषण का संबंध न रह पायेगा। वह संबंध सहयोग का और पूर्ति का होगा।

स्पष्ट है कि यदि हमने सत्ता को सम्पति से शुद्ध रखना विचारा तो हमारी अर्थ-रचना और समाज-रचना एकदम दूसरी ही हो रहेगी। उसका अतिकेंद्रीकरण अनायास ही कम हो चलेगा। लोग सटे-सटे नहीं, एक-दूसरे को अवकाश देते हुए रहना पसन्द करेंगे। यानी वे परस्पर खुले रहेंगे पर उस खुलेपन में सद्भाव का संचार सहज रह सकेगा। अभी तो घिर-घुटकर वह सद्भाव दुर्भाव बन जाता है और मान-संबंध स्वच्छ और हार्दिक न रहकर राग-द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। अर्थ-रचना और कर्म-रचना तब विकेन्द्रित होगी और व्यक्ति जी से काम करेगा, किराये पर नहीं करेगा। ऐसे स्वाधीनचेता होने के साथ वह सहज सदाशय होता जायेगा। पाप-वृत्ति घटेगी, क्योंकि सामाजिकता बढ़ेगी। कर्तव्य बलात् न होकर सहज होगा और अपने-अपने स्वभाव को सिद्ध करने और तदनुसार बरतने और विकास करने का सबके पास चाव और अवकाश होगा। स्पर्धा की जगह सम्बन्ध सहयोग का पनपेगा और विविधता तब हमारे लिए प्रीति और सौन्दर्य का निमित्त होगी, कष्ट का कारण न होगी। समता तब समस्या न होगी, क्योंकि दूसरे की समृद्धि में हमें आन्नद प्राप्त होने लगेगा।

यह बिल्कुल ही दूसरी जीवन-पद्धति है। इसमें व्यक्ति से हरण कर संपत्ति के स्वत्व को स्टेट की शरण देने का सवाल नहीं आता। स्टेट में जब संपत्तिमूलक स्वत्व एवं सत्ता का भाव पैदा होता और बढ़ने दिया जाता है तो वह अनिवार्यता से युद्ध की ललकार का रूप ले उठता है। स्टेट तब सेठ बनती है और अपनी संपत्ति की रक्षा और बढ़वारी के लिए नाना उपाय रचती है। रक्षा के लिए फौज और अस्त्र-शस्त्र; बढ़वारी के लिए प्रबल प्रचार और मंडी के लिए राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विस्तार। मानो व्यक्ति का धर्म अपरिग्रह इसलिए हो कि सारा संग्रह स्टेट के हाथ आ सके।

आज के हमारे भारतीय जीवन में इस दुहरी नैतिकता का दुष्परिणाम साफ़ देखने में आता है। गांधीजी ने बताया अपरिग्रह, लेकिन उस अपरिग्रह को मानते हुए भी संस्था के नाम पर परिग्रह सही समझा गया। परिणाम यह कि बड़े-बड़े फंड तेज और चैतन्य उपजाने की जगह जड़ता और परावलंबिता पैदा करने लगे। सत्य यदि है तो अखंड है और नीति भी अद्वितीय है। अन्यथा दोहरी नीति से तो आदमी चलकर फटता और मरता ही रहा है। उस पद्धति से कोई खुलता नहीं, बंधन और कसता और उलझता ही जाता है।

मार्क्स-दर्शन ने विश्लेषण तो काफी दूर तक सही किया, लेकिन 'डिक्टेटरशिप आव द प्रोलितारियत' उसके लिए कुछ वही चीज़ हो गया जो श्रद्धालु के लिए स्वर्ग हो जाता है। वहाँ भावना से काम लिया गया, तर्क का साथ छूट गया। हम जान लें कि स्टेट, जब तक वह संपत्ति मूलक है, कभी भी समाज से तत्सम नहीं हो सकती। तब वह हुकूमत है और एक वर्ग या दल के ही हाथ हुकुमत रह सकती है। एक हाकिम तभी हो सकता है जब अनेक उसके तले महकूम हों। शासन यदि नैतिक से अधिक है, तो स्पष्ट है कि वह आत्मीय नहीं शासकीय शासन है, जिसके नीचे प्रजाजन शासित हैं। इस तरह संपत्ति-वाचक रहकर सत्ता ऐसी नहीं हो सकती कि जिसमें दो वर्ग न हों; एक जो अपने को राजा समझे, दूसरा जो अपने को प्रजा अनुभव करे। लाख लोकतंत्र का हम नाम लें और चुनाव का परिणाम चाहे सौ फीसदी ही दिखाई दे, पर श्रेणी-भेद और दुराव और दौरात्मय संपत्ति मूलक राज्य में रहने ही वाला है।

तो यह समस्या कि संपत्ति का स्वत्व कहाँ रहे यह कह देकर समाप्त नहीं होती कि वह व्यक्ति में न रहे। सच पूछिये तो समस्या वहाँ से आरंभ होती है। स्वत्व व्यक्ति में बंद नहीं है, इसकी पहचान से तो आदमी शुरू ही करता है। दुनिया में कहीं भी देखिये, आदमी का अपना स्वत्व सर्वतंत्र स्वतंत्र और अबाधित नहीं है। फिर संपत्ति का स्वत्व कहाँ माना जाये? शब्द चल रहे हैं, 'सोशलाइजेशन' और 'नेशनलाइजेशन'। यानी समाजीकरण और राष्ट्रीयकरण। राष्ट्रीयकरण का मतलब साफ़ है कि उसका स्वत्व और अधिकार राष्ट्रीय सरकार के पास हो। समाजीकरण का क्या आशय है, स्पष्ट ही यह स्पष्ट नहीं है। अंत में उसकी अर्थ-निष्पत्ति भी यही होती है कि वह राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो जाये। व्यवहार में इस तरह समाजीकरण दलीयकरण का रूप लेता है, क्योंकि सरकार का यंत्र दल के हाथ में ही हो सकता है।

इस सब विचार का परिणाम यह निकलता है कि यदि हमें युद्ध से छुट्टी पानी है तो राष्ट्र-सत्ता को संपत्तिमूलक न रहकर नीतिमूलक बनना होगा। ऐसा तभी संभव है जबकि राष्ट्रों की अर्थ-रचना और तंत्र-रचना नीचे से ही संपत्तिमूलक न हो, नीति मूलक हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा अर्थ-तंत्र अतिकेंद्रित न होगा। वहाँ की समाज-व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था ऐसी न होगी कि व्यक्ति मन में प्रीति और हाथ में उद्यम रखकर भी अपने को असहाय अनुभव करे और सरकार की कृपा-कोर पर एव श्रमहीन पुरुष सर्वसम्पन्न बन जाये। उस राष्ट्र के जीवन का मूल श्रम में होगा और शक्ति भी सेना में नहीं, श्रद्धा में होगी। शहर और गाँव में वहाँ विरोध न होगा; शहर साहूकार और गाँव ताबेदार न बन पायेगा। उस देश की संस्कृति और सभ्यता भी चमक-दमक और जोर-शोर की न होगी, बल्कि गंभीर, भव्य और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्निग्ध होगी। संपत्ति वहाँ किसकी होगी, यह प्रश्न हो तो साफ़ है कि वह केवल उपयोग की होगी। संपत्ति में लोगों का अपरिग्रह भाव होगा। कोई यदि संपत्ति को अपनायेगा तो वह केवल कर्तव्य भाव से ही अपना सकेगा। उस पर छीन-झपट, बदाबदी होने की आवश्यकता न रहेगी।

साफ है कि एक ऐसा राष्ट्र किसी के लिए भय का कारण न होगा। किंतु उतना ही साफ यह भी है कि उस राष्ट्र को स्वयं किसी का भय न होगा।

आज की समस्या राष्ट्रवाद में से बनी है और युद्ध भी बहुत-कुछ राष्ट्रवादों में से उत्पन्न होता है। राष्ट्र असल में क्या है? एक जगह काँटों का तार बाँध दिया और कहा कि इधर हमारा राष्ट्र है और उधर तुम्हारा राष्ट्र है। वह लकीर कोई पहले से ज़मीन पर बनी नहीं होती, ऊपर से हम ही वहाँ रोक और बाड़ खड़ी कर लेते हैं। राष्ट्र की कल्पना जब तक इस तरह बाड़-बंद बनी रहेगी और राष्ट्रसत्ता की धारणा भी उन्हीं हदबंदियों पर टिककर खड़ी होगी, तब तक अनिवार्य है कि एक फौजी दस्ता किर्च-बंदूकें उस तरफ ताने इधर खड़ा रहे, और वैसा ही एक दस्ता अपनी किर्च-बंदूकें इस तरफ़ ताने रहे। यह हालत बदल या सुधर ही नहीं सकती जब तक कि सत्ता, राष्ट्रसत्ता या राष्ट्र-राज्य संपत्तिमूलक समझा जाता रहेगा। ध्यान रहे कि राष्ट्रों की सीमा-रेखा पर दो खेत आपस में एक ओर ऐसे जुड़े हो सकते हैं कि उनके मालिक किसानों को रोज़ एक-दूसरे से काम पड़ता हो, लेकिन अपने-अपने राष्ट्रों के नाम पर दोनों को एक-दूसरे के लिए गैर यहाँ तक कि दुश्मन बनना पड़ सकता है। इस अस्वाभाविक और अप्राकृतिक स्थिति को ही आज की संपत्तिमूलक राष्ट्रसत्ताएँ सबसे बड़ा सत्य बताकर आत्मरक्षा की दुहाई पर युद्ध रचा करती हैं। प्रजाएँ कभी नहीं लड़तीं, कभी नहीं लड़ना चाहतीं। राजकीय स्वार्थ लड़ते हैं और देश के नाम पर वे ही प्रजाजनों को लड़ाते हैं। प्रजाकीय राज्य यानी सच्चे प्रजातंत्र या लोकतंत्र का रूप ऐसी सत्ता का होगा जो उत्तरोतर नीतिमूलक है, इसलिए कम-से-कम कलेवरबद्ध है। सत्ताओं का रूप जब ऐसा होगा तब उनमें टक्कर या रगड़ न होगी, जैसे दो दीपकों के प्रकाश में और उनकी सीमाओं में रगड़ नहीं होती है।

एक भारी भ्रम हम पर सवार है। सब जानते हैं कि हमें राज्यहीन समाज पर पहुंचना है। फिर भी जाने किस विडम्बना से हम उस समाज पर पहुँचने के लिए राज्य को स्वयं में संपत्तिवान और सर्व-समर्थ, यहाँ तक कि व्यक्ति-केंद्रित बनाते जाने में अयुक्तता नहीं देखते। आज तो जैसे संगठित राष्ट्रसत्ता स्वयं-प्रतिष्ठ मूल्य बन गई है। मानो मानवता एक न हो और उसकी अखंडता सर्वोपरि सत्य न हो।

आवश्यक है कि ऐसे पुरुष रहें जो उस अखण्ड मानवता के मूल्य को किसी भी कीमत पर नष्ट न होने दें। अच्छा है कि यह वर्ग इतना बल प्राप्त करे कि राष्ट्रसत्ताएँ उससे स्वतंत्र होकर प्रमत्त और निरंकुश न बन सकें। इससे भी अच्छा यह हो कि कोई राष्ट्र उस सनातन मूल्य को ही हाथ में लेकर अपनी सत्ता का ऐसा निर्माण करे कि वह संपत्तिमूलक न होकर नीतिमूलक हो। दूसरे शब्दों में, उसकी शक्ति आत्मिक हो और वह दूसरे देशों से शस्त्रास्त्र के बल पर स्वार्थ-विग्रह की भाषा में बात न करे, बल्कि सहानुभूति और समग्र हित की भूमिका पर आत्मीय भाव से बात करे। ऐसी सत्ता सेनाश्रित न होगी, वह अविरोधी होगी और इसी कारण उसकी बात अनिवार्य हो रहेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधीजी को हमने राष्ट्रपिता माना है। वह यदि पिता थे तो ऐसे ही राष्ट्र के थे—यानी उस राष्ट्र के जिसकी सत्ता संपत्ति से अधिक नीति में आधार रखने वाली होगी और जिसकी शक्ति भय में नहीं प्रीति में होगी। वह राष्ट्रपुरुष थे, किंतु उससे अधिक वह आत्म-पुरुष थे। उस अर्थ में वह दुनिया के थे। उन्हें आशा थी कि उनका देश, यह भारत, वह राष्ट्र बनेगा जो पुरानी वस्तु-सत्ता की जगह नई अध्यात्म-सत्ता की परंपरा आरंभ करेगा और जिसका राष्ट्रवाद सही और पूरे अर्थों में मानवतावाद पर आधारित होगा।

यह आशा क्या झूठ होगी? पर उसे सच करने के लिए जड़-मूल से क्रांति की आवश्यकता है। क्या हम उसके लिए उद्यत हैं, उद्यत होंगे? काम कठिन है, पर असल में करने लायक वही है।

अक्तूबर, '54.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वि-सर्जन की शक्ति

विनोबा ने आपके इस आश्रम को वि-सर्जन नाम दिया। विनोबा की अद्वितीयता ही इसे न समझ लीजिये, न भाषा का कोरा चमत्कार मानिये। वि-सर्जन में से सचमुच विशेष सर्जन होता है। सबसे बड़ा और नया सर्जन विज्ञान ने जो किया है, वह है अणु का भंजन। अणु को माना जाता था कि वह वस्तु की इकाई है, और अटूट है। आइंस्टाइन ने बताया कि वस्तु का ठोसपन असल में सोई शक्ति का ही नाम है। ठोसपन छोड़कर मैटर अपना वि-सर्जन करता है तो चिन्मय बन जाता है। वस्तु जब स्वयं शून्य होती है, अर्थात् अपने को विसर्जित कर देती है तब शक्ति बनकर प्रगट होती है।

सोये पड़े चित्—पिण्ड को ही मैटर कहिये। उसके छोटे-से-छोटे अणु को विज्ञान ने पाया, पकड़ा और फिर तोड़ डाला। इसी में से अणुशक्ति का उदय हुआ और अणुबम बन गया। अणुत्व विसर्जित होने से महाशक्ति प्रगट हो आई। यह कहलाया फिज़न बम। फिर उसके बाद फ्यूज़न बम बना। पहले में अणु वियुक्त होता है, दूसरे में उसके बाद प्रक्रिया संयुक्त होने की है। इस संयुक्तिकरण अर्थात् फ्यूज़न में जो शक्ति प्रगट होती है, वह पहले से सैकड़ों गुना हो जाती है। पदार्थ यों जड़ और निष्क्रिय दिखाई देता है। हम उससे या उसकी आसक्ति से, जितना चिपटते हैं उतने हम भी जड़ और बेकार होते हैं। यदि चिपटें नहीं, अपने को बचायें नहीं बल्कि विसर्जित करने की तैयारी रखें तो महाशक्ति पैदा कर सकते हैं। इसकी मिसाल गांधी हैं। सामान्य से भी कम, सब-नार्मल स्थिति से चले और अवतार की ऊँचाई पर पहुँच गये। आखिर उस विराटता के विकास की प्रक्रिया क्या थी? देश के वह एकछत्र नेता बन गये। उस उनके नेतृत्व के निर्माण का क्या रहस्य था? मामूली तौर पर भी छोटी-सी लीडरशिप के लिए बड़ी जद्दोज़हद करनी पड़ती है। पर गांधी की स्वयं शून्य बनने की साधना रही। उन्होंने कुछ और बनना ही नहीं चाहा। अपने को विसर्जित करने में लगे रहे। फल यह कि शून्य बनते-बनते विराट् बन गये। गांधी की ताकत ऐसी बनी कि उनका व्यक्तित्व भारत की अखिलता को ही नहीं वरन् मानवता की समग्रता को मूर्त करने वाला माना गया। इसके मूल में वि-सर्जन मंत्र के सिवा भला क्या रहस्य हो सकता है?

जो आदमी अपने को ऊँचा रखता और दूसरे को उस निमित्त अपना साधन मानता है, वह उन्नति करता दीखता हो, लेकिन हिंसा ही करता है। यानी वह उन्नति टिकने वाली नहीं होती है। न उसमें कभी चैन मिल पाता है। स्वयं को साध्य और अन्य को साधन बनाते हैं तो अशांति बढ़ती है। लेकिन जहाँ दूसरे सब व्यक्ति साध्य होते हैं और मैं उनके हित निमित्त साधन बनता हूँ तो यह अपने को विसर्जित करने की भावना अहिंसा है। कृत्य तो ऊपरी होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और प्रभाव उस पर निर्भर नहीं है। शक्ति का स्रोत विसर्जन में है। स्व को पुष्ट करने वाला कर्म बंधनकारक होगा, उस स्व को विसर्जित करने वाला मुक्तिदायक बनेगा।

इतने गहरे विचार के आधार पर यह संस्था बनी है। पर आप कहते हैं कि संस्था को अभी यश नहीं मिला है। क्यों यश नहीं मिला है? महामंत्र मिल गया है तो फिर उसका महाफल क्यों नहीं मिला? भौतिक क्षेत्र में वह मंत्र चमत्कार दिखा रहा है तो नैतिक क्षेत्र में चमत्कार का उद्घाटन क्यों नहीं दीखता? निश्चय रखना चाहिए कि त्रुटि कहीं प्रयोग में ही होगी। या जो साधन रूप हम हैं सो हममें अन्यथा सिद्धान्त निरपवाद सिद्ध है। सारे इतिहास में उसकी महिमा और विभूति दिखाई देती है। आत्म वि-सर्जन जिन्होंने किया है वे मानो अमर बन गये हैं, मृत्यु का वरण किया, ऐसे लोग ही इतिहास में जिंदा हैं जिन्होंने अपने को मृत्यु से बचाना चाहा, वे जीते जी मरे से बने रहे। ऐसे भी लोग हुए हैं जो लाखों मौत के घाट उतारने में कारण बने। इतिहास उन्हें याद करता है, लेकिन फ्रीक के तौर पर उतना भी इसलिए आगे बढ़कर मौत के साथ आखिर खेल तो खेला है। फिर भी समय की धूल में वे सब दब जाते हैं। जिये और जीते रहे वे जो जीने से चिपटे नहीं और मृत्यु का भय नहीं माना है। वे जो वि-सर्जन को साथ लेकर चले हैं। यीशु शूली पर चढ़े, तब इतने एकाकी कि मानने वाला कोई पास भी न ठहरा। लेकिन ईसा क्या मर सके? मरने का ढंग दारुण था। लेकिन उससे क्या होता है। बल्कि शायद उस ढंग के अमानुषिक होने से ईसा का विसर्जन और भी चमका और इस नाम में से ताकत ऐसी उठी, ऐसी उठी कि इतिहास पलट गया। रोमन साम्राज्य खत्म हो गया और उसकी जगह यीशू के साम्राज्य ने ली। आगे जाकर जब वह चर्च बना, वि-सर्जन की जगह व्यसन का साम्राज्य हो गया, तब उसकी शक्ति समाप्त हो चली।

गांधीजी ने जो साधा वह यही था। वह उस मंत्र के प्रयोक्ता और प्रतीक बने। हम अधिकांश उनमें से यह मंत्र प्राप्त नहीं करते। हम तो उन्हें अपने राष्ट्र का नेता, त्राता मानकर पूजते हैं। उनके उपकार देखते हैं और उतना ही उनको मानते हैं जितना उन्होंने देश और हमारा काम साध दिया।

असल में शक्ति में क्रम विकास ही रहा है। आग में धुआँ बहुत निकलता है तो उसमें ज्वाला उतनी नहीं हो पाती। इतिहास शक्ति और शास्त्र के रूपों के विकास का इतिहास भी है। मनुष्य की शक्ति पंजे और दाढ़ की नहीं थी, वह शरीर की नहीं हो सकती थी। शरीर से, हर तरह से, पशु से वह कम था। तब बुद्धि के रूप में उसमें शक्ति उदय में आई और आदिम आयुध बने। यहाँ से चलते-चलते आज के शास्त्रास्त्र बने हैं जो अब आणविक तक होने आ गये हैं। इन सबमें से शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई है। रूप जितना सूक्ष्म होगा फल उतना अमोघ होगा। इसी विकास में बढ़ते-बढ़ते हम देखेंगे कि शक्ति अपने अधिष्ठान के लिए हिंसा को छोड़ रही है और अहिंसा को अपना रही है।

असल में शक्ति हिंसा है ही नहीं। शक्ति सब अहिंसा की है। नहीं तो शेर क्यों डर के मारे पहाड़ों में छिपा रहता जबकि आदमी शान से शहर बनाकर रहता है! इसलिए यह चक्षु भ्रम है कि शक्ति हिंसा में है। शक्ति का सब स्रोत ईश्वर में है, सत्य में, अहिंसा में है। अहिंसा को समझाना पड़े, इसकी आवश्यकता नहीं आनी चाहिए। आग के गुण को समझाने की ज़रूरत नहीं रहती। अहिंसा को समझाना इसलिए पड़ता है कि वह शब्द में है, प्रत्यक्ष प्रयोग में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। अहिंसा सक्रिय होती, प्रत्यक्ष वि-सर्जन में फलित होती, तो यश स्वयं आपके पास खिंचा चला आता।

गांधीजी ने कहा न था कि अहिंसक एक भी काफी हो सकता है। उस एक से भी जगत् को आश्वासन मिलेगा। सच पूछिये तो आज आश्वासन हमारे देश में नहीं है। धर्म का स्वल्प भी बड़े भय से त्राण करता है। सत्य के आचार की तो ठीक है, उच्चार भी भय दूर करता है। यदि आपका शब्द भाव और कर्म में उतरकर प्रत्यक्ष बनता है तो उसे किसी दूसरे सहारे की ज़रूरत नहीं रह जाती है। क्या आत्म-प्रत्यय दोष को कहीं दूसरी जगह डालने जायेगा?

मैं मानता हूँ कि यदि देश के पास उसका सत्य जगा होता, हमारी व्यवस्था में और मानव-संबंधों के ताने-बाने में से एकता लाता हुआ प्रगट होता तो हमें फौजों का आश्रय देखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। हथियार उतने ही ताकत रखते हैं जितना उनके नीचे संकल्प का बल होता है और संकल्प का बल अटूट हो सकता है।

मूल की बात यह है कि वि-सर्जन अपना करेंगे तो सर्जन अपने-आप होगा। प्रगति जितनी होती है, चित् की प्रेरणा में से होती है। इस तरह विसर्जन में से इतना सर्जन होगा कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती। बीज धरती में गलता और मिटता है, तो क्या उसे पता होता है कि वृक्ष आयेगा और वृक्ष पर फल आयेंगे? पर फटकर बीज अंकुर होता, अंकुर वृक्ष होता है और वर्षों-वर्ष वह फल देता रहता है।

हम अनासक्त माध्यम, कैटलैटिक एजेंट, के रूप में काम करें। अधिकार न चाहें। अमुक प्रवृत्ति के हम संयोजक बन जायें, यह भावना भी यदि होती है तो आत्म-श्रद्धा की जगह वस्तु-श्रद्धा हुई माननी चाहिए। सरकार इसी आधार पर चलती है। तभी आत्म-श्रद्धा के बजाय उससे धन की श्रद्धा बढ़ने लग जाती है।

यदि आपमें श्रद्धा पैदा हो जाये, श्रम-श्रद्धा जाग जाये तो कितना अच्छा हो। परंतु आज तो रचनात्मक कार्य-बल के लिए सरकार की अपेक्षा रखता है। बल सरकार के पास से लेना चाहते हैं। पर वहाँ बल पैदा तो होता नहीं, जनता के श्रम में से ही खींचकर आता है। यदि हम सरकार की थैली पर निगाह न रखेंगे, अपना बल पैदा करेंगे, तो सरकार पर बोझ बनने के बजाय समय पर उसके लिए सहारा भी बन सकेंगे; और वैसी आवश्यकता हुई तो यथावश्यक अंकुश का उपयोग भी दे सकेंगे।

दूसरी जगह अर्जन की श्रद्धा है। सब अपने-अपने लिये उपार्जन करने में लगे हैं। उसकी अति शोषण और भ्रष्टाचार फैलाती है। आपके पास वि-सर्जन की श्रद्धा है तो सचमुच संकट दूर हो सकेगा। तब बल पैदा होगा और उसकी मदद सरकार को भी पहुँचेगी। सरकार के पास धन की और सोने की कमी नहीं है। पर उसमें जो लोगों के स्वार्थ का वि-सर्जन गया है उतनी ही शक्ति माननी चाहिए। सरकार कानून से भी धन ले सकती थी। पर कानून से मिलने वाले रुपये में वह शक्ति नहीं हो सकती।

अहिंसक-शक्ति सरकार की शक्ति को कम नहीं करेगी, बढ़ायेगी ही। सरकार की शक्ति बढ़ने का मतलब होना चाहिए जनता का सामर्थ्य और स्वावलंबी होते जाना। राजा का सामर्थ्य स्वयं प्रजा ही तो है। जहाँ राज की समृद्धि का मतलब प्रजा का दैन्य होने लगता है तो वह राज्य फिर टिकता नहीं है। बिजली का प्रकाश दीपक के प्रकाश को काटता नहीं उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायक बनता है। यदि सचमुच देश के पास अहिंसक शक्ति हो, अपने को वि-सर्जन करने वालों की कमी न रह जाये, तो सारी हवा ही बदल जायेगी। देश जो कभी-कभी अपने को फटा और असहाय अनुभव कर आता है, वह जुड़ जायेगा और दूसरे देशों तक के लिए आश्वासन का संबल बन सकेगा।

आपके वि-सर्जन के मंत्र से देश में बलिदानी जन उदय में आयेंगे जो जीवन देंगे और संकट काटेंगे, ऐसी मैं आशा करना चाहता हूँ।

दिसंबर, '62.

विसर्जन आश्रम, इंदौर, में कार्यकर्ताओं को उद्‌बोधन का सार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसा का पुनरुज्जीवन

धर्म के शब्दों के बारे में एक बड़ी कठिनाई यह है कि उनका संबंध सर्वथा अंतरंगता से होता है। इससे जब धर्म की तुला पर कर्म को तोलते हैं, और यह कार्य बहुत आवश्यक है, तब साफ-साफ परिणाम हाथ नहीं आता। सदा ही दुविधा बनी रहती है और मालूम होता है कि किसी कर्म का मान धर्म की अपेक्षा में निश्चित करना प्रायः असंभव है।

कर्म स्वभावज है। इसी तरह धर्म भी वस्तु-स्वभाव है। इन दोनों के बिना जीवन चलता नहीं। लेकिन विचारक लोगों को विचार करते हुए यहाँ तक पहुँचना पड़ता है कि कर्म ही धर्म की बाधा है। यही शब्दावली कर्म-संवर और कर्म-निर्जरा से धर्म का आरंभ बताती है। वहाँ कर्म-बंध है और मोक्ष कर्म के संपूर्ण क्षय की अवस्था का नाम है। जैन दर्शन का सारा ढाँचा ही इस पर खड़ा है। वहाँ कर्म पाप का समानार्थवाची बन जाता है। पुण्य-कर्म भी वहाँ है, अंत में उसे मोक्ष में बाधक बताया है। कर्म से सर्वथा मुक्त आत्मा की अवस्था सिद्धावस्था है और कर्म पुद्गल है। पुद्गल के संयोग और संपर्क के कारण ही भवबंधन और संसार-चक्र है। अतः कर्मनाश में ही मोक्ष है।

श्रीमद्भगवद्गीता के कुरुक्षेत्र में कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न उठने पर अंत में अकर्म के महत्त्व पर बल दिया गया है।

यही उलझन निवृति-प्रवृति की चर्चा में विवाद और बुद्धि-भेद का विषय बनी है।

उलझन, यह शब्द-मीमांसा से कटने वाली नहीं है। शब्द तट तक पहुँच सकते हैं। जीवन की अभ्यंतरता को वे नहीं पा सकते। इससे विवाद और शास्त्रार्थ जबकि विद्वान् का गुण है, तब साधक के लिए दोष है। क्योंकि विवाद में अंत नहीं मिलता है। और शब्दों के द्वंद्व में से जो फेन उठता है उसमें सब धूमिल हो जाता है। अधिकांश उसमें कलुष आ मिलता है।

बात सीधी-सी यह है कि अंतरंगता का सूचक कोई बाहरी मान या लक्षण बन नहीं पाता। बताते हैं, वह फिर कृत्रिम और अविश्वसनीय पड़ जाता है। यह गड़बड़ बुद्धिवादी को इतना परेशान करती है कि वह अंत में सब धर्म और अध्यात्म से छुट्टी पा लेना चाहता है और जीवन-शोध के लिए भी विज्ञान की शरण लेता है। विज्ञान में कुछ स्वतःसिद्ध मानने का आग्रह नहीं है और प्रयोग के लिए वहाँ सदा अवकाश है। इसलिए समझदार लोग, जिन्हें शब्द से अधिक सार से मतलब है, विज्ञान की अधिक सुनते हैं और उसीका सहारा लेते हैं। मनोविज्ञान, जीवनविज्ञान, समाजविज्ञान आदि-आदि। वे श्रद्धा अनावश्यक कहते हैं और जिज्ञासा को पर्याप्त मानते हैं। फिर जितनी दूर तक प्रयोग और तर्क उन्हें ले जायें वहीं तक वे संतुष्ट रहते हैं। अज्ञेय के प्रति कोई निश्चित धारणा या वृत्ति बनाने से वे बचते हैं और विजिगीषा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकर वे बस तटस्थ हो रहते हैं।

ऐसी अवस्था में धर्म के शब्दों को यदि टिकना है, बल्कि प्राण-वन्त और ज्वलंत बनना है, तो आवश्यक है कि उनमें तत्त्वार्थ नहीं प्रत्युत जीवन का रक्त, प्राण का सार डाला जाये। अन्यथा वह शब्द इतने कोरे और फालतू बन जायेंगे कि समझदारों के बीच उनका उच्चारण विडंबना जैसा जान पड़ेगा।

धर्म के शब्द प्रायः नकारांत हैं। यथार्थ में नकारादि हैं। जैसे अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह। ये शब्द 'अ'—पूर्व इसलिए है कि वे बाहरीपन से विमुख हैं। किंतु विमुखता में ही उनका सार नहीं है। जैसे बाहरी पदार्थ से आँख मींच लेने या पीठ फेर लेने में अपरिग्रह नहीं है। चोरी न करना भर अस्तेय नहीं है। न हिंसा का अभाव अहिंसा है। फिर अस्तेय क्या है? अहिंसा क्या है? यह प्रश्न बनता है।

जिसको अस्तेय और अहिंसा और अपरिग्रह की लगन नहीं है, वह उन शब्दों की कितनी ही बाल की खाल निकाले उसको सार नहीं मिलेगा। पर्त के भीतर पर्त मिलते जायेंगे। उनके भीतर और पर्त। शरीर को चीरते-फाड़ते जाइये। आत्मा कहीं मिलने वाली नहीं है। ज्ञान का यही हाल है। धर्म-ज्ञान का और विशेषकर। श्रद्धा के बिना ज्ञान सम्यक् हो नहीं सकता। क्योंकि उपलब्धि जिसकी श्रद्धा में है वह इंद्रियों की पकड़ में आ नहीं पाता। इसलिए मति और श्रुति के ज्ञान से वस्तु का कैवल्य बचा ही रह जाता है।

अब यहाँ अहिंसा को लें।

देह है तब तक कर्म है। तब तक हिंसा भी है। अधिक-से-अधिक हम यह कर सकते हैं कि शरीर को हिलने-डुलने न दें। इंद्रियों को रोक लें। आँख देखे नहीं और दूसरी इंद्रियाँ भी अपना काम करें नहीं। मान लीजिये कि कान को भी हम इतना साध लेते हैं कि बाहर शब्द सुन न पाये। सर्वथा ध्यानस्थ और समाधिस्थ हो जाते हैं। पर जब तक मर पूरी तरह नहीं जाते, तब तक अंदर धड़कन तो रहने वाली है, श्वास तो चलता ही रहेगा। बारीकी से देखें तो कहना कठिन है कि इतने में भी किंचित् हिसा समाई नहीं है। यानी जीवन का स्वीकार हिंसा का भी स्वीकार है।

इस स्वीकृति की वेदना में से ही अहिंसा का धर्म अनिवार्य और अमोघ बनता है। अर्थात् अपनी अहिंसा से संतोष नहीं लिया जा सकता। अहिंसा की शर्त ही यह है कि व्यक्ति-व्यक्ति रहे कि मुझसे अब भी हिंसा हो रही है। संत ने सदा स्वीकार किया है कि उन-सा कुटिल, खलकामी कोई न होगा। कहा जा सकता है कि जो ऐसा अनुभव करता है, संत वही है। असंत लोग अपने बारे में कातर नहीं होते। वे अपने को मानते हैं और विनय की जगह उन्हें स्वाभिमान प्रिय होता है।

अहिंसा का भी मूल सार यह है कि व्यक्ति में अपनी हिंसा की पहचान और उसका पश्चात्ताप बढ़ता जाये और उसी अनुपात में अपनी अहिंसा की त्रुटि उसे उत्तरोतर अधिक अनुभव होती और चुभती जाये।

इस तरह देखेंगे तो अहिंसा किसी भी कर्म के साथ जड़ित नहीं दिखाई देगी। दीन को दान दिया, इसमें अहिंसा नहीं दीखेगी। रोगी की परिचर्या की, इसमें भी अहिंसा नहीं जान पड़ेगी। कृत्य के साथ उसका संबंध ही दीखना बंद हो जायेगा। दस दिन एकाशन किया, पाँच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिन निराहार व्रत रखा, इतना समय साधु-सेवा में लगाया, आदि-आदि बातों में से अहिंसा और धर्म के पालन की सांत्वना न मिलेगी। असल में धार्मिक व्यक्ति को अपने से संतोष कभी मिलना ही नहीं चाहिए। धर्म का मूल्य, अर्थात् अहिंसा का मूल्य, आत्मव्यथा है जिसमें से निरंतर आत्म-विसर्जन की प्रेरणा मिलती रहती है। इसमें से अनंत, अपार, अनुकंपा की उपलब्धि व्यक्ति को होती है। इसी आध्यात्मिक अवस्था का लक्षण बाहरी आकिंचन्य है। जिसे दूसरे दुःख उठाना कहते हैं, उसी में उसे सुख अनुभव होता है और समझा जाने वाला सुख उसे काटता है। इस मनोदशा का तर्क सहसा हमें हाथ नहीं आता। मामूली तौर पर जिसे प्रतिक्रिया कहते हैं, अर्थात् स्वरति का हठात् विपर्यास, वही हम वहाँ देखने लग जाते हैं। समझते हैं कि दुनिया से ये रूठे और उलटे लोग हैं। उन्हें शायद इसी रस की आवश्यकता है। काया-क्लेश में मिलने वाला वह यही अधम रस है।

मैं यह नहीं कहूँगा कि मूल में यह प्रतिक्रिया साधु लोगों में मिलती नहीं है। बल्कि यह भी माना जा सकता है कि अधिक अंश में लिंग-वेश की साधुता मूलतः प्रतिक्रियात्मक है। पर धर्म-भावना जहाँ ज्वलंत है, उसको उस प्रतिक्रिया के बाद से तनिक भी हृदयंगम नहीं किया जा सकता। जिसमें अजस्र कारुण्य, सहानुभूति, पर-संवेदन और नितांत उत्सर्ग प्राप्त होता है, उस प्रेरणा के उत्स से बड़ी उपलब्धि इस संसार में कोई नहीं है। इसी को भक्ति और तितिक्षा कहते हैं।

मानस चेतना की इस अवस्था में से जो निकलता है, सहज अहिंसात्मक होता है। भोजन तो भोजन है। साधु में वह धर्म को पोषण देता है। असाधु में वही पाप को बल देता है। इस तरह स्पष्ट होगा कि अहिंसा का संबंध कृत्य के बजाय आत्म से है। अहिंसक का कर्म जैसा स्वतः कुछ होता नहीं। अहिंसक हो सकता व्यक्ति है। अहिंसक का कर्म अहिंसक होगा। व्यक्ति के अहिंसक होने का मतलब उसका उत्सर्गशील होना, सर्वथा विसर्जित होना, अनुकंपा और कारुण्य से भरपूर होना और अपने प्रति आलोचक बने रहना है।

यों देखें तो अहिंसा के प्रचार का क्षेत्र हम स्वयं बनते हैं। अपने से बाहर, अपने से निरपेक्ष, जिसका प्रचार हो सकता है, वह अहिंसावाद भले हो, अहिंसा नहीं है। आग अपना प्रचार नहीं कर सकती। कारण, जिसे वह छूती उसे ज्वाला बना देती है। इस आत्मसात् करने की प्रक्रिया द्वारा वह अपने को फैलाती है। आग के शब्द में जैसी ज्वाला और चिंगारी नहीं है, वैसे ही अहिंसा के वाद में भी अहिंसा नहीं रह जाती।

गांधी के ज्वलंत व्यक्तित्व के स्पर्श का भोग इस देश ने पाया। वह अनुभव अब भी उसकी रगों में है। उस स्पर्श से मिट्टी के आदमी ने अनुभव किया कि वह कुंदन बन गया है। गांधी की अहिंसा चरखे में प्रकट हुई। सत्याग्रह में उसने चमत्कार दिखाया और दूसरे रचनात्मक कार्यों में उसने अपना प्रकाश दिया। चरखा अब भी है, बल्कि पहले से खादी की उपज अब ज़्यादा है। सत्याग्रह भी अनेक सुनने में आते हैं। रचनात्मक कार्य की संस्थाएँ भी गांधीजी के जीवन-काल से गिनती में अब कम नहीं होंगी। यह सब काम अधिक है क्योंकि फण्ड अधिक है। सरकारी रुपया है, निधियों का रुपया है। पर फिर मंदता क्यों है? क्यों है कि आज हर आदमी अपने से और अपने स्वार्थ से चिपटता दीखता है, अपनी आहुति दे डालने की बात उसे कल्पना में भी नहीं सुहाती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों ऐसा है, इसका एक ही उत्तर है। वह यह कि सत्य कृत्य में नहीं है। वाद अहिंसा नहीं है। काम-काज के विस्तार में से आत्मोपलब्धि नहीं है।

धर्म स्वयं कर्म नहीं होता। लेकिन कर्म से वह तटस्थ भी नहीं रह सकता। आत्मा जो विदेह है, शरीर जिसे नहीं है, उसे प्रेत कहते हैं। कर्म में जो व्यक्त नहीं है, वह धर्म प्रेत के समान है। लेकिन धर्म है तो कम, उसे ज्वलंत हो जाना चाहिए। तब वह संसार को बढ़ाने का नहीं, उसको काटने का साधन बनता है, यानी समस्याएँ उससे कटती हैं। जैसे कि धर्महीन कर्म से वे उपजती और बढ़ती जाती हैं।

आज की स्थिति संकट की है। अहिंसा और धर्म का विश्वास खोया जा रहा है। दोष केवल उनका माना जायेगा जो अपने को अहिंसा और धर्म में विश्वास रखने वाले मानते हैं। विश्वास सच्चा हो और पूरा हो तो हो कैसे सकता है कि वह छुए और फैले नहीं। पर है यह कि आध्यात्मिक नैतिक बनकर रह गया है और नैतिक कोरा वादीय बनता जा रहा है। इस तरह स्थिति पर से धर्म का नियमन और शासन एकदम उठ गया है। जो चैतन्य स्वभाव है वह धर्म मानो जड़ हो आया है। स्थिति और परिस्थिति का भार मानो उस पर भारी पड़ रहा है। मैं उस चिनगारी को नहीं समझ सकता जिस पर कोयले का बोझ भारी होता है। अगर सच ही चिनगारी है तो कोयला कितना भारी हो, कितना ही काला हो, चिनगारी उसको दहका और दमका कर ही रहेगी। अगर वह दहक और दमक आज दिखाई नहीं देती तो सिवाय इसके क्या कहा जा सकता है कि आग का दम भरने वालों के पास सच में एक चिनगारी तक नहीं है।

और इस स्थिति के सामने के लिए मुझे आवश्यक मालूम होता है कि शब्द से और वाद से सत्य को मुक्त किया जाये और आत्म की व्यथा और साधना में से शब्द के अंतरंग को उज्ज्वल और सार्थक करके फिर उनको पुनर्जीवित और प्रचंड किया जाये।

अहिंसा एक ऐसा ही शब्द है। आज वह बेजान और ठंडा है। कारण, उसमें बलिदान नहीं पड़ता है। जीवन का अर्पण उसके प्रति नहीं है। धर्म को शास्त्र ने शासन कहा है। यानी जीवन का वहाँ से शासन होगा। शास्त्र का सामर्थ्य यदि धर्म में है तो आज की स्थिति के प्रश्नों पर क्यों वह प्रकट नहीं होता? लोक-जीवन के प्रश्न अगर धर्म की ओर से समाधान नहीं पायेंगे तो धर्म की और धर्म के शब्दों की साख घटती ही जाने वाली है। शास्त्र से और किताब से धर्म जीने वाला नहीं है। कारण, धार्मिक के जीवन से ही जीया है और जीयेगा। धार्मिक से स्वतंत्र धर्म है कहाँ?

अक्टूबर, '59.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसा और सामाजिक समस्या

अहिंसा ऊँचा सिद्धांत है यह तो सभी मानते हैं। प्रश्न और संशय तब होता है जब अहिंसा से सामाजिक और राजनीतिक संकटों के हल का यत्न किया जाता है। अहिंसा से आत्मा को लाभ होता हो यह तो समझ में आता है, पर अत्याचार का प्रतिकार और इलाज कैसे बन सकता है यह सहसा समझ में नहीं आता।

अहिंसा का चलन जिस रूप में दीखता है, धर्म मानने वाले जिस परिपाटी में उसे मानते और पालते हैं, उससे अहिंसा एक निषेधात्मक वस्तु रह जाती है। हिंसा न करना ही वहाँ अहिंसा है। अर्थात् न करना वहाँ प्रधान हो जाता है। यह समझ में कैसे आये कि न-करने से स्थिति सँभल सकती और संकट कट सकता है। स्थिति की माँग सदा है कि कुछ है, कुछ किया जाये। न करने से उलझन कटती नहीं है, ज्यों-की-त्यों बनी रह जाती है। अर्थात् अहिंसा स्थिति और परिस्थिति को सदा अछूता छोड़ती है। शासन या समाज का परिवर्तन ऐसे उसके वश की बात नहीं रह जाती।

अहिंसा के संबंध में यह अभियोग नितांत निराधार नहीं है। बल के साथ उसका योग कम ही देखा जाता है। यदि बल उसमें है भी तो वह स्व-रत है, तप-त्याग में तुष्ट रहता है। वस्तु स्थिति के प्रति उसका पराक्रम प्रगट नहीं होता है।

अहिंसा यदि सृजनात्मक नहीं समीक्षात्मक हो तो यह उसका नकारात्मक परिणाम अवश्यंभावी है। चेतना के सृजनात्मक उत्साह पर तब समीक्षात्मक सवार हो जाता है और तो उसमें से कर्म की हानि होती और निष्क्रियता, निश्चेष्टता फलित होती है। जीवन का कोई व्यापार ऐसा नहीं बचता है जिसमें हिंसा नहीं देखी जा सकती। इसलिए ऐसी निरी समीक्षात्मक अहिंसा, हिंसा के निषेध में ही अपनी पवित्रता और पूर्णता देखती, खोजती हुई कर्म-विमुख बनकर रह जाती है। वह सिद्धांतवादी और आदर्शवादी अहिंसा है जो आलोचना का अधिकार अपनाती है, जीवन संबंधी दायित्व अपने ऊपर नहीं स्वीकार करती है। वह व्यक्ति या अमुक दल के लिए अपने संबंध में एक नैतिक उच्चाभिमान का अवसर देकर समाज में विषमता पैदा करती है। कुछ उस चेष्टा में कर्म-विरक्त अहिंसक साधु बनते हैं, शेष कर्मरत हिंसक संसारी बने रहने को रह जाते हैं। इस प्रकार मानव-समाज विरागी-रागी, श्रेष्ठ-निकृष्ठ, उत्तम-अधम आदि श्रेणियों में बँट जाता है। परस्पर संयुक्त होने में नहीं आता। अर्थात् अहिंसा की उपरोक्त धारणा अंत में वर्ग-चेतना और वर्ग-विग्रह को समाप्त नहीं कर सकती। मूल सामाजिक समस्या उससे और कसती ही है।

किंतु अहिंसा की सर्जनात्मक धारणा भी है, वह जीवन्त धर्म है। वह नकार-निषेध-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूलक नहीं है। वह अहिंसा व्यवहार को काटती नहीं, संपन्न करती है। वह जीवन-विमुख और कर्म-विमुख नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, वह जीवन को वेग देती और कर्म को विराट करती है। हिंसा न-करना उसकी मर्यादा नहीं, वरन् उसका प्रथम चरण भर है। शेष उसमें करने को बहुत होता है। इस अहिंसा में 'स्व' के प्रति निर्मम रहकर 'पर' के प्रति आत्मीयता और आत्मयता साधनी पड़ती है। यह अहिंसा स्वरूप रह नहीं सकती। समाजोन्मुख उसे होना ही पड़ता है। ऐसे वह कर्म से कातर नहीं बनती बल्कि तत्पर और पदारूढ़ होती है । इस अहिंसा में अपनी प्रेरणाओं को हमें अपने भीतर उस गहरे तल से लाना और उस तक ले जाना होता है जिसको अवचेतन कहते हैं। उस पटल को भेदकर चैतन्य को गहरे खींचा जाता है। इसमें से मनुष्य की संपूर्ण चेतना का परिष्कार होता है। उसमें स्वार्थ की क्रमशः आहुति होती रहती है और जो बाधाएँ और वासनाएँ चैतन्य को अपने में रोकती हैं क्रमशः एक-एक कर गिरती जाती हैं। उस अहिंसा के कारण फिर व्यक्ति समाज से पृथक् रहकर विग्रह का नहीं बल्कि संयुक्त होकर संग्रह का अंग बनता है। वह अपने लिए सुख खींचने की ज़रूरत से मुक्त हो जाता है। वह औरों का दुःख लेने में स्वयं सुख अनुभव करता है। फिर उस दुःख को अपने अंतरंग प्रेम अथवा अहिंसा के स्पर्श से उसी को सुख बनाकर दूसरे तक भेजने की कीमिया पा जाता है।

हमारे सामाजिक प्रश्न मूलतः इस अभिमान में से बनते हैं कि मैं प्रधान हूं, अन्य गौण है। मैं सही हूँ, अन्य दोष में है। मैं न्याय पर हूँ, अन्य अपराधी है। यह अंहमन्यता की गाँठ सामाजिक रोगों के मूल में है। वर्ग और वाद, दल और देश आदि के नाम पर यह गाँठ कस-कर और मज़बूत बना ली जाती है। सर्जनात्मक अहिंसा उसी गाँठ को छूती और छेदती है। उसके परिणाम में हमने देखा है और यह देख सकेंगे कि न केवल अहिंसा सामाजिक समस्याओं को समाधान दे सकी और दे सकती है बल्कि यह भी कि उस अहिंसा के प्रति उदासीन और निरपेक्ष रहकर मानव समस्याओं को निबटाने और सुलझाने की चेष्टा अकारथ जाती है। बल्कि वैसे निरे ऐहिक (सेक्युलर) प्रयत्न से दूसरे तरह की उलझनें बनती है।

सितंबर, '50.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खादी और उसके फलितार्थ

खादी का केन्द्र चरखा है, और चरखा अहिंसक समाज रचना का आधार है।

पिछले दिनों सब जानते हैं गांधी सेवा संघ लगभग समाप्त कर दिया गया था। उसका अब पहला रूप नहीं रह गया है। गांधीजी अहिंसा को वैज्ञानिक चाहते हैं। जितनी और प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, यानी खादी और दूसरे ग्रामोद्योग। लोग परखें और देखें कि उनसे वास्तव में अहिंसा की कितनी सिद्धि होती है। लगभग अब संघ वैसे शोधकों का संघ है। इसका अर्थ है कि बाहरी प्रवृत्तियों में से जिस अंश में अहिंसा का सार प्राप्त हो, उतना ही उन्हें सार्थक माना जा सकता है।

खादी का इतिहास है। खादी विकासशील वस्तु है। सन् '21 से अब सन् '41 तक उसकी परिभाषा एक जगह स्थिर नहीं रही है, वह बराबर बढ़ती आई है। जीवित वस्तु ही तो विकासमय है। अर्थात् खादी निरा कपड़ा नहीं है। वह तो प्रतीक है।

उसे निरा कपड़ा मानकर जिस अर्थशास्त्र के नियमों से साबित कर दिया गया था कि खादी नहीं चलेगी, खादी उसके बावजूद चली। न सिर्फ़ बावजूद बल्कि इच्छापूर्वक उससे उलटी दिशा अपनाकर चली। अंत में आज देखा जा सकता है कि उस अर्थशास्त्र के ही नियम औंधे थे और खादी-तत्त्व सच्चा मानवीय है।

मिलवाले अर्थशास्त्र से खादी का उलटापन क्या है? वह उलटापन यह है कि पूँजीवादी अर्थशास्त्र में मनुष्य के परिश्रम की कीमत सबसे पीछे और कम है। खादी में मनुष्य के उसी उत्पादक-श्रम की कीमत सबसे आगे ही होगी। खादी का काम करने वालों ने अपनी कठिनाइयाँ रखीं। कहा, "अजी, खादी फिर बिकेगीं कैसे? अभी ही वह काफी महँगी है। उसका स्टाक पर स्टाक जमा कर लेने से तो कुछ न होगा। ऐसे एक कत्तिन की मज़दूरी बढ़ाने के लोभ में क्या उन सबको बेकार कर देने का खतरा उठा लिया जाय।" पर गांधीजी कार्यकर्ताओं की अनास्था के साथ तर्क करते रहे और अपनी बात पर अटल रहे। अब शायद तीन आने कत्तिन की मज़दूरी के समझौते तक कार्यकर्ता आ गये हैं।

पर क्या गांधीजी का जी मर गया है? जब तक कातने वाली या कातने वाले को दिन-भर खरी मेहनत के एवज़ में आठ आने ज़रूरी तौर पर न मिल जाये, तब तक क्या उन्हें चैन होगा? रुपये की खादी में सोलह के सोलह आने उत्पादक श्रमिकों को पड़े, यह चरखे के सिद्धांत की कोशिश है। आज की खादी यह बात पूरी नहीं करती। इसलिए उसे उस दिशा में विकास करते रहना है।

खादी को लोग तरह-तरह के कारणों से पहनते हैं। लेकिन सच पूछिये तो वह एक नई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन नीति का प्रतीक है ! गांधी जयन्ती में आप पाँच सौ, हज़ार रुपये की हुण्डी अथवा खादी खरीद लें, यह तो अच्छा ही है, पर उससे कहीं अधिक अच्छा होगा कि आपको एक पैसे की भी खादी खरीदनी न पड़े। घर में चरखा चले और ज़रूरत जितनी खादी अपने सूत में से या उसके ऐवज़ में आप पा सकें।

खादी को चरखे से दूर न ले जायें। कहीं वह एक स्वतंत्र व्यवसाय न बन जाय। उसमें इष्ट है धन का विकेन्द्रीकरण। इससे सच पूछिये तो बड़े-बड़े भण्डार और बड़ी-बड़ी दफ्तर दूकानें खादी की शोभा को बढ़ाने वाले नहीं है। तो भी किया क्या जाय? लखपती हुण्डी खरीद सकता है, पर वह बेचारा चरखा कैसे काते? उसकी और हमारी इस बेचारगी के कारण ही खादी को विलायती माल के ढंगों पर बेचना पड़ रहा है। पर लखपतियों में और नासमझ समझदारों में जब समझ आयेगी तो मालूम होगा कि रुपये के जरिये हुण्डी और हुण्डी के जरिये खादी लेना धर्म को सैकण्ड हैण्ड बनाकर लेना है।

वर्तमान शासन-विधान या समाज-विधान की बुराई आदमी का शोषण है। श्रम इस विधान के नीचे घुस जाता है और चालाकी फूलती है। आदमी अंक बन जाता है। वह सुख-दुःख महसूस करने वाला सजीव प्राणी नहीं रह जाता। उसकी कोई निजता नहीं, स्वत्व नहीं, वह एक जिसके मानिंद है। इस तरह लाखों-लाख की गिनती में आदमी चंद लोगों की मुट्ठी में होकर उनकी कूटनीति के शिकार होते हैं। वे चन्द फिर पार्टी नेता हों या मुल्कों के शासक हों। राजनीति इस तरह आदमियों पर और आदमियत पर जुआ लादकर अपने खेल खेला करती है। लाखों को मरवाती है, ताकि मुट्ठी-भर की सत्ता जमी रहे।

यह काम किसी राजनीति अथवा राजनीतिक चेतना के वश का नहीं है कि वह इस मूल शोषण से लड़ सके और उसका नाश कर सके। क्योंकि उसमें प्रयोजन साध्य और व्यक्ति साधन ही रहता है। असली स्वतंत्रता वैधानिक नहीं होती। राष्ट्र वह स्वतंत्र है जिसका हर आदमी स्वतंत्र हो। यानी जहाँ मेहनत प्रेम की हो, और जहाँ किसी के विकास पर ऊपरी दबाव न अनुभव हो। जहाँ अभाव उसी के पास रह सके कि जो आलसी है और श्रम के साथ सदा खुशहाली हो। जहाँ हरेक की इज्जत पवित्र समझी जाये और किसी के साथ पशु की भाँति बर्ताव न हो सके।

चरखा उसी अवस्था को लाने के लिए है। विलायती अर्थशास्त्र विलायती युद्ध हमको दे गया है। वह युद्धोद्योग को समझ सकता है, ग्रामोद्योग को वह किस समझ से समझेगा? खादी ग्रामोद्योग का केंद्र है। सत्ताएँ जो केंद्रित और इस कारण स्फीत होकर अपने मद में स्वरक्षा या स्वविस्तार के नाम पर आपस में लड़ पड़ने को लाचार होती हैं, वे सत्ताएँ टूटेंगी और बिखरेंगी तो इसी तरह से कि हरेक श्रमी बने और अपने श्रम का मालिक बने। इस तरह से हर श्रमिक स्वयं में सत्तावान और स्वाधीनचेता होगा। अभी औसत आदमी से मेहनत तो वसूल करली जाती है, पर रक्खा उसे अभाव और अज्ञान में जाता है। अंत में उसीको मेहनत में से उपजे हुए धन की पूँजी में से कुछ देकर उसे अपने मतलब का साधन बनाया जाता है। पूँजी की यही चाल है। पूँजी यानी सत्ता। पूँजी नहीं जमा हो सकती जब तक कि कहीं-न-कहीं श्रम को चूसा न जा रहा हो। धन श्रम में से बनता है। धन संचय से श्रम का ह्रास होता है। पूँजी की कीमत जहाँ बढ़ी है आदमी की कीमत वहाँ उतनी ही घटी। यानी जहाँ श्रम सस्ता है वहीं धन महँगा हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खादी इस तरह पूँजीवादी अर्थशास्त्र से इच्छापूर्वक उलटी दिशा में चलती है। और यदि कभी कागज़ पर नहीं बल्कि सचमुच में पूँजीवादी शासन, विधान और समाज-व्यवस्था में क्रांति आयेगी और उसका कायाकल्प होगा तो वह चरखा और खादी और ग्रामोद्योग के मार्ग से ही होगा। क्योंकि यही है जिसमें देश की आज़ादी या देश की राजनीति को उस देश की जनता के वास्तविक हित के अर्थ में ही देखा जाता है। यानी वहाँ जनता को इस्तेमाल के लिए राजनीति का इस्तेमाल किया जाता है।

यह तो ऊपर स्पष्ट कर ही दिया गया कि खादी यदि खादी है तो तभी जब उसमें अंतर्निरीक्षण की वृत्ति हैं और वह विकासशील है। यानी यह मुतफर्रकात (Middle man) के खर्च को कम-से-कम करके उत्पादक श्रम को अधिक-से-अधिक पहुँचाने के कर्तव्य के प्रति सावधान है। इसका यह मतलब कि गांधी आश्रम का व्यवस्थापक जानता रहे कि उससे कातने वाली कत्तिन और बुनने वाला जुलाहा असली और ज़्यादा प्रधान आदमी है। गांधी-आश्रम के व्यवस्थापक की, खादी का असली अर्थ लिया जाये तो, यह कोशिश होगी कि वह समय जल्दी आये कि उसे व्यवस्थापक रहने की आवश्यकता न रहे और वह खुद जुलाहा बन जाय।

इसके विरोध में अगर खद्दर-संगठन राजनीति के प्रयोजन का कहीं साधन बन गया—चाहे फिर गांधीवादी ही राजनीति वह क्यों न समझी जाती हो—तो वह हमारी मुक्ति में सहायक न रह जायेगा। तब वह भी एक न्यस्त स्वार्थ हो जायेगा। इसलिए ध्यान रखना होगा कि खद्दर की आत्मा चरखा है और खादी खरीदने वाले से खादी बनाने वाला श्रम के मूल्य के अधिक निकट है।

अक्टूबर, '41.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरिग्रह और स्वत्व-विसर्जन

सभी जानते हैं, मनुष्य चला जाता है, कोई भी साधन वह अपने साथ नहीं ले जाता। धर्म अपरिग्रह पर जोर देता है। सब इसका समर्थन करते हैं पर उन्हें अपना (Share) हिस्सा छोड़ते दिक्कत होती है। वे नैतिक भी बने रहें और धन भी रहे, इसमें उन्हें संतोष रहता है। दुविधा यही है। अपरिग्रह से हमें यह क्षमता और दृष्टि मिलनी चाहिए कि पदार्थ, जो हमारा नहीं है, उसका हमें क्या करना है? पदार्थ और स्वत्व-विसर्जन में से यह प्रतिफलित होगा कि उसका जो कुछ है वह तुम्हारा नहीं है, तुम्हारे जिम्मे किया हुआ है। इससे स्वतः ट्रस्टीशिप निकलेगा।

विनोबा ने जो कहा कि सरकार या राज्य के बिना हमारा काम चल सकता है, पर व्यापारी के बिना नहीं चल सकता। इस पर व्यापारी-वर्ग को विशेष ध्यान देना है। जहाँ उपभोग होता है वहाँ वस्तु का उत्पादन नहीं होता है और जहाँ उत्पादन है वहाँ उपभोग का अवसर नहीं है। व्यापारी उत्पादक और उपभोक्ता के बीच का आदमी है कि जो उत्पादन को उपभोक्ता के पास पहुँचाता है। आज हवा ऐसी बनी है कि बीच का आदमी फालतू है। वह नफा कमाता है, नफा कमाने की आदत उसके रक्त में है। उसकी आदत को दूर न कर उसे ही दूर कर दिया जाये और उसकी जगह पर तनख्वाहदार को रख लिया जाये तो काम ठीक नहीं होगा, क्योंकि उसका उसमें राग नहीं है। हमने सोचा, यह क्रांति हुई; इससे स्वर्ग आ जायेगा। पर बात एक दूसरी सामने आती है। वैश्य एक पाई रुपये पर भी तरह-तरह की कठिनाई झेलता हुआ काम कर सकता है। सिविल सर्विस वाला अपना भत्ता व तनख्वाह आदि खतरे में डालने वाला नहीं है। इससे लगा यह तरीका भी सही नहीं है। फिर यह विचार आया कि प्रोफिट-मोटिव वाले के हाथ में व्यापार कैसे रहने दें, सिविल सर्विस वाले के हाथ से होने वाले नुकसान के लिए कमीशन बिठा देंगे। वैश्य-वर्ग के हाथ में व्यापार रहने से तो शोषण छायेगा ही। अतएव उससे धीरे-धीरे व्यापार ले लिया जाये। इससे व्यापारी वर्ग पर उलटी प्रतिक्रिया होती है। उसके हाथ में जितनी कुशलता है, उसे वह अपनी सिक्युरिटी (Security) में लगाने की सोचेगा, समाज के हित में नहीं।

यह सब देखने पर स्पष्ट लगता है—वैश्य के जिम्मेवार बने बिना काम नहीं चल सकता। उसे अपना जीवनक्रम और व्यवहार बदलना होगा। हमारे भारत में सहस्रों वर्षों तक यह घटित हो सका। बड़े-बड़े करोड़पति यहाँ हुए, पर उनका जीवन साधारण व्यक्तियों जैसा रहा। व्यापारी अपनी सिक्युरिटी (Security) का प्रश्न ही उठा दें, कल की बात ही न सोचें। गीता में जो कहा गया—"योगक्षेमै वहाम्यहम्" को सोचते हुए अत्यंत निःशंक व प्रसन्न भाव से, वर्चस्व और प्रखर चैतन्य से, उसे अपने कर्तव्य पर बढ़ना होगा। इससे उनकी ओर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तनाव कम होने से स्थिति सहज बनेगी।

जिन लोगों का पदार्थ, पुद्गल एवं संपदा से संबंध है, वे थोड़े से खड़े हो जाएँ तो बड़ी शक्ति आ सकती है। उदर एवं शरीर के प्रतिनिधि दिमाग को बल दें, इसकी आवश्यकता है। जो कर्म के लोग हैं, वे धार्मिक आंदोलनों को बल दें। मैं मानता हूँ, जिस प्रकार कार्मिक आंदोलनों को धर्म के बल की आवश्यकता है, उसी प्रकार धर्म के साथ कर्म की शक्ति आवश्यक है।

आज के संघर्ष और अशांति पूर्ण युग में यदि भारतवर्ष मार्ग नहीं दिखा सका तो दूसरी ओर से तो संभावना ही नहीं है। यह एक शुभ लक्षण है कि अणुव्रत और सर्वोदय इस दिशा में कार्य कर रहे हैं।

मई, '59.

सर्वोदय और अणुवत के कार्यकर्त्ताओं के बीच भाषण का सार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति का प्रश्न
राष्ट्र निर्माण की समस्या

एक दिन दो बंधुओं में चर्चा हो निकली। एक का कहना था कि कांग्रेस और सर्वोदय आज एक-दूसरे से उलटे हैं, पर यह क्या कि सर्वोदय में उन्हीं नेताओं को मंच पर उपदेश के लिए लाया जाता है जो वजीर हैं? कांग्रेस अब सत्ता है और सत्ता केंद्रित ही होती जा रही है। सर्वोदय क्या उससे उलटी राह नहीं बताता?

इन बंधुओं की राय थी कि स्वराज्य के बाद हम आगे नहीं बढ़े हैं, नीचे खिसके हैं।

दूसरे बंधु समझते थे कि असंतोष का कारण हो सकता है, लेकिन जितना और जो हुआ है, उसके लिए गर्व का भी कारण है। देखिए अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितना मान बढ़ा है! भारत की बात की हर जगह कद्र है। युद्ध फूटा नहीं और अगर खुलकर कोई आज उसकी बात नहीं कर सकता तो यह भारत की आवाज़ की ताकत की वजह से। यह तो मानना ही होगा कि भारत में गरीबी है, इसलिए पहला काम माल पैदा करना और ज़्यादा पैदा करना है। सिद्धांत की बात तो पीछे भी देखी जा सकती है। आदमी दीन और दरिद्र रहेगा तो सिद्धांत कहाँ रह जायेंगे? साफ है, मशीन ज़्यादा पैदा करती है। कुछ उससे बेकार बनते हैं तो उनके लिए दूसरे काम ढूंढे जायें, बीस आदमियों का काम एक मशीन करे तो क्या ज़रूरत है कि उन्नीस आदमियों को फालतू उस काम में रखा जाये? उन उन्नीस के अड़तीस हाथ किसी दूसरे काम में लग सकते हैं। चलिए, चर्खे से बेकारों को काम मिलता है तो वह अच्छा। कौन उसे खराब कहता है? आप वह कीजिये, सरकार उसमें मदद दे रही है और देगी। पर मशीनी उत्पादन बंद हो या न बढ़े, क्योंकि चरखे को चलना है, तो भाई यह तो हठ की बात होगी, गरीब के भले की बात न होगी। चरखा जितना कर सके चरखा करे, हाथ-करघा भी चले और मिल भी अपनी जगह कपड़ा बनाये तो इस तरह चारों ओर से गरीबी और बेकारी पर हमला बोलना है। जैसे हो अभाव काटना है, बहुतायत लानी है। हमारे नेता शासन पर जाकर यही कर रहे हैं। इसीसे बात सोशलिस्ट पैटर्न (समाजवादी प्रणाली) की है। यह नहीं कि निजी व्यवसाय और उत्पादन की पद्धति को एकदम खत्म करना है, पर जहाँ वह विघ्न बने वहां सचमुच उसे नहीं रहने दिया जा सकता। पूँजीवादी उत्पादन स्थापित स्वार्थ की गाठें बनाता है और राष्ट्र को पनपने नहीं देता। तो व्यवसायों और उद्योगों का आवश्यक समाजीकरण हम कर रहे हैं। लक्ष्य यह कि सब तरफ़ से खूब दौलत पैदा हो और गरीबी की जगह हम खुशहाली लायें। आप कुछ गोलमाल होने की बातें कहते हैं, पर बड़े कामों में ऐसा कुछ हो जाना अचरज की चीज़ नहीं है। आदमी अभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवता तो नहीं बना है। अचरज बल्कि यह है कि काम इतना हुआ है और गोलमाल इतनी कम हुई है। यों ध्यान उधर भी है, पर देखिए कि कितने बड़े-बड़े बाँध तैयार हुए हैं और उनसे किस कदर फायदा होगा। रेगिस्तान हैं वहाँ हरियाली होगी और जमीन फसलें उगलेंगी। साइंस (विज्ञान) की मदद से कुदरत से हम ताकत खींचेंगे और उसे जाया नहीं जाने देंगे। आखिर इस कदर पानी नदियों की राह बह जाता था और काम नहीं आता था। नुकसान करता था सो अलग। पर उसमें ताकत थी और उस ताकत को हमने बाँधा है। उसको बिजली की शक्ल में हम हर देहात में पहुँचा देंगे। ताकत हो, फिर बड़े-से-बड़े काम हो सकते हैं। अभी तो आदमी हमें माँगने पड़ते हैं और मशीनें भी। हलके-हलके मशीनें हम यहीं तैयार करने लग जायेंगे और टैक्निशियन (यांत्रिक विशेषज्ञ) भी। यह चंद दिन की बात है, फिर हमें कुछ उधार लेना नहीं होगा, बल्कि यह मुल्क तब मँगाने की ज़रूरत में नहीं; उलटे देने की हालत में हो जायेगा। भाई हमें बँटना नहीं है, सबको इकट्ठा रहना है। कांग्रेस सर्वोदय को नहीं मानती सो नहीं। हाँ, वह उन लोगों को अपने से अलग नहीं मानती, जो सर्वोदय से समाजवाद को पसंद करते हैं या किसी और तरीके को—यानी वह एक पक्ष पर नहीं झुक सकती, एकांतवादी नहीं बन सकती। यों तो दायाँ पक्ष है और बायाँ पक्ष। दोनों आपस में लड़ें, यह कांग्रेस को मंजूर नहीं है। यह सर्वोदय की पक्ष बने, इसमें क्या फायदा है और आपकी यह शिकायत कि मिनिस्टर मंच पर लाये जाते हैं, माफ कीजिये, स्वस्थता का चिह्न नहीं है। आखिर क्या ये लोग आज़ादी के जंग के तपे हुए सिपाही नहीं हैं? स्वतंत्रता के लिए क्या मुसीबतें इन्होंने नहीं उठाईं? मंत्री हैं, क्योंकि देश की तरफ़ से वह काम उन पर आया है। कहाँ तो इस सेवा के लिए हम उनके कृतज्ञ होते, कहाँ आप आपत्ति करते हैं। आखिर मंत्री-पद होना तो है और किसी को वह काम अपने कंधों उठाना है। जिनके कंधे परखे हुए हैं और चौड़े हैं, उन्हीं पर बोझ आये, यह स्वाभाविक मानिये। यह बोझ है, स्वार्थ नहीं है। भाई, अभी तुम जवान हो। सन् 29 में तुम पैदा भी नहीं हुए थे, जब इन लोगों ने मोर्चा लिया था। जलियाँवाला बाग तुमने सुना है, इन्होंने झेला था। इसलिए जल्दी नहीं करना चाहिए भाई!

उत्तर में भाई कायल हो गये, ऐसा नहीं मालूम हुआ, बल्कि कुछ गरमा ही गये। उन्होंने भी अपनी तरफ के तर्क दिये और उसी ज़ोर के साथ। लेकिन मेरा ध्यान उधर से हट गया था। ऐसे विवाद बहुत होते हैं। बाहर आपस में होते हैं और अकेले में हर एक के अपने दिमाग के अंदर भी होते हैं। वेग है, पर मंथन भी है। काम-धाम में हम धड़धड़ाते हुए चल रहे हैं। पैरों में शिथिलता भी नहीं दीखती है। पर अंदर प्रश्न है और उलझन है। औसत कार्यकर्ता, इस दल का या उस दल का, इस दिमागी परेशानी से बरी नहीं है। इसलिए काफी मानव-शक्ति परस्पर के और अपने अंदर के विग्रह में खत्म होती है। संघर्ष ऐसे ज़ोर का भी नहीं होता है कि उसमें से ज्वाला दमक आये। घुटन होती है और धुआँ ही उठता है। यह आस्था का संकट है और बिलकुल ज़रूरी है कि हम चाहे तो विकट शब्द-युद्ध में से होकर, अपने लिए स्थिर आस्था प्राप्त करे।

ऐसे समय में गांधीजी की याद उठती है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रयत्न तो सब ओर से चलते ही आये थे, पर गांधीजी के आने से मालूम हुआ कि सबको सब-कुछ करने का विशेष अवसर नहीं रह गया है, अब भारत में भाव की ऐसी एकता जग आई। सब विचारों के बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने एक अमोघ प्रश्न डाल दिया है, हिंसा या अहिंसा ? यह प्रश्न कर्म की ओर से संगत न था, बहुत ही दूर का और सिद्धांत का मालूम होता था। पर गांधीजी ने परिस्थिति को कर्म की अथवा उसके फल की ओर से नहीं लिया, मूलगत आस्था की ओर से पकड़ा। उनके आने के साथ ही जैसे परिस्थिति फट गई और देश के सामने जलता हुआ प्रश्न खड़ा हो गया : यह या वह ? यह प्रश्न व्यक्तिगत या दलीय नहीं रह गया, बल्कि मौलिक और आस्था का बनकर समक्ष आया। उससे भारत के मन और मस्तिष्क में एक विलक्षण आलोड़न मचा। जो फलित हुआ, इतिहास उसका साक्षी है। क्रांति का सूत्रपात हुआ, सारा देश संकल्प में एक बन आया। बलिदान की आकांक्षा में वह उद्ग्रीव हुआ। असमर्थता की भावना सर्वथा समाप्त हो गई। साम्राज्य, जिसकी जड़ें पाताल में गहरी समझी जाती थीं, डगमगा आया। जनता में उत्साह और विश्वास जगा और सदियों से चली आई गुलामी की जकड़ को तोड़ फेंकना उन्हें सहज हो आया। आस्था भर आई, स्वप्न झूम उठा और भारत के नर-नारियों ने वह कर दिखाया जिस पर पीछे स्वयं उन्हें ही विश्वास न होता था।

अग्नि के चेत आने के बाद ऊपर से किया जाने वाला काम मुश्किल नहीं रह गया। कार्यक्रम जो असंभव समझे गये, सफल होते चले गये। रेशम जिन्हें चुभ सकता था, उन्होंने खुशी से टाट पहना। अर्थशास्त्र उलट गया और लोग घाटा उठाकर नफा अनुभव करने लगे। मालूम हुआ कि फिसलना स्वाभाविक उतना नहीं है, जितना ऊपर उठते जाना है, इत्यादि।

आज की हालत में और सब हैं, आस्था गायब है। अपनी सरकार है, उसका अरबों का बजट है। पर समस्याएँ अधिक हैं, सांत्वना कम है। भीतर महासंकल्प का अभाव है। पंचवर्षीय योजना एक है, और दूसरी है, और उस पर पूरा बल है। लेकिन इतनी सरकारी है कि उसको जनता तक पहुँचाने के लिए फिर करोड़ों रुपयों के खर्च से प्रचार करने की आवश्यकता बनी रहती है। मालूम होता है, चिंता सबको अपनी-अपनी हो आई है, अपने को रखने की, बढ़ाने की और धन-माल जुटाने की। जो जहाँ है, फूलना चाहता है। अपने को मिटाने का आदर्श थोथा हो आया है। जो पहले खींचता था, अब व्यर्थ लगता है। पहले त्याग था तो अब संग्रह धर्म है।

हिंद में अब स्वराज्य है। एक 'हिंद-स्वराज' गांधी ने दिया था। उसकी याद क्या किसी को है ? क्या हिंद का यह स्वराज' उस 'हिंद स्वराज' के जैसा है ?

ज़रूरी नहीं है कि पुरानी चीज़ को हम रखें। चाहे गांधी के नाम के साथ हो, अगर चीज़ गलत लगती है तो हम उसे फेंक देंगे। इसमें हर्ज नहीं है। लेकिन क्या हमने ऐसा किया है ? क्या हमने इरादे के साथ गांधी के 'हिंद-स्वराज' को परखा है, गलत पाया है और फेंकने का निर्णय किया है ?

नहीं, वैसा नहीं हुआ। सिर्फ हमें उसकी याद भूल गई है। तो मैं देश को उसकी याद दिलाना ज़रूरी समझता हूं। ज़रूरी इसलिए कि रूस के कुछ लोगों ने स्टालिन को गिरा दिया। हम चाहें तो गांधी को गिरा सकते हैं। पर विचारपूर्वक हम गांधी को गिराने के लिए तैयार नहीं हैं, तो कोई कारण नहीं रहता कि हम गांधी को और उनके 'हिंद-स्वराज' को भुला दें।

आवश्यक यह इसलिए और भी है कि सब जो काम चल रहे हैं उनमें ज़ोर पैसे का है, संख्या का है और सरकार का है। बलिदान से अधिक महत्त्वाकांक्षा है, रोशनी से ज़्यादा गर्मी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इससे क्रिया जितनी है, उससे कम प्रतिक्रिया नहीं है।

गांधीजी के जीते-जी भी कांग्रेस ने एकाध बार वह नहीं किया, जो गांधीजी की सलाह थी। कांग्रेस को वैसा अधिकार था। कांग्रेस ने अपने साथ ईमानदारी बरती और यह ठीक ही था। लेकिन उससे संकट इसलिए नहीं पैदा हुआ कि भारत की आस्था गांधीजी में मूर्त और अक्षुण्ण रही। कांग्रेस राजनीतिक होकर कुछ भी करती, चाहे तो गलत दिशा अपनाती, उससे भारतीय जीवन का विशेष बिगाड़ होने वाला न था, क्योंकि ध्रुव उज्ज्वल था और लंगर रहते नाव की स्थिरता को खतरा न था।

लेकिन गांधीजी के योग से कांग्रेस राजनीतिक संस्था ही न रह गई थी, वरन् उसमें भारत का आदर्श, मान और गौरव भी प्रतिष्ठित हो आया था। यह देखते हुए गांधीजी ने अंग्रेजों को जाने और स्वदेशी हुकूमत आने के समय कांग्रेस के पूछने पर कांग्रेस को बताया था कि वह हुकूमत पर आने का काम अपना न माने, बल्कि प्रण बाँधकर जन-सेवा को अपना ले। इस तरह भारतीय जीवन के आदर्श को जीवित रखने का दायित्व वह उठाये, हलकी बातों में न जाये।

वैसा नहीं हो सका। कुछ दिन बाद देश ने गांधीजी को ही खो दिया। तब से अब तक कुछ मिलाकर देश एक आस्था के संकट में से गुज़रता रहा है।

अक्टूबर, '59

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शांति का निर्माण और भारत

हम नहीं चाहते कि लड़ाई हो। हमसे मतलब सिर्फ़ उन लोगों से नहीं जो आदर्श की निष्ठा में रह सकते हैं और जिन पर जिम्मेदारी नहीं है। मतलब उन लोगों से भी है जो जिम्मेदार हैं, नेता हैं। निश्चय ही उनमें कोई लड़ाई नहीं चाहता। फिर भी संसार को एक के बाद जो दूसरे युद्ध में उतरना पड़ा है और ऊपर से युद्ध का संकट पूरी तरह टलता नहीं दीखता है, सो क्यों? अवश्य उसके पीछे कोई विवशता होनी चाहिए, जो स्वयं में राजनेताओं के निर्णयों से भारी हो। राजनेता लोग स्वाधीन और स्वतंत्र होकर निश्चय ही युद्ध की घोषणा का बोझ कभी अपने ऊपर लेने को तैयार न होंगे। लेकिन वे अपने को बेबस पाते हैं और इसलिए जब समय पर युद्ध का घोष होता है तो उस देश की जनता मानो युद्ध के लिए उनसे भी अधिक उद्यत मिलती है।

यह भ्रम है कि युद्ध का निर्माण वहाँ होता है जहाँ वह लड़ा जाता है। बारिश जो यहाँ गिरती है हम न समझ लें कि उसका पानी यहाँ ही तैयार होता है। मूसलधार वर्षा का पानी कण-कण भाप को लेकर इकट्ठा हुआ करता है और यहाँ टूटने वाला बादल जाने कहाँ का पानी सोखकर बना होगा, ठीक कहना मुश्किल है। सच यह है कि घर-घाट और हाट-बाट में मानव-संबंधों की विषमता में से जो अनिष्ट तत्त्व निर्मित होते हैं वे अलक्ष में संचित होते और मानव-जाति की मानसिकता में घने होकर छाते जाते हैं। फिर राष्ट्र-स्वार्थ की सीमा-रेखा पर उन्हीं को जुटाकर तीव्र बनने दिया जाता है और समय आता है जब राष्ट्र-राज्य के नेता लोग देखते हैं कि कुछ भी और नहीं हो सकता—युद्ध ही एक उपाय है। अस्तित्व के लिए युद्ध ठानना होगा।

लोगों के दिमागों में अगर वह बारूद इकट्ठी न हो पाये जो युद्ध में काम आती है, जो उन्हें मारने और मरने को तैयार कर देती है, जो उन्हें एक-दूसरे को दुश्मन गिनकर शांति और विकास के नाम पर नेस्तनाबूद करने पर आमादा कर देता है, तो साफ़ है कि युद्ध लड़ा नहीं जा सकता। यह बारूद कोई कारखाना तैयार नहीं करता। हम सब ही अपने आपसी काम-काज से हर पल वह तैयार करते रहते हैं। स्पर्द्धात्मक और विग्रहात्मक संबद्ध चिनगारियाँ उपजाते रहते हैं। हम यह न मान लें कि हमारे राग-द्वेष और क्रोधावेश सिर्फ़ हमारे ही होते हैं। नहीं, संबंधों के द्वारा सारे समाज से हम जुड़े हुए हैं। द्वेष और क्रोध जो मुझमें उठता है मुझ तक ही नहीं रह जाता—दूर-दूर तक प्रतिक्रिया पैदा करता है।

इस तरह युद्ध का प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं है—वह गंभीर नैतिक प्रश्न है। युद्ध होता राजनीतिक भूमिका पर है, लड़ा वहाँ जाता है और उसी पट पर निबटता हुआ भी दीखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर यह तो वह है जो घटनात्मक है, दीखता है। युद्ध का बहुत भाग तो दीखता नहीं है। और असल में प्रगट घटनात्मक को धारण करने वाला जो युद्ध का बहुत बड़ा मानसिक भाग है—युद्ध का सही निदान और समाधान तो वहाँ ही खोजने से मिलेगा।

इस भाँति देखें तो युद्ध का प्रश्न विविध देशों की विदेश-नीति पर उतना निर्भर नहीं रह जाता। सच यह है कि विदेश-नीति स्वदेश-नीति से स्वतंत्र होती भी नहीं है। न राजनीति समाजनीति से स्वाधीन बनाई जा सकती है। अंतरंग नीति में शक्ति-तर्क को स्वीकार करके चलने से बाह्य नीति में शस्त्र-निर्माण की अनिवार्यता से बचने का उपाय नहीं रह जायेगा—यानी कोई देश अगर सर्वथा शांति के पक्ष पर ही दृढ़ रहना चाहता है तो उसके लिए यह तभी संभव होगा जब उसकी अंतरंग व्यवस्था—समाज और अर्थव्यवस्था—अनुकूल हो। अर्थव्यवस्था द्वंद्वात्मक हो तब फौज की आवश्यकता से छुटकारा, ऊपर के लोगों के विश्वास और संकल्प के आधार पर भी, संभव नहीं होगा, क्योंकि यह प्रश्न मानसिक नहीं, तात्कालिक है—फौज हम नहीं चाहते—इतने पर से फौज से छुटकारा नहीं हो जायेगा। फ़ौज से होने वाले काम की ही दरकार हमें नहीं रह गई हो, तभी फौज से सहज छुट्टी होगी। जब तक फ़ौज की ताकत से होने वाला काम मौजूद है, या उस काम के लिए फौज के अलावा किसी दूसरी शक्ति का हम निर्माण नहीं कर पाते हैं, तब तक सेना से मुक्ति असंभव है। अभाव प्रकृति में कहीं है नहीं। इसीलिए कवियों और आदर्शवादियों के बूते युद्ध का निराकरण संभव नहीं हो सकता है। वह निषेधात्मक नहीं, रचनात्मक कार्य है और युद्ध अगर करोड़ों की जान लेता है और अरबों-खरबों की संपत्ति स्वाहा करता है तो युद्ध के निराकरण के, अर्थात् शांति के, काम को उससे छोटा काम समझने का अर्थ ही कुछ नहीं है। युद्ध खत्म होने से करोड़ों जानें जायेंगी और खरबों रुपया बच जायेगा—इस डर या लालच में से युद्ध की समाप्ति नहीं आ जायेगी। बल्कि युद्ध न करने के प्रण में करोड़ों आदमी जूझने और जान देने को तैयार होंगे और खरबों खर्च कर डालने को वे छोटा समझेंगे, तब वह काम हो सकेगा। जैसे आज देशों का समूचा उत्पादन, कल-कारखाने, सुरक्षा के और युद्ध के लिए चलाये जाते हैं, सारी अर्थ-व्यवस्था मानों युद्ध के लक्ष्य के अधीन होकर चलती है, शान्ति से लक्ष्य को उसी तरह उतना ही महत्त्व देना होगा। ऐसी शान्ति, स्पष्ट है कि युद्ध की अनुपस्थितिमात्र न होगी, बल्कि वह जीवित और ज्वलंत लक्ष्य होगी। वह शान्ति एक देश से आरम्भ होकर वहीं तक सिकुड़ी न रहेगी, बल्कि नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और परम्पराओं का वह विकास करने वाली होगी। वह मानव-जाति को मिलाती जायेगी और विकास के नव-नवीन आयाम उससे प्रकाश में आयेंगे।

प्रश्न को इस रूप में जब देखा जायेगा तब गांधी से व्यावहारिक मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा। भारत गांधी का देश है, पर भारत के पास फौज और अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं, ऐसा नहीं है। भारत के नेता और अधिष्ठाता लोग गांधी को नहीं मानते हैं, सो भी नहीं है। एक तरह वे गांधी के अपने ही आदमी हैं। फिर भी फौजी खर्च को अगर बढ़ाना पड़ा है तो यह उनकी मंजूरी से हुआ है। पर इस मंजूरी के नीचे उनकी इच्छा की त्रुटि नहीं, परिस्थिति की विवशता है। राज्य पर न हों तो वे अवश्य ही पूरे ज़ोर से निशस्त्रीकरण की बात कहें। पर राज्य का दायित्व लेकर वे चाहकर भी वैसी बात नहीं कह सकते। राज्य पर सुरक्षा का भार है। सिद्धान्त की रक्षा का काम जिसका चाहे हो, वे देश के जानमाल की रक्षा का ज़िम्मा लेकर शासन पर बैठे हैं। भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शासक, गांधीवादी होने के बहाने, प्रमोदी नहीं हो सकता और अनमने मन से क्यों न हो, उसे भारत की सैन्य-शक्ति को आधुनिक बनाये रखना होता है। नये-से-नये सैन्योपकरणों को जुटाने में वह पीछे नहीं रह सकता। न पड़ोसी देश से हेटा रह सकता है।

तो युद्ध का प्रश्न वाद का और सिद्धान्त का प्रश्न नहीं रह जाता है। न इसी भाँति शान्ति का प्रश्न वाद अथवा सिद्धान्त का प्रश्न है। दोनों ही समग्र जीवन-विधि के प्रश्न हैं कि समाज और देश के रूप में हम किस प्रकार की व्यवस्था का निर्माण करके रहते-सहते हैं? इस प्रश्न का हल ऊपर से नहीं आने वाला है, बीज में से वह प्रगट होगा। चाहने में से ही युद्ध का अभाव नहीं हो जायेगा, न शान्ति फलित होगी। उसके लिए बुनियाद से शुरू करना होगा।

इस समय दुनिया का काम-काज चल रहा है राष्ट्र-राज्य की कल्पना के आधार पर। विश्व-व्यवस्था के घटक आज सावरेन-राष्ट्र-सत्तात्मक देश है। उनका संघ संयुक्त-राष्ट्र है। आज अंतर्राष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में बड़ी-से-बड़ी चीज़ जो पैदा हुई है वह पंचशील है। इस पंचशील-सिद्धान्त का मतलब है कि प्रत्येक राज्य-सत्ता अखण्ड है और एक-दूसरी के विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती। इस व्यवस्था के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय ढंग का कोई प्रश्न उठे, तो क्या उपाय है? संयुक्त राष्ट्र-संघ जो उपाय है उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है—राष्ट्रों की स्वेच्छित स्वीकृति ही उसका बल है। कुछ बड़ी शक्तियों के पास यहाँ तक कि विटो पावर है—अर्थात् उन बड़ों में से कोई एक अपनी स्वीकृति न दे तो संघ असमर्थ रह जाता है। विश्व-स्थिति की इस परिस्थिति में फैसले का उपाय शक्ति-संतुलन के सिवा दूसरा रह नहीं जाता है। नैतिक शक्ति जैसी चीज़ इस स्तर पर रहती नहीं, सैनिक शक्ति ही सिर्फ़ रहती है। इसी से शस्त्रास्त्र की होड़ लगी है और जो उसमें अव्वल हो उसी को अपने को प्रथम शक्ति मानने का अवसर है।

शान्ति की परिस्थिति यह नहीं हो सकती। उसे इससे लगभग एकदम विपरीत होना होगा। अर्थात् तब प्रभुसत्ता अलग-अलग घटकों के पास, छोटे या बड़े राज्य के पास, न मानी जायेगी, बल्कि वह नीति-नियम के पास होगी। संघ के घटक-देश सावरेन-सत्तात्मक राज्य न होंगे, बल्कि वे सांस्कृतिक, भौगोलिक और भाषावार स्वेच्छित सामुदायिक इकाइयाँ होंगी। अर्थनीति राष्ट्र-राज्य-केन्द्रित न होगी, बल्कि विकेन्द्रित अर्थात् जन-केन्द्रित होगी। तब राष्ट्रीयता एक निषेधात्मक धारणा न रह जायेगी और सीमाओं पर तब काँटे की बाड़ें न होंगी। सरहदें तब कुछ फीकी और बेमालूम होंगी और राष्ट्रवाद एक दर्प की हुंकार और स्वाभिमान की गाँठ होने की आवश्यकता से छूट जायेगा। वह एक उदाराशय संस्कृति का सूचक भाव होगा और अपनी रक्षा खोजने के बजाय उसमें आत्मदान की भावना और स्पृहा जाग्रत होगी।

फिलहाल राष्ट्र-राज्य के आधार पर रहने के हम आदी बने हैं। यों कामनवेल्थ है, साम्यवादी रुँध है, दूसरे सिएटो, नेटो आदि धारणाएँ भी हैं। लेकिन मूलतः राष्ट्र-राज्य ही व्यवस्था का आधार है। राज्य के रूप में भिन्नता हो सकती है—जैसे साम्यवादी, समाजवादी, जनतंत्रात्मक। पर वह भिन्न प्रश्न है। लेकिन राष्ट्र-राज्य राष्ट्रीय स्वार्थ के हित में सोचता और योजनाओं और नीतियों का निर्माण करता है। जैसे सर्वोपरि तत्त्व राष्ट्रहित हो। शिक्षण का साँचा उसी ढंग से तैयार होता है और उद्यम-व्यवसाय एवं कृषि-व्यापार का उसी दृष्टि से नियोजन होता है—जैसे राष्ट्रीय-स्वार्थ स्वयं-प्रमाण और स्वयं-प्रतिष्ठ मूल्य हो और सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्यादाओं से उत्तीर्ण हो। राष्ट्र के नाम पर बलि देने और बलि लेने का महत्त्व इसीलिए बढ़-चढ़ जाता है। संपत्ति को हम राष्ट्र के नाम पर कूतते हैं और राष्ट्र को मालामाल करना अपना परम कर्तव्य मानते हैं।

इस आधार पर संहारक युद्ध सदा और सर्वथा अनिष्ट नहीं रह जाता। राष्ट्रीय-स्वार्थ की कसौटी पर कभी वह उचित और उपादेय भी बन सकता है। ठीक इसी जगह गांधीजी ने जगत् को एक नया दर्शन दिया। मानो राष्ट्रवाद को एक नया आधार और नई दिशा दी। स्वदेशी के धर्म को उन्होंने प्रतिष्ठा दी और उसको भौगोलिक और राष्ट्रीय से अधिक मानवीय भूमिका प्रदान की। परिणामतः एक ग्राम-राज्य (विलेज-रिपब्लिक) की कल्पना हमें मिली। उस आधार पर प्राप्त होने वाला स्वदेश विश्व-भावना के लिए सदा ही साधक बनेगा, कभी बाधक नहीं बन सकेगा। ऐसे स्वदेशवाद में से युद्धवाद या साम्राज्यवाद कभी फलित नहीं हो सकता। ऐसा स्वदेश मनमाना निर्यात करके अपने को मालामाल करने की नहीं सोचेगा। जिसको आज की भाषा में औद्योगिक या वैचारिक साम्राज्यवाद कहें, वह उस लालच में नहीं पड़ेगा। मशीनी उत्पादन का तर्क उस स्वदेश में मानव-हित और मानवीय परस्परता पर भारी होकर नहीं बैठ सकेगा। वह स्वदेश फौज पर निर्भर करने की आवश्यकता से मुक्त होगा। उसकी हद पर काँटे की बाड़ एकदम गैर-ज़रूरी हो जायेगी। संबंध तब लोगों के और समूहों के उस स्वदेश में स्पर्द्धा और द्वंद्व पर आधार नहीं रखेंगे—बल्कि उनमें हित की समग्रता उत्तरोतर व्याप्त होती जायेगी।

जब तक कोई देश आज की (पहले) संपत्ति और (फिर) शस्त्र की होड़ से अपने को अलग कर बुनियाद से ही विधायक-शांति की और तदनुकूल समाज की रचना का आरंभ नहीं करेगा तब तक युद्ध की बेल के बीज का सर्वतोभावेन नाश का उपाय भी नहीं होगा। और जो देश सचमुच इस आरंभ से प्रारंभ कर सकेगा वह विश्व के भविष्य का निर्माता समझा जायेगा। क्या गांधी का भारत वह देश न बनेगा?

सितंबर, '62.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक वक्तव्य

इधर बहुत दिनों से लिखा जो नहीं है सो जगह-जगह मुझसे जवाब तलब किया जाता है। मगर सच यह है कि लिखना मेरे लिए धंधे की तरह आसान नहीं बन सका है और मैं उलझन में रह गया हूँ। साहित्य के परिचय में से या उस तरह की किसी इच्छा में से साहित्य में मेरा आना नहीं हुआ। सन् 1921 ई. के असहयोग में पढ़ने से अलग हो गया और फिर इधर-उधर भटका किया। इसमें जेल जाना हुआ और सब-कुछ के अभाव में लिखना शुरू हुआ। यह लिखना फिर साहित्यिक आलोचकों से साहित्य समझा गया और उस दिशा में मुझ से अपेक्षा होने लगी। उस अपेक्षा के उत्तर पर सीधे मैं कुछ दे नहीं सकता था। आज भी देखता हूँ कि उस तरह के दावे का जवाब मुझसे नहीं बन पड़ता है।

इसमें जो विषम स्थिति कारण बनी है, उसको राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। गांधीजी हमारे राष्ट्रपिता थे, उनके बाद से राजनीति सिर्फ़ राज्य की नीति होकर नहीं चल पाती है, उसे मानव की नीति भी होना होता है। यानी मानव-जाति से विमुख होकर, उससे स्वाधीन होकर, राजनीति प्रपंच की ही नीति बन रहती है—ऐसी धारणा जन-सामान्य में प्रायः जम चुकी है। राजनीति का संबंध इस तरह राज्य से और राजकर्ताओं से अधिक जनता के सुख-दुःख से हो गया है। वह कुछ खास आदमियों की चीज़ न होकर हर आदमी के लगाव की चीज़ हो गई है। वह पेशा नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक पुरुष के लिए भी आवश्यक रूप से चिंता का विषय है। आज राजतंत्र जनतंत्र होकर ही टिक सकता है। पूरे और सच्चे अर्थों में जनता का अपना तंत्र नहीं बन जाता तब तक वह न अपने-आप में सुरक्षित है, न लोक के लिए हितकर है।

इस तरह राजनीति उसको किसी तरह निश्चित नहीं छोड़ सकती। जो संवेदनशील है। संवेदन ही जिनकी पूँजी है, ऐसे लोगों पर इसलिए कुछ अधिक ही बोझ आता है। जिन पर राज्य का, उसके पद आदि का दायित्व नहीं है, जिनकी प्रकृति में वैसी अनुकूलता नहीं है, उनको ही आज विशेष चुनौती है। चुनौती इसलिए कि हम संकट अनुभव कर रहे हैं। देश विकट अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के बीच खुद आंतरिक और निजी संकट में गिरफ्तार मालूम होता है। सब देखते हैं कि आज की-सी हालत पहले कभी नहीं थी। भ्रष्टाचार हद पर है और सभी को अपनी या अपनों की पड़ी है। पाकिस्तान नाम का राज्य हिन्दुस्तान की सहमति से बना है, लेकिन दोनों के बीच बिगाड़ है और जलन है। उसमें से जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं वे किसी को चैन नहीं लेने देतीं। उसने जीवन की सहज प्रणाली को, आर्थिक और व्यापारिक बनाव को, और आपसी नागरिक संबंधों को झकझोर कर रख दिया है। देश की चिंता-शक्ति का मुख्य भाग, उसके उत्पादन का और उसके आयकर का बहुत बड़ा हिस्सा उसी खाते में फूँक जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी विभीषिका कटती नहीं, संशय टलता नहीं है। वारदातें होती ही रहती हैं जो सबको शर्म से भर दें। हुकूमत का भारी खर्च और उसके दूसरे बड़े उपाय जनता को राहत नहीं पहुँचाते हैं। और उसके इस बड़े व्यय से अर्थात् शक्ति के इस समूचे अपव्यय में से शक्ति के संचय की आशा की जाती है। इस आपाधापी में ही यह हालत बन आई है!

गांधीजी के बाद लगता है कि वह दृष्टि नहीं है, नेतृत्व नहीं है, व्यक्तित्व नहीं है जो कुल मिलाकर देश को एकाग्र भाव से किसी दिशा की ओर ले जाये। गांधी-नीति में संभावना दीखती थी। लेकिन वह नीति तो बिखरी पड़ी है। व्यवहार से हटकर वह तत्त्ववाद में लगी दीखती है। परिस्थितियों पर और दलों पर वह भारी नहीं आती और जान पड़ने लगा है कि शक्ति संस्था में है और दलों में है और इस तरह बहुमत वाला दल जहाँ वोट पाकर बैठता है उस सरकार में है। राजकीय, राष्ट्रीय और दलीय भूमिका से अलग कहीं कोई शक्ति ही नहीं है, और दल क्यों कि कई हैं इसलिए हर एक दल दूसरे दल को पराजित करने की लगन में से देश की भलाई का अपना काम और प्रोग्राम प्राप्त करता है।

लेकिन यह झूठ है। शक्ति जनता के पास है और वहीं से किसी के पास पहुँच सकती है। दलों के पास अपनी स्थायी शक्ति नहीं हो सकती। सरकार की शक्ति जनता के पास से नहीं आती तो समझना चाहिए कि वह वहाँ है ही नहीं। जनता सारी दुनिया की अपने सुख-दुःख में एक है। दलों में, राज्यों में, राष्ट्रों में बँटकर जनता अगर खंडित होती है तो वे दल, राज्य और राष्ट्र टिकने वाले नहीं हैं। जनता को काँट-बाँटकर अब कोई अधिक नहीं जी पायेगा।

आज का संकट कुछ यह है कि जनता की आत्मा निराश है और अपदस्थ है। जो राज्य के पद पर हैं वे मुख्य हो गये हैं। नेता जनता में नहीं हैं, वे हुकूमत पर हैं। इसलिए सेवक होने और सम-समान होने की इच्छा के ऊपर नायक होने और विशिष्ट होने की वृत्ति बढ़ रही है। मूल्य असल से हटकर नकल पर जा चढ़े हैं। व्यवस्था और शासन बड़ा काम हो गया है। उद्यम और उत्पादन छोटा काम रह गया है। रचना करने से आंदोलन करना प्रमुख हो उठा है।

समूचा देश आज़ाद होकर एक विधान के नीचे आया है और रियासतें अब अलग उससे छिटकी हुई नहीं रह गई हैं। यह इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। पर कानूनी एकता को पुलिस और फौज के सहारे ही टिकना पड़ेगा कि जब तक वह संस्कृति की ओर अभिलाष की एकता पर ही कायम नहीं होता।

सशस्त्र प्रशासन के नीचे पलने वाली एकता उसके अभाव में फूटकर कब बिखर जायेगी कहा नहीं जा सकता। उस बल-भरोसे कि जहाँ से कानून है और हुकूमत है, हम निश्चिंत नहीं बैठ सकते। वह खतरनाक होगा। ज़रूरी है कि जहाँ सच्ची एकता रहती है और जहाँ से वह विकासशील बनती है, उस आत्मा को हम जगावें। मन और मूल्य हमारे बदलें। अर्थात्, वे बाहर की ओर से लौटकर अंदरूनी योग साधें और वैसे बनें जैसे गांधी काल में थे।

राजनीतिक व्यक्ति से यह काम नहीं हो सकता। इसके लिए उसे अधिक सचेष्ट और अधिक संवेदनशील बनना होगा। अथवा कि वह काम संवेदनशील व्यक्तियों के आने से हो सकेगा।

इंसान अपनी जगह रहकर राष्ट्रीय मतवाद में घिरने को लाचार क्यों बने? प्रकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहानुभूति के प्रति वह झूठा क्यों सिद्ध हो ? मानव नीति को मजबूती से हाथों में लेकर वह स्वयं राष्ट्रनीति या राजनीति को सही दिशा में रखने का काम क्यों न कर सके। गांधीजी देश का ऐक्य तभी साध सके जब उनकी संवेदना देशीय न थी; मानवीय थी; कृत्रिम और भौगोलिक न थी, प्रकृत और हार्दिक थी। सीमित नहीं थी, उससे गहरी और व्यापक थी।

बंदपने पर गर्व करने का अब अवसर नहीं है। नाना वाद (Exclusivisms) हमको घेर लिया करते हैं। ऐसे हम असीम से कटते और सीमा से चिपट जाते हैं। आवश्यकता है कि परम की श्रद्धा हम अपने में और बाहर जागृत करें।

जगह-जगह वैसे चिह्न नज़र आ रहे हैं। असंतोष है और तरह-तरह के प्रयन्न हैं। यह सूचना है कि जमाने का क्या अपेक्षा है। अनास्था को काटने के लिए सोचने का अवसर नहीं है। कटने से ही व्यर्थ विचार कटता है। और करने का आरंभ होगा श्रद्धा से, आस्था से।

अप्रैल, '50

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनी बानी

अभी बानी सुनी है, अभी उसे दोहरा दे रहा हूँ। आदि उसका नहीं जानता, शायद वह अनादि है। जो सुनता हूँ, वही सुनाता हूँ। सुनो—

विचार परिग्रह है। हर विचार परिग्रह है। आदर्श बंधन है। आदर्श और दर्शन और विचार और धर्म इन सबकी जड़ में भय है। अनागत भय, अपना भय और जाने किस-किसका भय। भय जीतना होगा, उसका सामना करना होगा। बचकर किसी दर्शन या पंथ या पुस्तक या गुरु के पीछे छिपने से नहीं बनेगा। भय क्या ऐसे तुम्हारा पीछा छोड़ देगा? इससे भागो नहीं, सामना करो। तुम्हारी बनाई विधियाँ तुम्हारे कैदखाने हैं। वे तुमको ही रोकती हैं, या वे तुमको खाती हैं। छूटना चाहते हो तो छूटने तक के विचार से छूटो। आदर्श मात्र से छूटो। हेय विधेय से छूटो। क्या सहारा पकड़ा है? लकड़ी जड़ है, जिसका आधार तुम लेते हो। उसपर उठना गिरने की तैयारी करना है। और अगर लकड़ी टिकी भी रही, तो उस पर भार देकर तुम्हें स्वयं अपना भार सँभालना कैसे आयेगा? इससे छुट्टी पाओ। खुद अपने से छूट पालो। मन को ऐसा रखो जैसे बिना बादल नीला आसमान, एकदम सूना और सुनसान। 'सुन्न महल में दियवा बारि लें।' वहाँ जो रहे अभाव रहे, ताकि सब भाव उसमें आकर जा सके। बुद्धि को रखो तरल, जैसे वायु। निराकार, निर्लेप। उसको जमकर आकार न पकड़ने दो। उसको बहती ही रहने दो। उसमें गाठें भली नहीं। विचार गाँठें हैं। हमारे बनाये आदर्श और पंथ और ग्रंथ मोटी-मोटी ग्रंथियाँ हैं। पर खूँटी पर कपड़े लटक सकते हैं, और गड़ी मान्यताओं पर आदमी लटक सकते हैं। लेकिन लटका आदमी चलता नहीं है। पैर टेककर वह भाग नहीं सकता। उड़ तो वह सकता ही नहीं। और आदमी धरती से चिपटकर कौन रह सकता है? वह पेट से नहीं चलता। उसका सिर सीधा रहने के लिए है। कल्पना उसकी उड़ने के लिए है। आदमी बनने के लिए खूँटियों का सहारा छोड़ो। उस दीवार को ही लाँघो, जिसमें खूँटियाँ गड़ती हैं। अरे क्यों नहीं समझ लेते कि खूँटियों पर उतारे कपड़े ही टँगते हैं और श्रुति-स्मृतियों पर आदमी की उतरन ही टँग सकती है। क्या तुम उतरन हो, तुम इंसान नहीं हो? इंसान हो तो तुम्हें खूँटी की टटोल क्यों हो? छोड़ो तुम उस घर को जहाँ तुम्हें बहुत आसानी पैदा कर दी गई है। यह आसानी ही परेशानी है। वही बाधा है। मुसीबत से इंसान कहीं दबता है? मुसीबत को सामने से लो। अपने लिए मुसीबत पैदा करो। सहारा छोड़ो और देखो कि बे-सहारा भी तुम रह सकते हो। क्यों बुद्धि को दरिद्र रखते हो? बंद होकर बुद्धि पीली होती है। सहारा पाकर वह ऊँघने लगती है। क्यों उसे सहारे को आदी बनाते हो? रीढ़ अपनी क्यों तोड़ते हो, क्यों उसे झुकाते हो? मुसीबत बचाना उस मुसीबत को अपने सिर हावी होने देना है। वैसे मुसीबत जीतती और तुम हारते हो। इसलिए घरेलूपन के नीचे कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न आओ। घरेलू आराम को ज़हर की तरह तजो। आराम में डंक है। आसमान जिसकी छत है और धरती जिसका कालीन है और जिसमें कभी कुछ नहीं खो सकता है, अगर ऐसे ईश्वर के घर में रहना तुम्हें नहीं आता है, रहना दूभर हो जाता है, और तुम्हें उससे एक छिटपुट घर अपना अलग चाहिए, तो चलो, कोई घर अपना बना बैठो। वैसे कोई-न-कोई घर तो तुम्हें जन्म से मिला है ही। धर्म का घर, जाति का घर, देश का घर। पर याद रखो, हर घर सराय घर है। वहाँ के आराम में गिरे कि मरे। नित प्रार्थना में रहो कि उस घर में घिरकर तुम न रह जाओ। दुःखी है वह जो छत को बीच में लेकर आसमान से अपने को काटता और दीवारें बना चारों दिशाओं के बीच अपने को मूंदता है। मुक्ति से कटता है वह जो घर में बसता है। लेकिन उससे दुःखी है वह, जो घर को घेर कर उसमें सामान को घेरता है। याद रहे कि वह अपने स्वत्व को सँकरा करता है। नहीं और कुछ कर सकते हो, तो सामान को निकाल फेंको। सामान जो जितना कीमती है, उतना मैला है, उतना ही वह ज़हर है। उसकी कीमत तुम्हारे मन में गड़ा काँटा है। काँटा जब तक है, तब तक मन को चैन कैसे हो सकता है? निकाल दो उस काँटे को। फेंक दो, फूँक दो, दे डालो। धर्म कीमती नहीं होता। उसकी कीमत दुःख है। इससे जिसको कीमती समझा है, उस सारे माल को अपना दुश्मन समझो। घर को उससे पाक रखो। बुद्धि में सोने की कील ठोककर क्या तुम छेद ही नहीं बनाते हो? या कि तुम समझते हो कि ऐसे बुद्धि समृद्ध बनती है? कीमती मानी हुई कीलें उसमें गाड़-गाड़कर तुम बुद्धी को छलनी ही बना सकते हों, जिसमें कोई सच न रुके। ज्ञान से भरकर बुद्धि को भारी बनाना अपने को दिवालिया बनाना है। बुद्धि मुक्त होकर पूर्ण है। बुद्धि की सूजन रोग है। पढ़-पढ़कर बुद्धि को पृथुल न बनाओ। ऐसे वह निकम्मी बनती है। क्यों बुद्धि के पीछे पड़े हो? ठोंक-पीटकर उसको दुरुस्त करने की सीख किसने दी? उसका कसूर तुम्हारा कसूर है। उस पर काबू मत जताओ। उसे बन्दिनी मत बनाओ। पोट बाँध-बाँधकर और गहने लाद-लादकर उसे क्या बनाना चाहते हो? वह अनुरक्त और अनुगत ऐसे नहीं बनती। ऐसे वह बेकार और बीमार बनती है। उसको नयी परिस्थिति दो, खुली वायु दो। शब्दों का घेरा मत उसके चारों ओर कसो। तब जो चाहते हो, वह तुम्हें मिलेगा। बटोरा सामान सब फेंकते जाओ। बटोरा हुआ ज्ञान परिग्रह है। वह जकड़ पैदा करता है। माल खजाना सब लुटा दो। अकिंचन होकर ही तुम विस्तार के लिए खुलोगे। कैदखाना नहीं लाँघोगे तो खुली हवा तुम्हें नहीं नसीब होगी। कैद में आराम है, पर स्वतंत्रता बाहर है। उसे पाओ। वह पाना है तो आराम को पास न फटकने दो। सहारों को दूर करो। मन के काँटों को एक-एक कर बीन डालो। उन खूँटियों को उखाड़ फेंको, जिन पर टिककर बुद्धि अपना उड़ना भूलती जा रही है। आसमान की तरह होओ, जिसमें कुछ नहीं रुकता और सब भरा रहता है। रुँधा जहाँ कुछ नहीं है, स्थित जहाँ सब-कुछ है, जिसका गुण अवकाश है, और स्वरूप शून्य है और रंग कोई नहीं है। घरोंदे अपने उजाड़ फेंको। क्या धुआँ तापते हो? बाहर जाओ। धूप उजली है, स्वागत फैला है। अंदर पड़े क्या अपने डैने फड़-फड़ाकर तोड़ रहे? अफसोस कि तुम नहीं जानते हो। डैने समेट और मन के साहस थाम तुम घोंसलों से बाहर निकलो तो देखोगे कि तुम खुद अपना सहारा हो। अरे कुछ, जो अपने को बंद रखता है, बंद वही है। और कुछ दुनिया में बंद नहीं है। आओ बाहर और उठो ऊपर।

दिसंबर, '36.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस तब, अब, और आगे

हमारी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सन् '21-'47 की अवस्था से आज सन् '53 में कमज़ोर हो आई है, इस बारे में शायद ही दो मत हों। अब सत्ता उसके हाथ में है, उसका सदस्य बनने वाले के लिए आगे तरह-तरह की संभावनाएँ खुल आती हैं। पहले सिर्फ़ सामने जेल था और दूसरी तरह के खतरे थे। फिर भी देखते हैं कि अब कांग्रेस निर्बल है, पहले वह प्रबल थी। इसलिए आवश्यक है कि हम समझें कि बल उसका क्या था, जिससे फिर से उसे बलशाली बनाने के लिए हमें उसे क्या दिशा देनी होगी इसका अनुमान हाथ आ सके।

गांधीजी का मानना था कि पवित्रता ही बल है। शक्ति नीति में है, असल शक्ति नैतिक है। और मानव क्षेत्र में काम देने के लिए दूसरी शक्ति, यानी अनैतिक शक्ति न केवल बेकार है, बल्कि हानिकर है। मूल में देखा जाये तो वह अशक्ति है, निर्बलता है; और यदि उसमें शक्ति का आभास होता है तो इस कारण कि मनुष्य में नैतिक भावना मूर्छित होने से उसकी बुद्धि का उसे प्रच्छन्न सहयोग मिल गया है। बुनियाद में वह सहयोग न हो तो शक्ति कोई दूसरी हो नहीं सकती है। नीति का व्यक्ति अपना सहयोग उसके नीचे से खींच ले तो असत् की शक्ति टिक नहीं सकती, सहज ही वह गिर रहेगी।

गांधीजी की वह बात उस समय उतनी साफ़ हमें नहीं हो सकी। कोटि-कोटि मानवों का यह भारत देश मानो उस समय हुंकार ले रहा था और हमें अवसर था कि हम मानें कि हमारा बल जनसंख्या का है। कभी अवसर ही न आया कि हम नीति को और गिनती को अलग करके देख सकें। गांधीजी के पीछे असंख्य मानवों का यह महादेश उद्यत था और हम मानते चले गये कि कांग्रेस के सदस्यों की जनगणना कांग्रेस का बल है।

गांधीजी की श्रद्धा कांग्रेस की न बन पाई। कांग्रेस राष्ट्रीय थी, गांधी धार्मिक थे। सत्य और अहिंसा गांधीजी के लिए धर्म थे, कांग्रेस ने सामाजिक नीति के तौर पर ही उन्हें अपनाया था। फिर भी गांधीजी के रहते उनके रंग से कांग्रेस बच नहीं सकी और गांधीजी का प्रभाव संस्था के रूप में कांग्रेस को प्रभाविष्णु बनाये रहा।

बल क्या होता है? मालूम होता है कि वह व्यक्ति में नहीं होता है, व्यक्ति के संबंधों में रहता है। व्यक्ति अपने में क्या है इससे अधिक दूसरे के प्रति वह क्या है, इसमें उसका बल रहता है। उसकी अपनी निजता दूसरों के प्रति बने उसके संबंधों के रूप में, उसके व्यवहार में, झलकती है। उससे अलग उसमें कोई मूल्य नहीं है, बल नहीं है। 21-47 के जमाने में कांग्रेस केवल एक संगठित संस्था न थी, एक दल न थी, वरन् समूचे देश के उठते हुए मानस की प्रतीक थी, प्रतिनिधि थी। मानो अपार जनता के मनोभावों को वह व्यक्त करती थी। तब वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी संस्था न थी जितनी जन-आंदोलन थी। उसके संस्था-पन का पता ही न चलता था। विधि-विधान का उल्लेख शायद ही तब कभी होता था, और उनकी धाराओं की याद बहुत कम की जाती थी। कांग्रेस और अ-कांग्रेस के बीच गहरी रेखा न थी। मानो देश के सभी लोग कांग्रेस थे। इस तरह देश का बल कांग्रेस में आ गया था। सक्रिय सदस्यों की संख्या तब ज़्यादा न थी, क्योंकि वह काम जोखम का था। गिने-चुने लोग थे जो उसे सँभालते थे। लेकिन जैसे वे गिने-चुने अपने पीछे अनगिनत को लिए चलते थे। वे केवल अपने में न थे, जनता के मनोभावों की थाती लिये चल रहे थे।

तब से हम जानते हैं कि शक्ति जनता में है। किंतु भाषा को जानते हैं, क्या उस सार को भी जानते हैं? बड़ा चुनाव अभी हमारे देश में हुआ, इतना बड़ा कि ऐसा दुनिया के इतिहास में न हुआ होगा और बिना दुर्घटना के हुआ। यह छोटी बात नहीं है। यानी वोट के लिए कांग्रेस के लोग जनता के पास पहुँचे और जनता ने उन्हें वोट दिये। परिणाम कि कांग्रेस सत्ता पर है। पर वोट के साथ क्या जनता की शक्ति भी आई? पहले कभी वोट नहीं लिया गया फिर भी मानो जनता की पूरी शक्ति कांग्रेस के पास थी। अब वोट लिया गया है और मिल गया है, लेकिन क्या वह महाशक्ति भी आ सकी है? यदि नहीं तो सोचने की बात है, क्यों नहीं?

जनता में जाने और जन-संपर्क बढ़ाने की बात सदा कहीं और याद की जाती है। ठीक है। पर क्या यह काफी है? क्या काफी हो सकती है? यदि नहीं, तो क्यों?

कारण मुझे यह जान पड़ता है कि कांग्रेस अधिकाधिक संस्था बनी जा रही है, चेतना नहीं रहती जा रही है। अब वह अपने में ठोस है, संघटना है, दल है। पहले उसकी जैसे अपनी अलग निजता न थी, स्वत्व न था। वह संध और सत्ता न थी। वह समाई थी और समाती थी। तब मानो हरेक उसमें था और वह सेवकों का भाईचारा थी। कांग्रेस में जो थे उनकी अपनी पृथक् हस्ती न थी, मानो वे केवल इसलिए थे कि जो कांग्रेस में नहीं है उनकी सेवा में आ सकें। अब हालत कुछ दूसरी है। मानो अब जो कांग्रेस में है इसलिए कि दूसरे दूर रहें। मानो कांग्रेस का काम अ-कांग्रेस से अपने को बचाये रखना है। उनसे लड़ना और उन्हें परास्त करना है। सेवा करना नहीं, नेतृत्व करना है!

मुझे संदेह है कि जन-संपर्क, जो नेतृत्व के लिए, प्रभाव के लिए, किया जाता है उनके सुख-दुःख से सम-रस होने के लिए नहीं, वह इष्ट परिणाम ला सकता है? अपने स्वत्व और निजत्व के विस्तार के लिए जो कोशिशें होंगी, वह बल बढ़ायेंगी नहीं। उनसे अहंकार बढ़ सकता है, पर असली बल उनसे घटने ही वाला है।

कांग्रेस गांधीजी के साथ होकर दल में न सिमट पाई। और यदि वह दल हुई भी तो गांधीजी उससे ऊपर सदा निर्दल रहे। वह स्वत्व के न बने, सेवा के ही बने रहे। अपार निरीह जनता के सुख-दुःख में घुल-मिल रहने की उनकी कोशिश रही। मानो वह नेता न थे, जनता थे। परिणाम यह कि नेतृत्व कभी उन्हें रखना नहीं पड़ा, बनाना नहीं पड़ा, मानो वह उनके पास आता और रहता चला गया। परिग्रह की भाँति वह अपने से उसे दूर ही मानते रहे, पर वह कभी उनसे दूर न हो सका।

यज्ञ पर सृष्टि चलती है। जब कांग्रेस से देश चला, तब गांधीजी की उपस्थिति के योग से कांग्रेस के बीच यज्ञ-भाव प्रतिष्ठित था। अब वह नहीं है, और सब-कुछ है। दल संगठन है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधान है, अनुशासन है, प्रांतों में और केंद्र में सत्ता है, नगरपालिकाओं में और ज़िला बोर्डों में बहुमत है, उसके बल से देश का जन और समूचा धन उसकी मुट्ठी में है। पुलिस है, फ़ौज है, हुकूमत की सारी मशीन है, करोड़ों-करोड़ रुपया है। वह भूखी-नंगी कांग्रेस नहीं जो कभी हुआ करती थी। पर एक चीज़ जो नहीं है, यज्ञ, तो मानो कुछ भी नहीं है, सब उजड़ गया है। कांग्रेस से देश तो क्या चलता, मानो खुद कांग्रेस ही नहीं चल रही है। हाल में ही हुए कांग्रेस के अपने चुनावों के बारे में ऐसी भद्दी, गंदी और हल्की बातें सुनी जा रही हैं कि क्या कहा जाये। क्या कृष्ण के पीछे यादवों को आपस में लड़ना और मरना ही था? या कि कृष्ण के अभाव में कृष्णत्व की फिर प्रतिष्ठा हो सकती थी?

कृष्ण की क्या कथा है? यह कि उनके पास सेना भी थी और सहायता की अपेक्षा में दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही उनके पास पहुँचे थे। दुर्योधन ने सेना पाई, अर्जुन के लिए अकेले कृष्ण रहे। अर्जुन के पक्ष के पांडव जीते, कौरव हारे। जीत नीति और न्याय की हुई, जिस पर कृष्ण का ध्यान था। सेना और संख्या के बल की नहीं हुई, जिन पर कौरवों ने विश्वास बाँधा था।

दल के रूप में ताकत बढ़ाकर, संख्या बढ़ाकर, अनुशासन और कौशल बढ़ाकर कांग्रेस मज़बूत और सशक्त हो सकेगी, इसमें बहुत संदेह है। भारत की शक्ति शायद उस जगह नहीं है। औरों का विश्वास भी है उस सेना और संख्या के बल पर, और वे राष्ट्र जिनका दुनिया पर प्रभुत्व है और आतंक है, बड़ी सेना और बेहद अस्त्र-शस्त्र से लैस है। वह तैयारी उनकी बढ़ती ही जा रही है। उनके पास दल हैं ऐसे सुगठित जैसे ठोस दीवार। लेकिन उन्हीं से दुनिया संकट में है। जैसे सभ्यता ही संकट में हो, और साथ मानव-जाति और उसका विकास भी। गांधीजी को आशा थी कि संकट में से मार्ग निकलेगा और भारत वह मार्ग दिखायेगा। मानो अब तक का भारत का इतिहास जैसा बना है वह इसीलिए कि संस्कृति और सभ्यता के एक विमूढ़ मोड़ पर वह अपनी युग-युग की साधना में से तीसरा मार्ग दिखा पाये।

47 के बाद अभी सिर्फ 52 ही पूरा हुआ है। यादें अभी हमारी धुंधली नहीं हो गई हैं, चिह्न जो गांधी के चरण समय की धूल पर छोड़ गये, अभी वे गीले हैं और ताज़ा हैं। और असंभव नहीं है कि हम उस राह को फिर से लें और उस पर चल निकलें। वह तो राह है कि जिसका अंत नहीं होता। गांधी चलकर उसे बता गये। पर हमें आगे चलना है। क्योंकि उनका जीवन प्रयोग रहा और प्रयोग का परिणाम वह हमें देते गये अतः उस परिणाम को हम विस्तृत परिस्थितियों में और बड़े पैमाने पर घटा दिखाने की आस्था रख सकते हैं और उधर बढ़ सकते हैं।

कांग्रेस दोराहे पर है। उसके आगे चुनाव साफ़ हैं। एक राह है जिधर चलकर सब हुकूमत के हाथ हो रहता है। सत्ता केंद्रित होती है और अमुक प्रदेश का धन-जन सब उसका स्वत्व होता है। ऊपर के निर्णय से नीचे की चीज़ें चलती हैं और इस खूबी के साथ कि जैसे मशीन चलती हो। वह सब-कुछ जो इस यंत्रवत् चलने में बाधक होता है, वैज्ञानिक निर्ममता के साथ नष्ट और नाबूद कर दिया जाता है। यह पूरा दर्शन ही है। इसको 'स्टेटिज़्म' संज्ञा दी जा सकती है। यह सबसे आधुनिक इज़्म है और मानना होगा कि बेहद वैज्ञानिक है। लगता है, दुनिया ठीक इस समय इसी इज़्म के अधीन चल रही है। उससे ईश्वर अनावश्यक हो जाता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रार्थना केवल दैन्य बनकर रह जाती है, धर्म वहाँ धोखा होता है और व्यक्ति नगण्य बनता है। संगठन और शासन वहाँ सबसे ऊँची कला होती है और श्रम की सेवा निम्न। कांग्रेस के सामने वह राह खुली है और चाहे तो वह उस पर सरपट जाने का निर्णय कर सकती है। ऐसी अवस्था में प्लानिंग अच्छा बन सकता और चल सकता है। तब पदार्थ के हिसाब में मानव-भावना किसी ओर से बाधक नहीं हो पाती; क्योंकि स्वयं उस भावना को और मन को यांत्रिक और वैज्ञानिक प्रचार से नियत और नियमित रखा जाता है। नियम नियंता-वर्ग के अधीन रहता है और नियम के बाहर शेष को असत् ठहराकर, अपनी व्यवस्था और चेष्टा से सचमुच ही मौत के घाट उतारकर, अस्तित्व-हीन कर दिया जाता है।

इस रास्ते को समूचे राजनीतिक इतिहास का अनुमोदन है। उसको हम जानते हैं, वह प्रयुक्त है, परिचित है और एकदम स्पष्ट है। उसकी नीति दो टूक है कि 'जनता के हम हितैषी हैं, उसके नेता हैं; जनता के दुश्मनों को हम होने नहीं देंगे, हो गये हैं तो रहने नहीं देंगे। एक-एक को बीन-बीनकर जनहित की रक्षा में हम खत्म कर देंगे। और जो हम हितैषियों की पाँत में नहीं हैं बस वही हैं जो जन-शत्रु हैं। हमारी क्रांति उनको जीता नहीं रहने देगी।'

यह नया मज़हब है। शायद पुराना मज़हब भी ऐसा ही होता था। पुरानों के पास ताकत शायद दिल की होती थी और इसीलिए कम होती थी।

अब ताकत विज्ञान की है और अपरिमित है। यह इज़्म, जो इस या उस रूप में 'स्टेटिज़्म' ही है, खुला हुआ सामने बिछा है। उस पर चलकर बेधड़क फतह की तरफ़ बढ़ा जा सकता है। उस नारे पर युद्ध हो तो उसे भी दल-दल के साथ जूझकर लड़ा जा सकता है।

जनता के इस तरह के सम्राट्, सेनानी, वक्ता, विचारक, और सुधारक, हितैषी, नेता कम नहीं हुए हैं। जनता की छाती उन्हें झेलती आई है। उनकी हितैषिता के कारनामे उसके भाल पर अंकित हैं। हमारी बहुत-सी तरक्की उसी दम पर हुई है। कांग्रेस उस रास्ते को समझ-बूझ कर ले सकती है और उसमें कोई दोष न होगा।

लेकिन तब गांधी के नाम को उसे एक ही बार छोड़ देना होगा। इसमें कोई हर्ज़ नहीं है। ज़रूरी समझा था तो हमने ईसा को सूली दी थी, जिसने ज़रूरी समझा उसने गांधी को गोली से ढेर कर दिया! आखिर सच का और हक का ठेका ईसा और गांधी के पास न था। कांग्रेस भी गांधी से स्वतंत्र होकर निर्णय कर सकती है। असल में स्वतंत्र ही निर्णय करना चाहिए। कृतज्ञता का पाश भी गलत है। मन में आदर रख सकते हैं, पर बुद्धि अपनी से चलना होगा।

जो खतरनाक है वह दोनों नावों पर सवारी करने की कोशिश है। सही है कि चीज़ कोई ऐसी नहीं है जिसके दो किनारे न हों। और होता हो तो छोर भी होता है, और दोनों को मिलाये रखना पड़ता है। इसलिए जीवन की कला समन्वय की कला है, इसको और उसको मिलाये रखने की कला है। हर क्षण वह समझौता है। सही, लेकिन समझौता ईमान में नहीं हो सकेगा। उसको तो एकाग्र ही रहना होगा। इसी से सत्य में आग्रह को स्थान है। समझौता और समन्वय की बात कहकर ईमान को ही दो-मुँही बनाये रखना खतरे से खाली नहीं है। ऐसे दिल-दिमाग की लड़ाई पैदा हो जायेगी, और कुछ नहीं होगा। ऐसी कोशिशों में से नटबाजी की कला उदय में आती है। 'डिप्लोमेट' ऐसा ही नट है। साधक वह नहीं होता और कोई स्थायी दान नहीं दे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता, यद्यपि कौशल का वह नमूना होता है।

इस दोराहे के मुँहाने पर कांग्रेस नटबाजी के फेर में न पड़े। समन्वय की साधना वह नहीं है। अपने को अच्छी तरह टटोलकर उसे ईमान पा लेना और स्थिर कर लेना चाहिए। शुद्ध हिंसा और अहिंसा कहीं नहीं है; पर रास्ते ज़रूर दो है, और ईमान और तरीके भी उनके मुताबिक दो ही हैं। ऊपर का राजनीति का और हिंसा का है। इसमें राज मुख्य और साध्य, शेष गौण और साधन होता है।

पर दूसरा भी है। वह रास्ता ज़रा कड़ा है। राजनीतिक इतिहास के पट पर वह कहीं चला हुआ नहीं दीखता है। फिर भी यह नहीं कि वह आजमाया नहीं गया है, बल्कि इतिहास की एक निगाह वह भी है जो सफलता को सदा उसी राह पर देखती है। उसे मारने की नहीं, मरने की तैयारी की राह कहा जा सकता है। इसमें आदमियों को जुटाया जाता है, बनाया और बदला जाता है, तपस्या से, तितिक्षा से, सेवा से। वहाँ आदमी अपने लिये स्थिति नीचे स्वीकार करता है, सेवक बनता है, दूसरे को ऊँचाई देता है और उसे अपना सेव्य गिनता है। आदि इस अंतर के साथ आगे भी अंतर पड़ता जाता है। यानी उसमें राज्य ऊपर कहीं केंद्रित नहीं होता, नीचे ग्राम पंचायत से नियुक्त होता है। समाज की उस स्थिति में केंद्र व्यक्ति होता है जिसके हृदय में स्नेह और हाथों में श्रम है, न कि कोई स्टेट जो फाइल और फीते से अपने को घिरा रखती है। तदनुरूप उत्पादन की विधि होती है और वितरण का विधान और जीवन की दूसरी व्यवस्थाएँ भी उसी नीति से स्वरूप पाती और नियंत्रित होती हैं। उस सब ब्यौरे में जाने की ज़रूरत नहीं है। कारण, उस नीति के प्रयोग और उससे निष्पन्न अर्थशास्त्र समाजशास्त्र और राज-शास्त्र का कम निर्माण नहीं हुआ है। प्रचुर साहित्य उस दिशा का मिल सकता है।

तो वह राह भी है। अच्छा है कि उसे देखकर भी निर्मम निर्णय के साथ उसे सदा के लिए छोड़ दिया जाये। लेकिन उस राह का हमें लोभ है और रह-रहकर मन यदि कह उठता है कि उसमें भी कुछ सच्चाई है, तो अच्छा है कि हम ठिठकें और अपने को सोचने का समय दें। पर लें उस राह को तो कदम फिर ढीले न रहें, मुँह न मोड़ें और उस नीति में से जो फलित हो उसका स्वीकार करें और पालन करें।

कम्युनिज़्म के पास एक पूरा विज्ञान है। अथ से इति तक निष्पन्न है और कम्युनिस्ट उस बारे में निर्भ्रम है। इसलिए वह बहुत कुछ कर जाता है और वक्त पर खुशी से मर जाता है। इस ताकत ने जैसे दुनिया को रोशनी दी है। लेकिन जैसे इसी ताकत ने दूसरी मुकाबले की ताकत को खड़ा कर दिया है। वह अपनी नहीं बल्कि एंटि-कम्युनिज़्म की ताकत है। इसलिए दोनों एक-दूसरे को काट नहीं पातीं, मानो अपनी सब कोशिशों से वे एक-दूसरे को और धार ही देती हैं।

ऐसी हालत में क्या कोई चीज़ है जो इस 'पोलेराइजेशन' (परम द्वैत) से बाहर हो? कोई डिप्लोमेसी, कोई चतुराई इस द्वैत के बीच संधि नहीं ला सकती। यूनो का चित्र समक्ष है। क्या सब कौशल वहाँ हार ही नहीं रहा है? क्या एक भी अवसर हुआ जब यह उघड़े बिना रह सका कि दोपन है, बीच में गहरी फाँक है, और पुल कितने ही बनाओ, अव्वल तो वह बनने वाले नहीं हैं, बने से लगें तो टिकने वाले नहीं हैं!

ऐसी हालत में क्या कोई जीवन का विज्ञान है नहीं, होगा नहीं, जो द्वैत से न चले और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए द्वैत पैदा न करे। जो दुश्मन न बने, इसलिए दुश्मन न बनाये। जो मारने की कोशिश में न मरे, जिससे कि मरना कायम रहे। बल्कि बचाने की कोशिश में मरे, जिससे कि फिर सब एक-दूसरे को बचाने में लग सकें। दुनिया इस कदर दिवालिया हो गई है, ऐसा भरोसा तो नहीं होता पर भारत और भारत की कांग्रेस इस दिशा में अपना दिवाला दिखा उठेगी तो फिर भला आशा दूसरे कहाँ और किससे रखी जी सकती है ?

चुनाव का अवसर कांग्रेस के हाथ है और हर कांग्रेसीजन के साथ है। देखना है कि उत्तर क्या आता है ?

जनवरी, '53.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति का प्रश्न

सांस्कृतिक शब्द का आजकल बोलबाला है। स्वतंत्र संस्थाओं के अतिरिक्त राज्यस्तर पर भी बड़े-बड़े इंस्टीट्यूशंस खड़े किये जा रहे हैं। युद्ध का खतरा ज्यों ही निकट दीखता है, उक्त सांस्कृतिकता की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। आखिर यह संस्कृति क्या है? क्या उसमें इतनी शक्ति नहीं होनी चाहिए कि अमानवीय तत्त्वों को कुंठित कर दे?

संस्कृति वह है जहाँ आदमी प्यार का काम करता है, अंहकार नहीं।अहं से कोई छूटा हुआ नहीं है। इसीलिए प्रेम अनिवार्य होता है। अहंबोध एक कष्ट है। प्रेम में जो सुख मालूम होता है सो इसी कारण कि उसमें अहं भाव हमसे छूटता और पर के प्रति विसर्जन का भाव जागता है।

आपका प्रश्न यह बनता है कि अहंकारों में जब विग्रह छिड़ता है तो प्रेम वहां क्यों अकारथ हो जाता है? संस्कृति क्यों असमर्थ और अपंग दीखती है उस समय जब युद्ध की चुनौती सामने होती है?

इस प्रश्न में एक भ्रांति है। 'आपकी' संस्कृति 'मेरे' अंहकार का शमन क्यों नहीं करती, प्रश्न का मूल यह रूप है। आप देखें कि वह साफ ही बेढंगा और औंधा है। अहंकार का उत्तेजन जब हो तब प्रेम तो भाग ही चुका होता है। यह कहना कि प्रेम उस समय क्यों अपनी शक्ति नहीं दिखाता मानो यह पूछना है कि अहंकार जागता ही क्यों है? इस तरह प्रश्न उलट-पलट जाता है। अर्थात् संस्कृति पर दायित्व राजनीति का नहीं है।

लेकिन आज शायद आप मानव-जाति को एक इकट्ठे रूप में देखकर पूछना चाहते हैं कि संस्कृति की शक्तियाँ क्यों निर्बल साबित होती हैं? और उससे विरोधी, अहंकार की कहो या पशुता की शक्तियाँ क्यों जबरदस्त निकलती हैं? कुल मिलाकर अवश्य ऐसा होता दीखता है। लेकिन तब यही कहना होगा कि मनुष्य संस्कृति के सोपान में अभी उतना ऊँचा नहीं पहुँच पाया है।

मुझे यह भी प्रतीत होता है कि सदा-सर्वदा व्यक्ति को ऐसा ही लगेगा, लगते रहना चाहिए कि मनुष्य काफी संस्कारी नहीं अभी बन पाया है। यह असंतोष दैवी गुण है और जगत् के सब प्राणियों को छोड़कर एक मनुष्य में ही संभव है। यह हमारी संस्कारिता का ही प्रमाण है कि हम अनुभव करते हैं, हम काफी सुसंस्कृत नहीं हैं। वास्तविक और ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पिछले युगों से मनुष्य बहुत आगे आ गया है। संस्कृति के मान में भी मानव-जाति ने उत्कर्ष किया है। इस संबंध में अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है कि पाषाण-युग, धातु-युग आदि को पार करता हुआ मनुष्य अणुयुग में आया है तो यह उन्नति है। यह माने रखना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकदम हठवाद होगा कि इस काल में मनुष्य ने विकास नहीं किया है। हमारी संस्थायें सब इसका प्रमाण हैं कि मन-मस्तिष्क दोनों ओर से मनुष्य ने अपना अगम विस्तार साधा है। इस प्रगति पर यदि आज मनुष्य को संतोष नहीं है तो यह स्वयं उसके उन्नत मानस का परिचायक है।

अहंकार पर सहकार की विजय न होती चली जाती तो आज हमारे पास वह अंतर्राष्ट्रीय तंत्र उपस्थित नहीं हो सकता था जो है और काम कर रहा है। यह अब संभव नहीं रह गया है कोई व्यक्ति और देश अपने में बन्द और दूसरे से अप्रभावित रहे। शक्ति-व्यूह का कहीं तनिक असंतुलन यहाँ से वहाँ तक सारे विश्व को विचलित कर देता है। दूर निर्जन प्रदेश में शासन की समस्या उठती नहीं कि दुनिया की बन जाती है। यह यथार्थता आप देख रहे हैं और मैं देख रहा हूँ। अहंकार जो आदमी को अपने में सब-कुछ माने रखने में सहायता देता था, आज किसी का भी टिक नहीं सकता है। यह उस सहभाव की विजय नहीं तो क्या है। इसके मूल में प्रेम-मूलक संस्कृति ही हो सकती है।

अहंकार से छुटकारा हो गया है, सो नहीं। वह छुटकारा पूरी तरह कभी होने वाला भी नहीं है। पुरुषार्थ सदा अपेक्षित रहेगा और कभी न होगा कि आदमी रहे और पास करने-जीतने को कुछ न रहे। उसके अन्दर का मूल विग्रह यह अहंभाव उसका अंत तक साथ देने वाला है। मुक्ति और मृत्यु से पहले एक क्षण के लिए वह उसे छोड़ने वाला नहीं है। वह गया तो द्वैत ही चला गया और फिर प्रेम तक के लिए अवकाश नहीं रह गया। प्रेम तभी तक संभव और कार्यकारी है जब तक स्व के लिए कुछ पर भी हो। संबंध का अवकाश जहाँ तक है, प्रेम की भी वहीं तक व्याप्ति है। 'मैं' समाप्त हो गया तो 'वह' और 'तू' भी खत्म हो गया, तब की तो बात नहीं की जा सकती। वह अवस्था अनिर्वचनीय है।

इसलिए अहं खत्म तो नहीं होता, नहीं ही होने वाला है। उसका रूपान्तर अवश्य हुआ करता है। वह अहं आज विराट बन गया है। राष्ट्रव्यापी से कहीं आगे आज आकर कम्युनिस्ट इंटरनेशनल, कामनवैल्थ, सीटो, नेटो आदि उसके अनेक रूप हैं! विश्व का एक अहंकार तो नहीं बना है और राजनीतिक धरातल पर उसकी कोशिश चल रही है। यूनो अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, अहंकारों का सम्मेलन है। एकता का संघीय संगठन नहीं है लेकिन धीरे-धीरे वह भी संभव हो सकेगा। अहंकार का यह फैलाव स्वयं में संस्कारी नहीं है, विस्तार की परिधि पर सदा वहाँ सुरक्षा की चिंता और युद्ध का ठनाव है लेकिन जिस कारण यह विस्तार अनिवार्य होता हुआ बढ़ता ही जा रहा है, उसमें जाने-अनजाने मानव-संस्कृति के तत्त्व पड़े हुए हैं। अपने को आत्मतुष्ट मानने के सिद्धान्त से (मुनरो डॉक्टरीन) अमेरिका को बाहर आना पड़ा, तो यह किसी संकीर्ण स्वार्थ के कारण नहीं, बल्कि इस पहचान के कारण कि कोई स्वार्थ संकीर्ण रहकर स्वयं को सिद्ध नहीं कर सकता है। इस तरह आदमी चाहे अपने में यह अनुभव कर रहा हो कि उसका अहंकार दिन-दिन विस्तृत हो रहा है और यह मद भी उस पर चढ़ता जाता हो; शायद सभ्यता का मद यही है, लेकिन इसमें परस्परता के विकास का ऐतिहासिक तत्त्व काम कर रहा है। परस्परता का भाव घनिष्ठ ही होता जा रहा है। आज का युद्ध जो जागतिक (ग्लोबल) हुए बिना रह नहीं सकता, स्वयं क्या दरसाता है? यही नहीं कि अब हम आपस में उस तरह बँटे और बिखरे नहीं हैं; अगर बँटे हैं तो कुल दो छावनियों बँटे हैं। इस अकेले दोपन के अलावा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम आपस में बेहद मिले हुए हैं। देशों के अरबों-खरबों के बजट, आवागमन यातायात के संवर्द्धमान साधन, भी महोद्योगवाद और बृहत् यंत्रवाद—अगर ये सबूत हैं तो इस बात के हैं कि हम एक-दूसरे के पास पहुँच रहे हैं, आपस में काम ले रहे और काम आ रहे हैं।

इस विस्तार के प्राथमिक रूप को अवश्य राजनीतिक कहना चाहिए। वहाँ पर आपको अहंकार के दर्शन होंगे। वहाँ इसलिए शस्त्र है, सन्नद्धता है, कूटनीति है। लेकिन परिधि पर की इस विवशता और त्रुटि को देखकर केंद्र के समीप जो सिद्धांत चरितार्थ हो रहा है, उसके प्रति असावधान होना अंधा बनना है। केंद्र में मनुष्य का नहीं ईश्वर का हेतु है। प्रेम का और संस्कृति का नियम वहाँ वर्तन करता है। वहाँ व्यथा है, श्रम है। वहाँ दावा और घोष यदि उतना नहीं है, तो उस बारे में भूल करना अनजान बनना होगा। आज का लोक-नेता लोक-विधाता नहीं है, लोकाश्रित है। उसको वोट की ज़रूरत होती है, उसको जनता का प्यार और विश्वास चाहिए। संभव हो सकता है कि वोट उसे चतुराई से मिल जाये, लेकिन जैसे भी हो यह अनिवार्य है कि लोकमानस उसको स्वीकार द्वारा ऊपर लाये। निश्चित मानिये कि लोकमानस में उतर सकने वाले तत्त्व वे हैं जो सेवा और श्रम के संग-संग रहते है। दर्प और दंभ लोक हृदय में स्थान नहीं कर पाते। वे जन नम्र हैं और मौन हैं, इससे हमें सुविधा है कि कह दें कि वे नहीं हैं, हैं तो कार्यकारी नहीं हैं। लेकिन यह कहेंगे तो तब जब दूर-दर्शन और अंतर-दर्शन से बचेंगे। सच मानिये कि यदि धरती पर पाप है और रसातल नहीं ज़ाती है तो इसी वजह से कि टिकी हुई वह पुण्य पर है। पुण्य भीतर है, पाप ऊपर है, इस वास्ते ही भ्रम उत्पन्न होता है। लेकिन सम्यक्-दर्शन का महत्त्व ही यह है कि वह सुगम नहीं होता है, इन चाम की आँखों नहीं हो पाता है। श्रद्धा से उसका साक्षात्कार होता है, अन्यथा दर्शन बन नहीं पाता। आपने जो कहा वह दीखने वाला सच हो सकता है, इस दृश्य रूप के नीचे जी के गहरे में बसने वाला जो सच है उसको जो पहचानता है वही पहचानता है। रूप की हिलोर में आप मुग्ध और चमत्कृत हो सकते हैं, लेकिन वे जो अन्तर्मन में बिथा जल रही है उसको पहचानेंगे तभी पहचान वाले कहे जायेंगे। तब हो सकता है रूपसी का आप मन पा लें, उसका सच पा लें, और तब उसका अर्पण भी पा जायें। दुनिया क्यों उनके पीछे पागल बनी है जिन्होंने रूप को ही नहीं चाहा है।

मानना होगा कि संस्कृति में विचार ज़्यादा है, व्यथा कम है। व्यथा में से साहस और कर्म की निष्पति है। राजनीतिक के पास इस साहस और कर्म की पूँजी हुआ करती है। इसी में से उसकी प्रबलता बनती है। इस प्राबल्य से इंकार नहीं है और यदि संस्कारी व्यक्ति से यह अपेक्षा है कि वह तात्कालिक भाव से प्रबल हो तो उसे विचार से अधिक व्यथा को अपने भीतर लेकर वहाँ से साहसिक कर्म को उत्कृष्ट करना होगा। कर्म वह है जो अकेले संभव नहीं बनता, इसीलिए भाव से कर्म आगे बढ़ जाता है। भाव अपने में समाकर रह सकता है और सहकार-सहयोग के बिना भी जी सकता है। भाव जब कर्म में व्यक्त होने बढ़ेगा तो उसे सहकार में आना होगा। ऐसे उसमें पारस्पर्य और बल उत्पन्न होगा।

विचार एकाकी होता है, कर्म द्वारा सांघिक सामाजिक बनता है। कर्म प्रवृत्ति है, विचार निवृत्ति है। उस निवृत्ति में से प्रवृत्ति और अकर्म में से कर्म निकलेगा तो उसकी प्रबलता अमोघ होगी। संस्कृति के प्रतिनिधि ऐसा नहीं कर सकेंगे तो कभी संभव नहीं बनेगा कि अहं की परिधि पर शस्त्रास्त्र की हुंकार और युद्ध ललकार समाप्त हो! वह मोर्चा जब जिस देश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसा अथवा प्रेम के वृतियों के हाथ आ सकेगा, तभी दिखाई दे आयेगा कि राजकरण में भी प्रेम अहं से बड़ा मूल्य है। प्रेम का सत्य केवल वैयक्तिक नहीं है, राष्ट्रीय और संघ-राष्ट्रीय तल पर भी उतना ही सार्थक और समर्थ है। आज तो कोई देश वहाँ तक उठा हुआ नहीं है। स्वयं गांधी का भारत मोह में पड़ा है और संस्कृति को उपकरण के रूप में ही वह ले सकता है, उससे आगे की श्रद्धा वह भी खो बैठा है।

संस्कृति के दैन्य दोर्बल्य में अतः उस शब्द को जिस रूप में हम चलाते नचाते हैं उसका दोष है। मूल तत्त्व की त्रुटि नहीं है।

नवंबर, '61.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के संदेशाधिकारी नेहरू

जवाहरलालजी से कौन अनजान है। कुछ भी उन्होंने अपने पास नहीं रोका। समय को भी अपने में नहीं रोका। अपना सब-कुछ वह देते ही चले गये हैं। इस प्रकार उनके संबंध सब ओर फैले हैं। पर उन असंख्य मानव संबंधों के विस्तार में भी वह सीमित नहीं है। सब उन्हें जानते हैं, फिर भी सभी को विस्मय है कि क्या वे उन्हें जानते हैं। कारण, धरती पर जितने हैं उससे अधिक वह हवा में हैं। इस हवाई चीज़ को पकड़ना आसान नहीं। मालूम होता है कि वह जहाँ भी हैं वहाँ और उतने ही नहीं हैं, उससे परे और आगे भी हैं। मानव संबंधों में उन्हें पूरी तरह पकड़ा या समझा नहीं जा सकता। उनके पार जो आदर्शों का लोक है, जवाहरलाल एक क्षण वहाँ से भी अपने को तोड़कर अलग नहीं कर पाते हैं। इस तरह बहुतों को वह बहुत जल्दी नाराज़ और निराश कर देते हैं। लेकिन अगले क्षण ही नाराज़ी दूर हो जाती है, निराशा उड़ जाती है। क्योंकि जवाहरलाल की मुस्कराहट उन्हें बता देती है कि वह व्यक्ति नहीं, बालक हैं। बालक में स्वार्थ गाँठ नहीं बन पाता, सब कुछ उसमें हरा और लहराया रहता है। आँख उसकी साफ़ और मन सदा आगे रहता है। बालक करता नहीं है, उससे होता है। अपनी त्रुटियों और खूबियों के लिए भी मानो पूरी तरह उसे जिम्मेदार ठहराया नहीं जा सकता।

व्यक्ति यों तो आत्मा है, लेकिन सशरीर इस जगत् में होकर धीरे-धीरे बहुत सारा वह अपने पास जुटा लेता है जो औरों से काटकर उसे अपनी निजता की गाँठ में अलग बांध देता है। तब संघर्ष उसका नियम और अहं-रक्षा उसकी चिंता होती है। शरीर के चलाये तब उसे चलना और उसकी भाषा में जीना होता है। इस तरह जीवन उसके लिए समस्या बनता है और वह जगत् की गुत्थी में मानो अपनी ओर से एक उलझन और बढ़ाता है।

जवाहरलाल में यह किनारा नहीं, ऐसा तो नहीं कह सकते। उनके रक्त में सम्भ्रांति है। नसों में 'नीला खून' है। वह उनको एक दर्पी और प्रतापी व्यक्तित्व प्रदान करता है। वह उनको अलग छाँट देता है। पर भीतर से जवाहरलाल इस अपनी विशिष्टता पर प्रसन्न नहीं हैं। यह विशेषता है जो राजनीतिक रखकर भी उन्हें स्मरणीय बनाती है। अधिकांश राजनीतिक विस्तार में रहते हैं। इसलिए तत्काल में उनकी सीमा है और वहीं समाप्ति है। भावी में उनकी व्याप्ति नहीं होती। अमरता में वे नहीं उठते। मरकर वे ऐसे मिटते हैं कि किसी कृतज्ञता में याद शेष नहीं छोड़ जाते। इतिहास उन पर धूल ही चढ़ाता जाता है। अतीत में भीतर से उन्हें जगाने की चिंता भविष्य को नहीं होती। पर जवाहरलाल को अपनी निज की विशिष्टता अन्दर से प्रिय नहीं, यही अमरता के प्रति उनका दावा है। अंत में यही उनकी समस्या भी है।

वह शक्ति के क्षेत्र में नगण्य नहीं हैं। वह क्षेत्र आवश्यक रूप में स्वार्थों का क्षेत्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति का मतलब ही है कि सामने तुलने को दूसरी शक्ति भी है। उस शब्द में ही प्रतिद्वंद है। विरोध और विग्रह के बिना शक्ति निष्फल ही अधिक है। विग्रह तमाम विरोधी स्वार्थों में हुआ करता है। ऐसा होकर भी जवाहरलाल किसी स्वार्थ के प्रतिनिधि नहीं हैं। भारत के, भारतीय सत्व के, सरकार के प्रतिनिधि हैं। फिर भी उसकी सत्ता के प्रतिनिधि उन्हें नहीं कहा जा सकता है। भारत उनके लिए भूगोल नहीं है, मानो एक आत्मा है, एक आदर्श है, एक आवश्यकता है। स्टालिन ट्रूमन के मिलने-जुलने में जो दिक्कत होती है, जवाहरलाल के साथ उसकी कल्पना भी मुश्किल है। कारण, जवाहरलाल के पास देश की क्या अपनी निज की अस्मिता के लिए भी स्थान नहीं है। यह इसीसे है कि शासक के साथ वह मित्र भी हैं, सेवक भी हैं। सच पूछिये तो सही ढंग के वह शासक ही नहीं है।

आदमी शरीर रखकर चलता है। लेकिन कल्पना उस बंधन से उलटी ही उड़ती है। शास्ता कल्पना-बिहारी नहीं हो सकता। इस तरह शासक अनागत के आवाहन में सदा ही बाधा है। वह स्थिति से बँध जाता है और गति यथा किंचित् उससे रुकती ही है। काल-गति उसे तोड़कर अपने को संपन्न करती है। शासक और कवि में इसलिए मौलिक विरोध है। जवाहरलाल में यह विरोध कम नहीं हो गया है, लेकिन कभी वह अखरता नहीं है। कहना मुश्किल है कि वह साहित्यिक अधिक है या राजनीतिक। कल्पनाशील नहीं तो वह कुछ भी नहीं। यह कल्पनाशीलता प्रधानमंत्री नेहरू के लिए भूषण है, दूषण बिल्कुल नहीं। यही जवाहरलाल की प्रतिभा का प्रमाण है।

नेता की भिन्न कोटि है। राजा का बेटा राजा होता है और कुर्सी आदमी को अफसर बना सकती है। पर नेता शासक से अलग है। नेता उठाता है, शासक दबाता है। ज़रूरी है कि आत्मा का खिंचाव नायक में अधिक हो, शरीर का लगाव कम। वह निस्पृह हो, बहादुर हो, खरा और बेलाग हो। शरीर से स्वार्थ उपजता है, आत्मा से ही प्रेम। आत्मोन्मुख होने पर ही व्यक्ति उठता है। आत्मवान ही असल अर्थ में विराट् बन सकता है। नायक को इस तरह अलक्ष्य की ओर ही बढ़ना होता है, जिसमें सहारा केवल उसकी श्रद्धा हो। अब अनुयायी होता है उसका शरीर। आजकल पार्टी लीडर पार्टी से अलग और ऊपर कुछ रह नहीं जाता, इसलिए वह जोड़-तोड़ में रहता है। उसकी खूबी चतुराई की बन जाती है। निष्कपटता में उसे खतरा है। शौर्य और पराक्रम उसमें झलक नहीं सकते। किंतु जवाहरलाल की धातु और है। देश और पार्टी के नेता होकर भी देश और पार्टी को वह आश्वासन नहीं पहुँचा पाते हैं कि वह उनसे घिरे हैं। यही उनका नेतृत्व है, जो उन्हें ढकता नहीं उलटे मुक्त करता है। नेतृत्व उनकी चिंता नहीं; बोझ की भाँति आ गया हुआ एक दायित्व है, जो विनम्र और कुशल तो उन्हें बना सकता है, कायर और कुटिल नहीं।

दुनिया की आज की स्थिति में जवाहरलाल से बहुत आशाएँ हैं। गांधी ने एक नई दृष्टि और नई परंपरा जाग्रत की थी। उन्होंने दिखाया कि संसार का काम ईश्वर की नीति से ही चलेगा, और चलाना होगा। सांसारिक नीति कोई अलग नहीं हो सकती। आत्मा के अनुसार चलने में ही शरीर का स्वास्थ्य है। इसलिए संसार के भले के लिए सम्राट् और राजनेता नहीं चाहिए, सेवक और शहीद चाहिए! शासक और श्रमिक की खाई झूठी है। शासक बोझ हैं, इसलिए शासक बदलने, उनकी संख्या कम-अधिक करने, और शासन तंत्र को इधर या उधर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने से असली कुछ लाभ होने-जाने वाला नहीं है। आर्थिक कहकर जिस कार्यक्रम के सहारे विश्व में सहयोगी, शांत और सही व्यवस्था हमें लानी है, उसका तथ्य अंक और हिसाब में नहीं है। मूल की ओर से उसे नैतिक और सेवा-भावी होना है। उसके लिए सबसे पहले हृदय का परिवर्तन करना है, स्पर्धा की जगह प्रार्थना से चलना है। सारी दृष्टि को ही बदल डालना है। तब शासन और श्रम दोनों के ही क्रम और कर्म बदलते दिखाई देंगे। उनके विकार को दूर करके उन्हें संस्कार देना है। नहीं तो रुग्ण साधन से नीरोग साध्य नहीं प्राप्त होने वाला है।

गांधी की यह दृष्टि सारे राजनैतिक संसार के लिए चुनौती है। खासकर अब जब कि नसों में तनाव है। शस्त्र भीषण वेग से तैयार हो रहे हैं और एक-दूसरे को अकारथ करने और दोषी और दुष्ट प्रमाणित करने की कोशिश चल रही है। संक्षेप में जब युद्ध चारों ओर से लगा अनुभव होता है, गांधी का मार्ग त्राण का एक राजा मार्ग रह जाता है। जवाहरलाल के हाथ उस परंपरा का उत्तराधिकार है और उस मार्ग के द्वार की कुंजी है। गांधी लंगोटी और झोंपड़ी में रहते थे। जवाहरलाल सूट और महल ही में रमते हैं। गांधी चर्खे पर मन रखते थे, जवाहरलाल की आँख मशीन और ट्रेक्टर पर है। यह अंतर है और जवाहरलाल को बहुत फ़ासला तय करना है। फिर भी विनोबा से भी ज़्यादा उस परंपरा की रक्षा जवाहरलाल के हाथ है—और विलायतों को जवाहर से वह चीज़ मिलनी और ले लेनी है। नहीं तो नहीं कहा जा सकता है कि तीसरा विश्वयुद्ध न होगा, या कि फिर उसी की कड़ी में चौथा प्रलय युद्ध न आकर टूटेगा।

एक बात साफ़ है। वस्तु की बहुतायत, उसका मशीनी उत्पादन, सबकी वैसी आवश्यकताओं की झटपट पूर्ति—इस तरफ़ जवाहरलाल का रुख और जोर है तो यह खुद वस्तु की चाह के कारण नहीं, बल्कि खरी मानव सहानुभूति के कारण है। इंसान से उसे प्यार है और आदमी को भूखा-नंगा देखना वह सह नहीं सकता। भूखे-नंगे को गांधी 'दरिद्रनारायण' कहकर जबकि अपने से ऊँचे स्थान पर रखते थे, तब जवाहरलाल उस भावना में उनका साथ नहीं दे पाते। इसे उनके स्नायुओं की विशेषता कह लीजिए। लेकिन अगर वह कपड़े से और रहन-सहन से शालीन रहते हैं, तो इसलिए कि वह नहीं चाहते कि कोई एक घड़ी भी अपना भूखा-नंगापन बर्दाश्त करे। गांधीजी जिसे मंदिर में बिठाते हैं, उसका अपने कमरे में कदम रखना भी जवाहरलाल बर्दाश्त नहीं कर सकते। इस ऊपरी विरोधाभास के नीचे दर्द की थोड़ी-बहुत आंतरिक एकता भी नहीं देख सकते तो हम खुली आँखों अंधे ही रहेंगे।

अगर जवाहरलाल आदर्श और नीति से भटकते भी हैं तो वह दर्द ही उन्हें भटकाता है। उस दर्द से बढ़कर भी क्या कोई आदर्श है? कोई नीति है? जवारहलाल इसी मूल-प्रेरणा के कारण गांधीवादियों से अधिक गांधी-परंपरा के उत्तराधिकारी हैं।

जिस पर इस तरह हम विस्मय कर सकते हैं, उसी तरह हम तरस भी खा सकते हैं। भंयकर विरोधाभास जवाहरलाल में आ जुड़े हैं। व्यक्तित्व जो जितना समृद्ध और संपन्न होगा, उतना ही विरोधाभासों का क्रीड़ा क्षेत्र होगा। समस्त, समत्व और एकत्व जहाँ परिपूर्ण होता है वह तो है भगवान्। गुण सब वहीं से हैं, और वह स्वयं निर्गुण है; साकार सब-कुछ उस निराकार में से है। पर जवाहरलाल के प्रति गहरी करूणा होती है जब देखते हैं कि इतने तीव्र विरोधों को भीतर रखकर भी उन्हें उन भगवान् की उपासना प्राप्त नहीं है जो समस्त विरोधों के निर्विरोध अंत हैं और सब अशांति के लिए चिर-शांति हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जवाहरलाल अंतःसमाधान नहीं, जो कदाचित् निर्वाण है। वह सतत प्रश्न हैं, जो शायद यह जीवन है। वह एक गंभीर और गहन ट्रेजडी है। महान् जो भी है ट्रेजिक है। जवाहरलाल में महत्ता है और वही ट्रेजडी है। यदि केवल वह व्यस्त न रहते, बल्कि आगे बढ़कर अपने लिए छीनकर एकाध पल की फुर्सत वह भी ले लेते और उस फुर्सत में सचमुच शून्य होने, अर्थात् स्वयं न होने, की कृतार्थता पा सकते, तो ? तो—

पर यह 'तो !' तो ठाली की कल्पना है। जवाहरलाल से गांधी होने का दावा करने की अदया हम कैसे कर सकते हैं। हम कैसे चाह सकते हैं कि अंतरंग व्यथा किसी में बढ़े, लेकिन अगर उनका मस्तिष्क जो पश्चिम की शिक्षा से खूब सध गया है, तनिक सहृदय होता, और सहज-सहानुभूति को बीच में लपककर उसे बौद्धिक योजनाओं का रूप देने में इतना अभ्यस्त न होता तो क्या सचमुच ही वह सहानुभूति उनके सारे व्यक्तित्व को जलाकर आज आग न बना देती कि जिस पर न कपड़ा टिकता, न पद और महत्त्व, और न बड़े-बड़े नक्शे, बल्कि अपने समूचेपन में वह आँसू और आग की एक कविता बन जाता !

जवाहरलाल अमरीका से अपने जन्म के दिन पर ही भारत पहुँचे हैं। भारत के वह हैं, और कहीं कुछ करें, जन्म वाला दिन तो उनका भारत के ही भाग्य में रहने वाला है। आज तो दुनिया विग्रह पर खड़ी है और एक को जो उजला है वही उस कारण दूसरे को काला दीखता है। क्या हम कहें कि नेहरू अमरीका जीतकर आये हैं ? कहिये, तभी उधर दूसरा कहेगा कि अमरीका में वह बिक कर आये हैं। दोनों ही राष्ट्रगत स्वार्थों की भाषा हैं। उसमें भारत की आत्मा नहीं है। कुछ को शिकायत रही कि भारत के इतिहास में राष्ट्र का उदय नहीं हुआ। इतिहास की जगह जो हो, भारत की आत्मा कभी खण्ड के गर्व में नहीं उफनी, अखण्ड की पूजा में ही उसने अपनी लगन रखी। विश्व की और मानव-जाति की वह अखण्डता आज बीसवीं सदी में तथ्य की और व्यवहार की बात हो आई है। भारत ने तो सदा माना कि वह अखण्ड ही सत्य था और है, लेकिन समाजवादियों ने उसे स्वप्न कहा। आज यद्यपि विश्व अखण्ड होकर समक्ष है, फिर भी राष्ट्र अपने उत्कट राष्ट्रवादों से चहके हुए हैं। वे शांति चाहते हैं, पर औरों के सिर चढ़कर। क्या अब तक इसी वृत्ति में से युद्ध नहीं निकलते रहे हैं ? अपने को महत्त्व देने का यह आग्रह तो सदा का नियम है। किंतु दूसरों को महत्त्व देकर चलने का नियम सिर्फ एक भारत में पनपा है। वही अहिंसा का नियम है जिसे गांधी ने फिर से स्वयं भारत को और उसके द्वारा जगत् को अर्पित किया है। भारत में चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होंने आक्रमणों को झेला और परास्त किया और देश के माथे को ऊँचा रखा। फिर भी भारत के आत्म-शौर्य का प्रताप ज्वलंत होता है—राम-कृष्ण में, बुद्ध-महावीर में, शंकर-चैतन्य में। और वास्तव में गांधी में वही है जो जगतवन्दनीय हैं। भारत के बाहुबल को कभी इतना दर्पी बनने नहीं दिया गया कि वह दूसरे के लिए संशय और नीति का कारण हो। सदा ही वह आश्वासन का साधन और वाहक होकर रहा।

जवाहरलाल पश्चिम को उसी विश्व की अखण्डता का दिग्दर्शन कराते हुए अमरीका से आ रहे हैं। अमरीकी अहंता को उनसे उत्तेजना और अभिनंदन नहीं मिला है। महत्त्वाकांक्षा को नहीं, बल्कि पश्चिम की उत्तरदायित्व-भावना को उन्होंने उभारा है। भारत के योग्य उत्तराधिकारी के अनुरूप ही उनका यह काम हुआ है। सत्ता के प्रतिनिधि तो वह थे और इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैसियत से उसकी तत्कालीन आवश्यकताओं का उन्होंने ध्यान रखा है, पर भारत के सच्चे सर्वकालीन संदेश का प्रतिनिधित्व भी उन्होंने वहाँ किया है।

आगामी विश्व में वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व निश्चय अधिक होने वाला है। तब विश्व का केंद्र पश्चिम नहीं पूर्व होगा। क्योंकि इंसान ज़्यादा यहीं बसता है। एशिया सिर्फ़ खपत की मंडी है, उस समय तक कि जब मशीन पर हमारा आधार है। पर आधार जब स्वयं मनुष्य होगा तब एशिया अनायास विश्व को शक्ति, शांति और प्रकाश देने वाला भूखंड हो जायेगा। अंडर-डवलप्ड जो वस्तु की ओर से है, वह आत्मा की ओर से भी अविकसित है—यह मानकर चलना योरुप व अमरीका के लिए भयंकर खतरे की बात होगी। जवाहरलाल से यह चेतावनी पूरे और सही अर्थ में मुल्कों को मिली है। जिनको नहीं मिली, हमें आशा करनी चाहिए कि काल संकेत से वे भी जानेंगे और अधिक गफ़लत में नहीं रहेंगे।

भारत के अतीत गौरव के उत्तराधिकारी, भारत के आत्मगत संदेश के वाहक गांधी के नियुक्त जवाहरलाल का इस आगमन और नव वर्ष पर हम अभिनंदन करते हैं।

दिसंबर, '50.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधी, नेहरू और हम

नेहरू अब नहीं रहे। सन् 1947 से अब (सन् 1964) तक के काल को नेहरू युग कहा जा सकता है। उसका आरंभ उस भारत से हुआ जिसमें से पाकिस्तान कटकर अलग हो चुका था। भारत का बँटा स्वराज्य आया ही था। गांधीजी राजनीतिक क्षेत्र से मानो विचारपूर्वक हटकर बँटवारे के कारण जो हिंदू और मुस्लिम संज्ञाओं के बीच गहरा घाव बन गया था, उसके उपचार में लग गये थे। असल में यह काम बुनियाद का था, जहाँ से स्वयं राजनीति को आधार मिलता है। खासकर अगर राजनीति को मानव-नीति से स्वतंत्र न रहना हो, युद्ध की विवशता से उसे उत्तीर्ण होना हो, तो वह बुनियादी काम अनिवार्य ही हो जाता है। कहना चाहिए कि इस कटे स्वराज्य के दुर्योग के क्षण से ही गांधीजी उस स्वराज्य को सच्चा, संयुक्त और संपूर्ण बनाने के जड़ के काम में जुट गये थे। यह शक्ति की राजनीति से दूर हटा हुआ काम मालूम होता था और स्वराज्य का प्रश्न अगर धूमधाम से दिल्ली में मनाया जा रहा था तो गांधीजी पाँव-पैदल उस वक्त दूर नोआखाली के वीरान में घूम रहे थे। हुकूमतें दो भले ही हो गई हों, हिंदू और मुस्लिम के नाम पर हृदय दो नहीं हुए हैं और नहीं हो पायेंगे, इस अपने दावे को सच्चा करने में वे लग गये थे।

गांधीजी के बाद वह काम छूट गया और सन् 1947 से 1964 तक का नेहरूयुग गांधीजी के छूटे हुए अधूरे काम को आगे नहीं ले जा सका। बल्कि वह मुख्यता से उस समस्या में घिरा और अटका रहा। नेहरू के मन में हिंदू-मुस्लिम का कोई भेद न था। उनके लिए यह आन की बात थी कि भारत देश और भारतीय शासन धर्मनिरपेक्ष रहेगा और मुस्लिम का किसी भी विचार से यहाँ हिंदू से दोयम स्थान न होगा। लेकिन कांग्रेस विभाजन मान चुकी थी और नेहरू विभक्त राष्ट्र के प्रधानमंत्री बने हुए थे। इस तरह वह पाकिस्तान के लोकमत पर या उसकी शासन-नीति पर, किसी प्रकार का प्रभाव डालने में मानो असमर्थ हो गये थे। भारतीय स्वराज्य के सत्रह वर्षों का यह नेहरू-युग उस प्रश्न से परिणामतः निरंतर इस प्रकार आक्रांत बना रहा कि थाती के रूप में वह आने वाले उत्तराधिकारियों के समक्ष भी यह प्रश्न दीवार की तरह अड़ा-खड़ा दिखाई देगा। पूर्वी बंगाल से लगातार आने-जाने वाले विस्थापितों का सवाल है, इधर कश्मीर का सवाल भी, खासकर शेख अब्दुल्ला साहब के बाहर आने पर दहकते अंगारे के मानिंद बन गया है। दो अलग कौमों के रूप में हिंदू और मुस्लिम को न तो गांधीजी ने माना था, न नेहरू के मन ने एक पल के लिए इसे स्वीकार किया। लेकिन नेहरू विभाजन के अंग थे, जबकि गांधीजी ने अपने को विभक्त नहीं होने दिया, न किसी विभक्ता के साथ अपने को जुड़ने दिया। दूसरे शब्दों में हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य गांधीजी के लिए सत्य और कर्तव्य बना रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेहरू के साथ उससे उलटा हुआ। संकट बनकर यह हिंदू-मुस्लिम प्रश्न उनको घेरे ही नहीं रहा, उन पर मँडराता रहा और उनके सारे चिंतन और कर्म को चुनौती देता रहा।

यह मूलभूत अंतर है और इसको पहचानने की ज़रूरत है। गांधीजी नीति और नैतिकता की भूमिका से इस प्रश्न की ओर बढ़ते थे। इसलिए उस संबंध में उनका अधिकार अक्षुण्ण और अखण्ड रहता था। नेहरू की भूमिका राजनैतिक हो जाती थी और उसमें की शक्ति चाहे अनचाहे ही हो, मेल हो जाता था। उससे प्रश्न उलझता था और उसमें पेच पड़ जाते थे। हृदय की भूमिका रह नहीं जाती थी और अस्मिताओं की सतह पर सवाल उतर आता था। हृदय-परिवर्तन की जगह कुछ हार-जीत का वातावरण बनता और परिणाम तनाव होता था।

नेहरू अपने जीवन के आरंभ से ही मानो गांधी के प्रभाव में आ गये थे। उन्हीं से उन्होंने सार्वजनिक प्रवृत्ति की शिक्षा और दीक्षा पाई। उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा गांधीजी के अनोखे व्यक्तित्व और चरित्र का। लेकिन गांधी के ईश्वर का, प्रार्थना का और उनकी धर्म चिंतना का स्थान वहाँ नहीं बन सका। मस्तिष्क को जो संस्कार उनकी विलायती शिक्षा-दीक्षा ने दिया था वह किसी तरह घुल नहीं सका। फिर भी उससे एकदम भिन्न प्रकार का आदर्शवाद गांधी के संपर्क के कारण उनमें घर कर बैठा। नैतिक मूल्यों की आस्था और उनकी आवश्यकता के बारे में नेहरू उस तरह उदासीन फिर नहीं रह सकते थे और न ही रहे कि जितने पश्चिम के राजनेता रह जाते थे। किंतु यह हृदय का प्रश्न था—मस्तिष्क को जो संसार पश्चिम से मिला वह तो रहता ही चला गया।

इन परस्पर विपरीत वृत्तियों के सामंजस्य और असामंजस्य के परिणामस्वरूप नेहरू-युग ने अपना निर्माण पाया। देश ने तरक्की की और कई बाँध और कारखाने ऐसे खड़े हुए कि एशिया में उनका सानी नहीं है। वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति में वह एशिया में सबसे आगे आ गया। जापान का यदि अपवाद हो तो हो, किंतु जापान की औद्योगिक प्रगति का आरंभ आधी सदी से भी अधिक पहले हो चुका था। इस सब प्रगति की दिशा में गांधी-विचार नहीं जा सकता था। यह विशेषता थी तो नेहरू-नीति की विशेषता थी कि इस संक्षिप्त नेहरू-युग में देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से एकदम पिछड़ी हुई अवस्था से मानो औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में आ गया। उसकी अंतर्राष्ट्रीय साख बढ़ी। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों और प्रवृत्तियों में इसने अधिकारपूर्ण योग दिया और भाग लिया।

लेकिन दूसरी ओर नये प्रश्न भी पैदा होते चले गये। भारत हिमालय और तिब्बत से सुरक्षित था, लेकिन तिब्बत बीच में से एकाएक खत्म हो गया और हिमालय सुरक्षा के बजाय संकट का चिह्न बन गया। पाकिस्तान की ओर से उठने वाले सवाल बढ़ते ही चले गये। चीज़ों की कीमतें बढ़ीं और 10 से 20 गुनी तक पहुँच गईं। अमीर-गरीब के बीच का फ़ासला बेहद चौड़ा हो गया। शहरों में आलीशान मकान बने और गाँव उजड़ते चले गये। रोज़गार बढ़े, उससे ज़्यादा बेरोजगारी बढ़ गई। सरकारी मुलाज़िमों की तादाद कई गुनी हो गई और इंतजाम कई गुना ढीला होता चला गया। रुपये का चलन तेज़ हुआ और उसी परिमाण में भ्रष्टाचार बढ़ा। राजनीतिक दल उतने ही सिद्धांतहीन और चरित्रहीन बनते गये कि जितना उनका ध्यान चुनाव पर केंद्रित हुआ।

नेहरू-युग इन दोनों प्रकार की गतियों में सबसे विशिष्ट माना जायेगा। मानना यह भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा कि नेहरू के व्यक्तित्व की और नेतृत्व की ही यह प्रतिच्छवि थी। निस्संदेह अत्यंत कर्मठ और प्रखर वह व्यक्ति था। दिल से उदार, उतना ही दिमाग से संपन्न, लेकिन जैसे दिल और दिमाग के बीच कहीं कोई कड़ी अनजुड़ी रह गई हो। उनकी उदारता और सहृदयता का लाभ बाहर के मित्रों ने ही नहीं उठाया, बल्कि देश के भीतर के मित्रों ने भी पूरा-पूरा उठाया। अपने काम में वे चौकस थे और अपने को ज़रा भी आराम नहीं देते थे, लेकिन अपनी उदारता में दोष पर दुर्लक्ष, अवश्य कर जाते थे। जोर डालकर या आजिज़ी जताकर लाखों-करोड़ों की रकम उनसे मंज़ूर करा ली जा सकती थी। वह सदा स्वयं सुभीते की स्थिति में रहे थे, इसलिए लगभग सबको वह संपन्न और सुविधाजनक स्थिति में देखना पसंद कर सकते थे। चुनांचे सामाजिक शालीनता का मूल्य उनसे बढ़ा, सीधी-सादी सादगी की कीमत किसी कदर घटी। मूल्य चीज़ से हटकर चतुराई पर आ गये और अंतरंग से बहिरंग की अधिक पूछ होने लगी।

ऐसा लगता है कि कर्म और स्वप्न की एकता गांधी नेहरू को नहीं दे पाये। परिणाम यह हुआ कि नेहरू-युग में काम-धाम खूब हुआ। जीवन में वेग आया और एक-पर-एक आने वाली पंचवर्षीय योजनाओं में उत्पादन बढ़ा और निर्यात बढ़ा, लेकिन इस सब सफलता के साथ-साथ ऐसा भी लगा जैसे कि अपने स्वप्न से देश दूर होता जा रहा है—डेमोक्रेसी है, सोशलिज़्म भी हो रहा है, डेमोक्रेटिक सोशलिज़्म की तरफ निश्चय ही बढ़ा जा रहा है। पर रामराज्य कहाँ है? क्या वह कहीं आस-पास दीखता है? निश्चय ही तरक्की है और सबको यह मानना पड़ता है। पर जैसे सवाल मन में बना रहता है कि यह सब तरक्की है तो उसकी दिशा क्या है? लक्ष्य क्या है? तरक्की जो की जा रही है वह आखिर क्या पाने के लिए?

और ठीक यही चीज़ थी, जो लगता है, अंत की ओर खुद नेहरू में चुभन देकर उठने लग गई थी। रह-रहकर उन्हें नैतिक मूल्यों की और उन पर बल देने की आवश्यकता की याद आती रही। लेकिन नैतिक के समक्ष निरे आर्थिक का जो वेग उन्होंने खोल दिया था मानो उसमें फुरसत नहीं मिल पाती थी। और बहाव खुल ही गया था—अपनी गति में सब-कुछ को डुबोता हुआ वह बढ़ता चला जा रहा था। आशा होती थी कि प्रधानमंत्री नेहरू में क्या नेता नेहरू कभी जगेगा—और प्रवाह को मूल से पकड़कर उसे नया मोड़, नई दिशा दे सकेगा? संशय नहीं कि उस मोड़ की आवश्यकता थी, जिससे लक्ष्य स्पष्ट हो और प्रवृत्तियों की विविधता में दिशा की एकता रहे। दिल और दिमाग दो तरफ़ न चलें, बल्कि दोनों आत्मा की एक आवाज़ को सुनें और दोनों तदाधीन होकर चलना स्वीकार करें।

किंतु नेहरू अपना योग पूरा कर गये। निश्चय ही ऐतिहासिक उनका काम था और जिन संकटों और परिस्थितियों से उन्हें सामना लेना पड़ा, उनमें कोई भी दूसरा व्यक्ति टूट जा सकता था। नेहरू की यह पारदर्शी निर्मलता और निस्स्वार्थता थी कि वह देश की नाव को उन सब भंवरों में से पार खेते ले आये। इतिहास के कम ही ऐसे नायक पुरुष होंगे जिनको इतनी कठिन परीक्षा में से गुज़रना पड़ा हो। घर की समस्याएँ कम न थीं और दूसरा कोई होता तो उनमें घिर जाता। नेहरू की दृष्टि पार देखती रही और प्रशासन में घिरकर भी कविता उनमें मंद नहीं हुई। उनकी वसीयत कविता ही नहीं तो और क्या है? उसमें कहीं भी लोकाकांक्षा की झलक नहीं है। अपने को भविष्य में अमर कर जाने की लालसा नहीं है। उसमें सख्त ताकीद है कि उनका अवशेष कुछ शेष न छोड़ा जाये—उनकी आखिरी राख को भारत के खेतों में बिखेर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाये कि उसकी मिट्टी में रचकर और सिंचकर वह यहाँ की हरियाली में खिलें और महकें। यह बहुत-कुछ असंभवनीय संयोग ही है। राजनेता उद्दाम होता है। प्रेम से अधिक उसमें प्रतिस्पर्द्धा का बल देता है। वह धरती पर प्रभुता का भोग करता है और समय के आयाम के लिए मानो खो जाता है। कारण, काल को चुनौती देता हुआ जो जीता रहता है वह तो प्रेम है—प्रेम की वाणी, प्रेम की कृति। शेष तो नश्वर है और क्षण के साथ बीत जाता है। नेहरू राजनेताओं में मानो अपवाद हैं। प्रेम का स्वर उनमें सर्वथा मंद या मूर्च्छित नहीं हुआ और उनकी रचनाओं में से उसकी मीठी महक मिले बिना न रहेगी। रोज़ के झगड़े-झमेलों के पार नेहरू की निगाह को कोई उधर से नहीं फेर सका कि जहाँ मानव-जाति एक होगी और मनुष्य सब एक-दूसरे के लिए होंगे, कोई किसी के लिए खतरा नहीं रहेगा, बल्कि आश्वासन बनेगा।

भारत के तमाम इतिहास में इतने विशाल प्रदेश पर व्यवस्थित शासन करने वाले नेहरू के अलावा दो महापुरुषों के ही नाम आते हैं—एक अशोक, दूसरे अकबर। किंतु ये दोनों ही सम्राट् थे। नेहरू वह हैं कि जिन्होंने सम्राट् बनने से इंकार किया और जो आग्रहपूर्वक अंत तक एक इंसान, सामान्य इंसान की हैसियत में अपने को बनाये रहे।

उनका सानी दूसरा नहीं मिलेगा। क्या देश में, क्या देश से बाहर। जैसे कि उन परिस्थितियों की समता और तुलना भी कहीं और नहीं मिल सकती। लेकिन जो आता है वह जाता है और पीछे की पीढ़ियों पर अपना भार और आभार छोड़ जाता है। भारत ने गांधी को पाया, जिनके नेतृत्व में उसने ऐसी अनोखी पद्धति से स्वराज्य प्राप्त किया कि सारा मानव-इतिहास उससे जगमगाता रहेगा। स्वतंत्र भारत ब्रिटेन के मित्र के रूप में उठा, जो अब तक के इतिहास के क्रम को देखते सर्वथा अनहोनी घटना है। नेहरू स्वतंत्र भारत की ओर से विश्व को गांधीजी की ही देन थे। आशय यह नहीं कि वह गांधीजी की अनुकृति थे, उस रूप में वह सर्वथा मौलिक और स्वतंत्र व्यक्तित्व थे। किंतु गांधीजी की भाँति उनका लक्ष्य और उनका अंतः स्वभाव विश्वजनीन था और दोनों का प्रभाव विश्वशांति की दिशा में था। इस विशिष्ट परंपरा की थाती अब आई है उस कांग्रेस संस्था पर, जिसके द्वारा इन दोनों विभूति-पुरुषों ने काम किया। यह सबके लिए विस्मय और संतोष की बात हुई कि कांग्रेस ने एकमत से अपने नेता का निर्वाचन किया है। यदि इसी कुशलता और उदारता का परिचय कांग्रेस ने अंतर्दलीय क्षेत्र में भी दिया तो देश में उस भावात्मक एकता का बीज पड़ सकेगा, जिसकी बहुत आवश्यकता है। विकासपूर्वक हम निर्दलीय लोकतंत्र तक भी पहुँच सकते हैं। ऐसा कुछ यदि भारतवर्ष संभव करके दिखा सका तो गांधीजी से आरंभ हुई परंपरा सफल हुई मानी जा सकती है। आशा रखनी चाहिए कि कांग्रेस के मतिमान बंधु उस ऊँचाई को कल्पना में लाने में समर्थ हो सकेंगे तभी अपने इन उल्लेखनीय पूर्वजों के प्रति उन्हें उऋणता मिली मानी जा सकेगी।

120415

जुलाई, '64.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GD[illegible] [illegible] DEPARTMENT	
[illegible]	Date
[illegible]	17-3-2001
[illegible]	[illegible]
[illegible]	8-5-2001
[illegible]	[illegible]
Library	[illegible] 5/6/01
L[illegible]	15-6-2001
Any other	8-5-2001
Checked	[illegible]

Recommanded By [illegible]

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र कुमार
का बहुप्रशंसित व बहुचर्चित ग्रन्थ

जैनेन्द्र जी के तत्वदर्शन की प्रगल्भता, उनके हृदय का सौहार्द और उनकी वस्तुनिष्ठा तथा वैज्ञानिकता का प्रत्यय इसमें प्रकट हुआ है। महात्मा टाल्स्टाय ने अपना 'कन्फैशन ऑफ फेथ' लिखा है। जार्ज बनार्ड शॉ ने 'बैक टु मेथ्युसैला' के 'इपिलाग' में, एच. जी. वेल्स ने 'फर्स्ट अण्ड लास्ट थिंग्स्' में और सामरसेट माम ने 'समिंग अप' में अपनी-अपनी जीवन-निष्ठा का निवेदन किया है। मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ, सिर्फ मिसालें दे रहा हूँ। यह ग्रन्थ जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन है।

—दादा धर्माधिकारी

यह कृति विश्व मंच पर स्थान पाने योग्य है। इसमें भारतीय प्रतिभा का खुला हुआ चक्षु है।

—डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

विचार और दर्शन के क्षेत्र में कहना चाहिए कि पश्चिम के बनार्ड शॉ और बर्ट्रेण्ड रस्सेल की पूर्ति भारत में अकेले जैनेन्द्र कर रहे हैं।

—मुनि नगराज

संसार और मानव जीवन की समस्याओं पर उन मूल्यों के प्रयोग का प्रयास है जिनके लिए गांधीजी जिये और जिनके लिए उन्होंने कार्य किया। यह प्रयास स्तुत्य है।

—मोरारजी देसाई

यह ग्रन्थ चिरन्तन मूल्यों के अध्ययन में सहायक होगा। हिन्दी में इस शैली से लिखा हुआ इतना विशाल ग्रन्थ मेरी जानकारी में दूसरा नहीं है।

—डॉ. विजयेन्द्र स्नातक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वोदय प्रकाशन
7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110 001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar